श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति




-उद्देश्य-

सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार


णमो णाणस्स



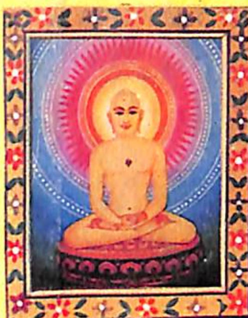


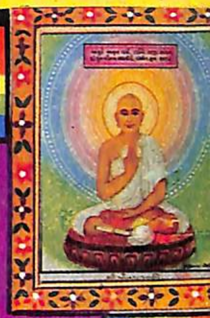














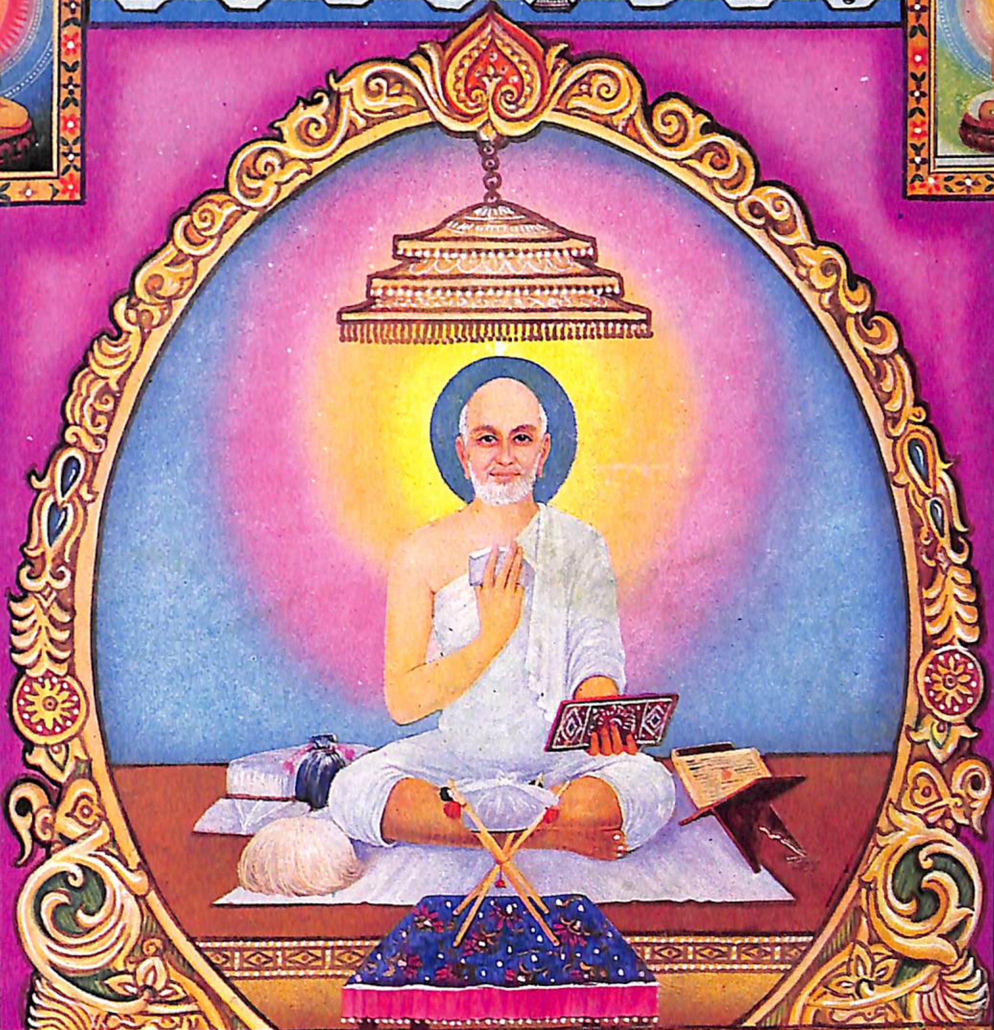










श्री उमास्वातिजी

विरचितं

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्

तस्योपरि

सुबोधिका टीका तथा हिन्दी विवेचनामृत

— कर्त्ता —

आचार्य श्री विजय सुशील सूरि :



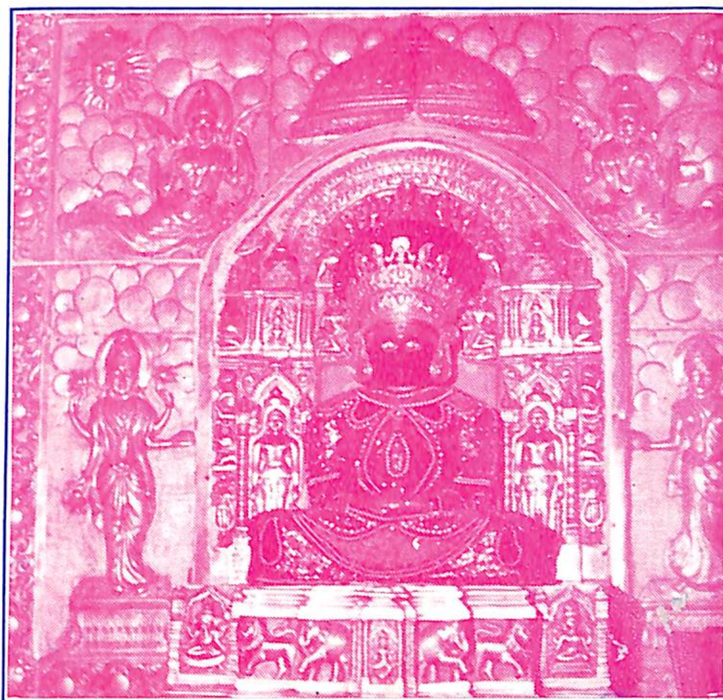


तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

श्री नाकोड़ा जी महातीर्थ में

वि.सं. २०५० के भव्य पावन चातुर्मास काल में राजस्थान दीपक **परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब** के ७७ वें जन्म दिवस के पुण्य अवसर पर जिनभक्तिस्वरुप ११ महापूजन-वरघोड़े युक्त एकादशान्हिका महोत्सव एवं पू. गुरुदेव का गुणानुवाद व ग्रन्थ विमोचन समारोह २० सितम्बर ९३ से ३० सितम्बर ९३ तक सुसंपन्न हुआ।

विश्ववत्सल-महाप्रभावशाली-पुरुषादानीय



।। श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ भगवान ।।

परम पूज्य श्री सुशील गुरुदेव का जन्म दिवस भाद्रपद शुक्ल-१२, सोमवार २७ सितम्बर ९३ के शुभ दिन जैन समाज रत्न श्रेष्ठिवर्य श्री श्रेणिक भाई कस्तूर भाई (अध्यक्ष शेठ आणंदजी कल्याणद जी की पेढ़ी) के करकमलों से श्री तत्त्वार्थाधिगम् सूत्रम् ग्रंथ का विमोचन समारोह संपन्न हुआ।



पूज्य श्री सुशील गुरुदेव को ग्रंथ विमोचन कर समर्पण करते हुए श्री श्रेणिक भाई के. शाह

त्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री
त्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

卐 श्रीनेमि-लावण्य-दक्ष-सुशील ग्रन्थमालारत्न ८१ वाँ 卐

पूर्वधर-परमर्षि-सुप्रसिद्ध
श्रीउमास्वातिवाचक-प्रवरेण
विरचितम्

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

[प्रथमोऽध्यायः]

— तस्योपरि —

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-महाप्रभावशालि-परम-पूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां** दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां** प्रधानपट्टधर-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न-परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वराणां** सुप्रसिद्धपट्टधर-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषणेतिपदसमलङ्कृतेन

आचार्यश्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा

– विरचिता –

'सुबोधिका टीका' एवं तस्य सरल हिन्दीभाषायां **'विवेचनं'**





❀ प्रकाशक ❀

श्री सुशील साहित्य-प्रकाशन समिति

C/o संघवी श्री गुणदयालचन्द भण्डारी
राइका बाग, मु. जोधपुर (राजस्थान)

❁ सम्पादकः ❁

जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न-तीर्थप्रभावक-
राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक-
परमपूज्य आचार्यदेव
श्रीमद्विजयसुशीलसूरिः



卐 卐 卐

❁ सत्प्रेरकः ❁

पूज्यवाचकश्रीविनोदविजयजीगणिवर्यः
तथा
पूज्यपंन्यासश्रीजिनोत्तम-
विजयजी-गणिवर्यः ।



श्रीवीर सं. २५१८ | विक्रम सं. २०४८ | नेमि सं. ४३
प्रतियाँ १००० | प्रथमावृत्तिः | मूल्यम्---२५) रूप्यकाणि

卐 द्रव्यसहायकः 卐

अष्टोत्तरशतग्रन्थसर्जक-पञ्चप्रस्थानमयसूरिमन्त्रसमाराधक-एकशतैकजिनमन्दिर-प्रतिष्ठाकारक – परमपूज्याचार्यदेव – श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वराणां सदुपदेशात् द्रव्यसहायकः करमावास (धर्मावास) श्रीश्वेताम्बरजैनसंघः [राजस्थान]

卐 प्राप्ति-स्थानम् 卐

[१]

आचार्यश्री सुशीलसूरि जैनज्ञानमन्दिर
शान्तिनगर, सिरोही (राजस्थान)

[२]

श्री नेमिनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ
अम्बाजीनगर, फालना (राजस्थान)

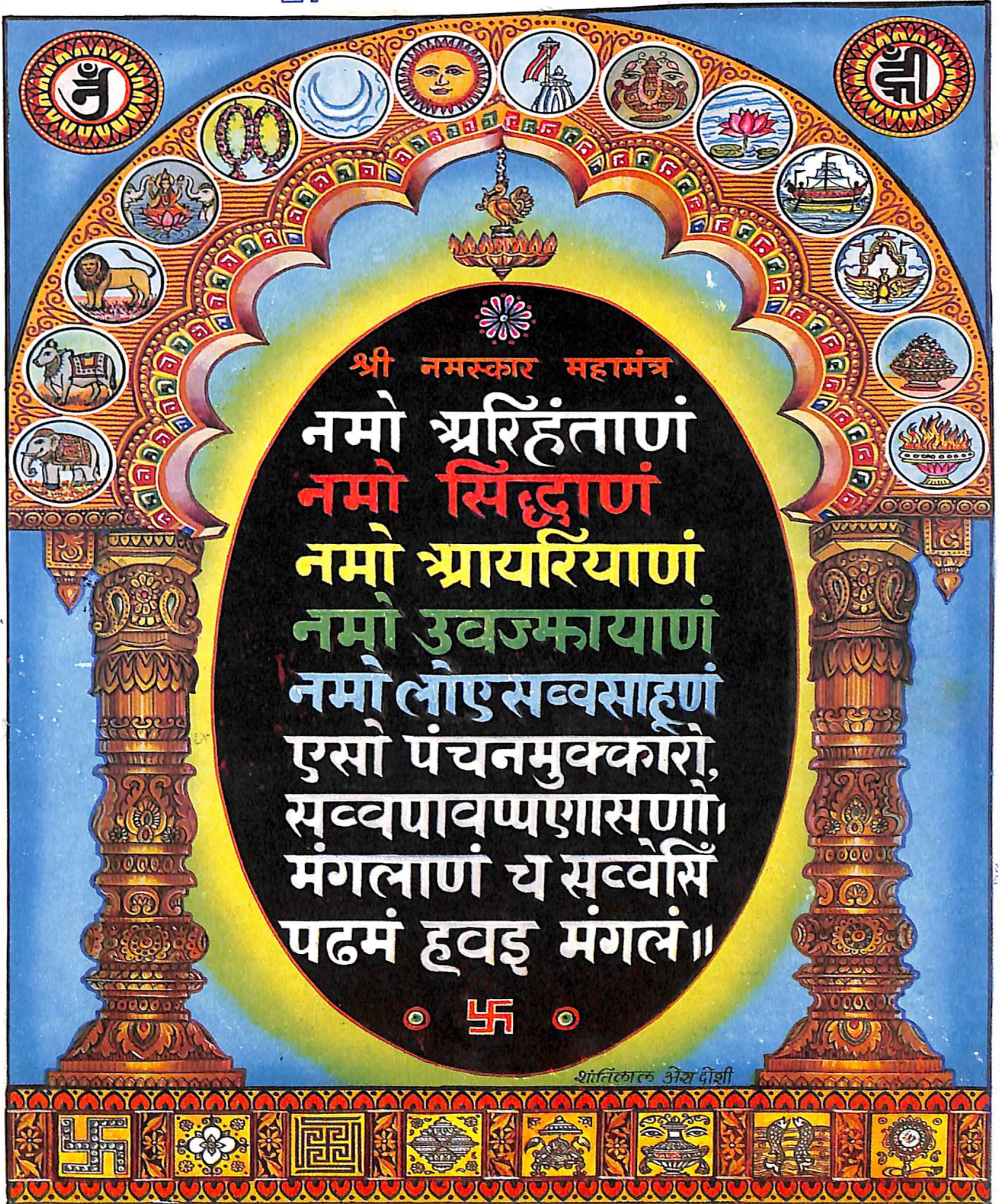
[३]

श्री करमावास जैनसंघ पेढ़ी, करमावास, (राजस्थान)

❁ मुद्रक ❁

 २१४३५ **ताज प्रिन्टर्स**, जोधपुर (राजस्थान)  २१८५३

श्री नवकार महामन्त्र



भावपूर्ण कोटिशः वन्दना हो !

॥ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री करमावास (धर्मावास) नगर में

राजस्थानदीपक परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब की शुभ निश्रा में वि. सं. २०४७ माघ शुक्ला-५ (वसन्त पंचमी) सोमवार २१ जनवरी, १९९१ के शुभ दिन

श्री पार्श्वनाथ जिनमन्दिर में सम्पन्न

श्री अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव

की पावन स्मृति में

श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ

करमावास (जि. बाड़मेर-राज.)

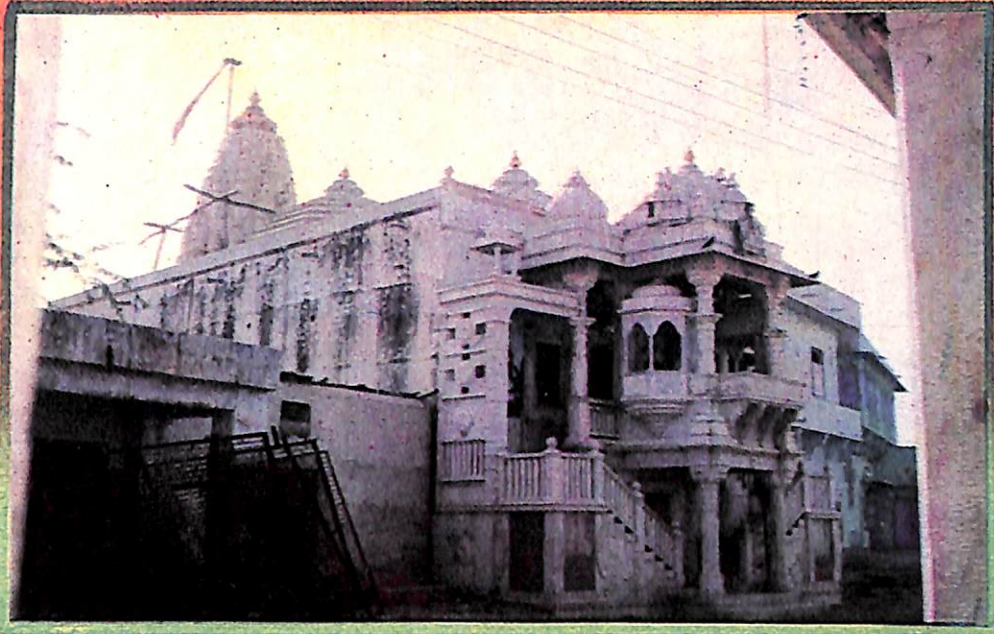
की तरफ से सुन्दर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।

卐

हम संघ एवं सभी कार्यकर्त्ताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

—ट्रस्टीगण

श्री सु. सा. प्र. समिति, जोधपुर

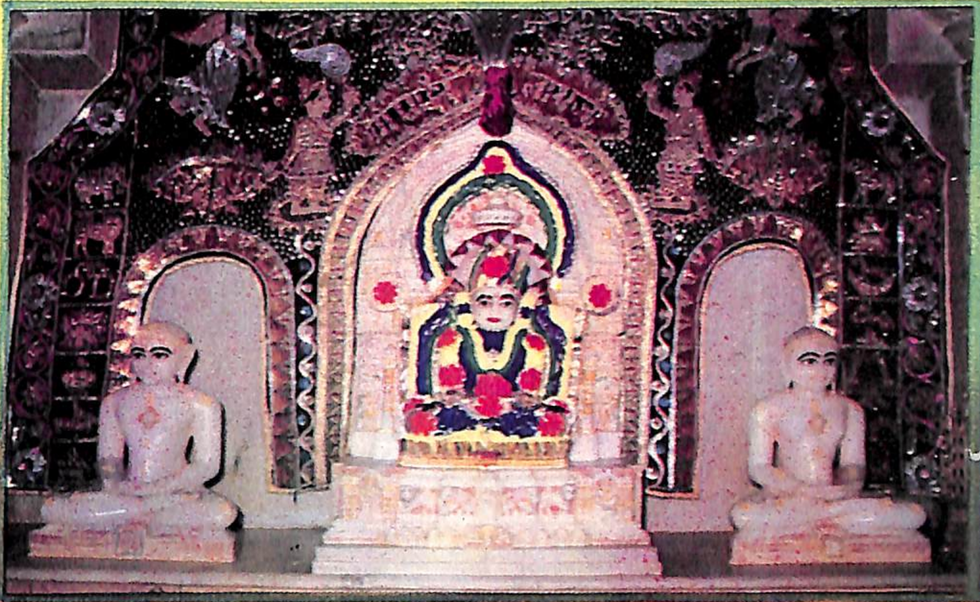




श्री पार्श्वनाथ जिन मन्दिर, करमावास



पुरुषादानीय 23वें तीर्थंकर



श्री पार्श्वनाथ भगवान

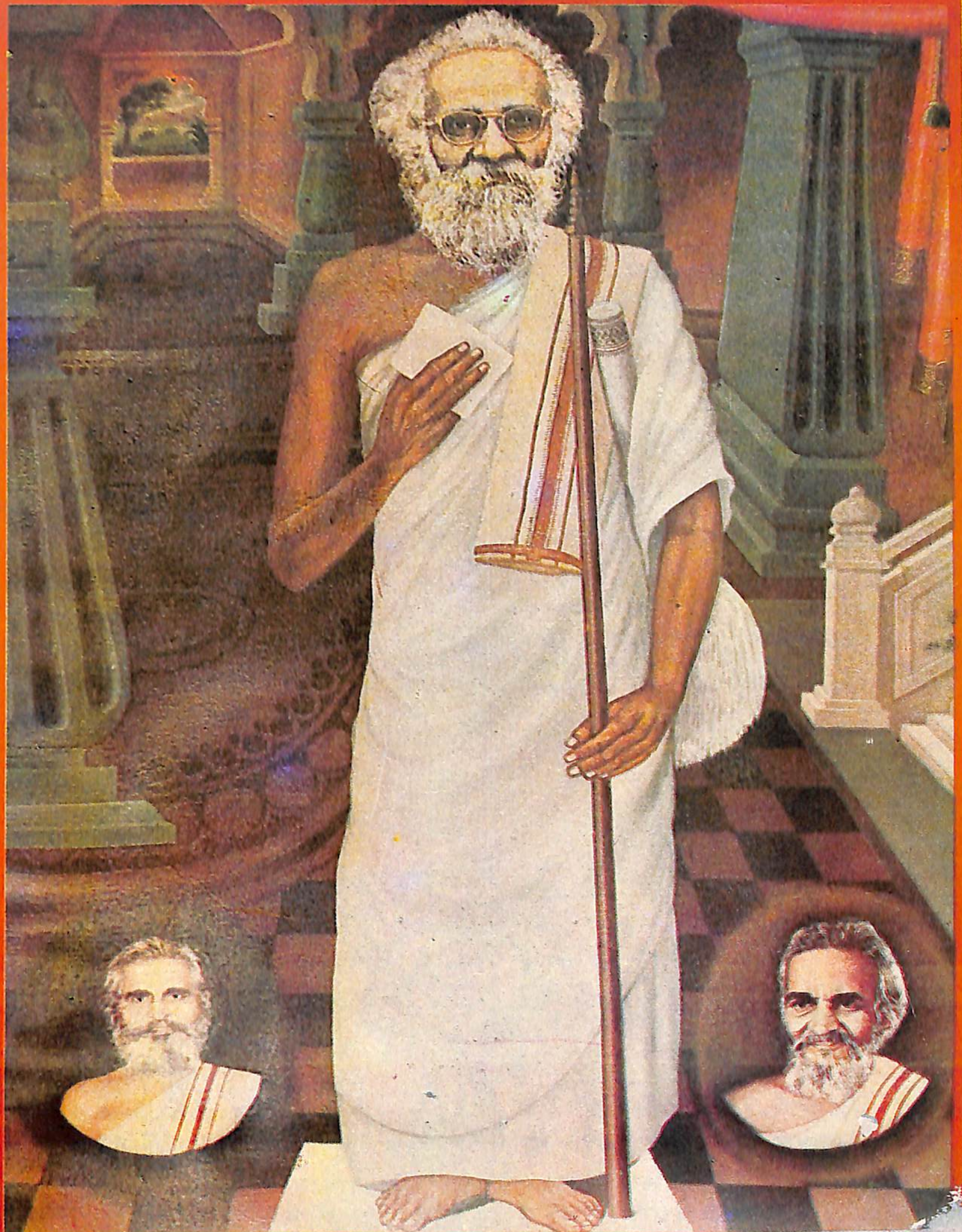
शासन सम्राट् तपागच्छाधिपति



परम पूज्य आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजय नेमि सूरीश्वरजी महाराज साहब

शासन के साम्राज्य में, तपे सूर्य सा तेज । तीर्थोद्धार किये कई, सोकर सूल की सेज ॥
धर्मधुरन्धर सद्गुरू, मंगलमय है नाम । नेमिसूरीश्वर को करूँ वन्दन आठों याम ॥

साहित्यसम्राट्



परम पूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वरजी महाराज साहब

साहित्य के सम्राट हो, शास्त्रविशारद जान । स्वय शारदा ने दिया, जैसे गुरू को ज्ञान ।
व्याकरण--वाचस्पति, काव्य कला अभिराम । श्री लावण्य सूरीश्वरा, वन्दन आठों याम ॥

धर्म प्रभावक - कवि दिवाकर



परम पूज्य आचार्य देवेश श्रीमद् विजयदक्ष सूरीश्वर जी महाराज साहब

शब्दकोश के शहंशाह, सरिता शास्त्र समान । कविदिवाकर ने किया, काव्यशास्त्र का पान ।।
ग्रन्थों की रचना में राचें, सरस्वती के धाम । दक्ष सूरीश्वर को करूँ, वंदन आठों याम ।।

卐 स...म...र्प...ण 卐

विश्ववन्द्य-विश्वविभु-चरमतीर्थंकर श्रमणभगवान महावीर परमात्मा के विद्यमान जैनशासन में तथा उन्हीं के पंचम गणधर-श्रुतकेवली श्रीसुधर्मा-स्वामीजी की सुविहित पट्टपरम्परा के ७४ वें पाटे आये हुए शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति – तपोगच्छाधिपति–भारतीयभव्यविभूति–महान्प्रभावशालि – अखण्डब्रह्मतेजोमूर्त्ति–चिरन्तनयुगप्रधानकल्प - वचनसिद्धमहापुरुष-श्रीकदम्बगिरि-प्रमुखानेकप्राचीनतीर्थोद्धारक - श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेकनृपतिप्रतिबोधक - प्रातः-स्मरणीय-परमोपकारी-परमगुरुदेव-परमपूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद्विजय-नेमिसूरीश्वरजी म. श्री** को तथा ७५ वें पाटे आये हुए उन्हीं के दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट् - व्याकरणवाचस्पति - शास्त्रविशारद - कविरत्न–साधिकसप्तलक्ष श्लोकप्रमाणनूतन-संस्कृतसाहित्यसर्जक - परमशासनप्रभावक - निरुपमव्याख्याना-मृतवर्षी – बालब्रह्मचारी – परमोपकारी – प्रगुरुदेव – परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरजी म. श्री** को एवं उन्हीं के ७६ वें पाटे आये हुए उन्हीं के प्रधानपट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद - कविदिवाकर - व्याकरणरत्न-परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरजी** गुरु महाराजश्री को कृतज्ञभाव से यह **'अनुपम ग्रन्थ'** सविनय....सादर....सबहुमान **समर्पित**

–आचार्यविजयसुशीलसूरि



प्रास्ताविकम्

संसारोऽयं जन्ममरणस्वरूप-संसरणभवान्तरभ्रमणायाः विन्ध्याटवीव घनतमिस्रावृत्तादर्शनतत्वा भ्रमणाटवी। कर्मक्लेशकर्दमानुविद्धेऽस्मिन् जगतीच्छन्ति सर्वे कर्मक्लेशकर्दमैः पारं मोक्षायार्हनिशम् गन्तुम्। कथं निवृत्तिः दुखैः? कथं प्रवृत्तिः सुखेषु च? जिज्ञासयानया तत्त्वदर्शिनः मथनन्ति दर्शनागमसागरं तत्त्वामृतप्राप्तये त्रिविष्टपैरिवात्र।

श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरसम्प्रदाये श्रीमदुमास्वातिरपि अजायत महान् वाचकप्रवरः येन तत्त्वचिन्तने कृत्वा भगीरथश्रमश्चाविष्कृतममृतं, भव्यदेवानां कृते मोक्षायात्र। उमास्वातिस्तत्त्वार्थाधिगम-सूत्राणां रचयितासीत्। यो हि वाचकमुख्यशिवश्रीनां प्रशिष्यः शिष्यश्च घोषनन्दिश्रमणस्य। एवञ्च वाचनापेक्षया शिष्यो बभूव मूलनामकवाचकाचार्याणाम्। मूलनामकवाचकाचार्यः महावाचकश्रमणश्रोमुण्डपादस्य शिष्यः आसीत्।

न्यग्रोधिकानगरमपि धन्यं बभूव वाचकश्रीउमास्वातेः जन्मना। स्वगतिः नाम्नः पितापि उमास्वातिः सदृशं पुत्ररत्नं प्राप्य स्वपूर्वपुण्यफलमवापेह। धन्या जाता वात्सीजननी। उमास्वातिः स्वजन्मनाऽलंचकार कौभीषणी गोत्रम् नागरवाचकशाखाञ्च।

स्थाने-स्थाने विहरतोऽयं महापुरुषः कृतगुरुक्रमागतागमाभ्यासः कुसुमपुरनगरे रचयामास ग्रन्थोऽयं तत्त्वार्थाधिगमभाष्यः। ग्रन्थोऽयं रचितवान् स्वान्तसुखाय प्राणिमोक्षाय कल्याणाय च।

तेन महाभागेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेषु स्पष्टीकृतं यज्जीवाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपूर्वकं वैराग्यं यावन्नैवाधिगच्छन्ति संसारशरीरभोगाभ्यां तावन्मोक्षसिद्धिः दुर्लभाः।

सम्यग्दर्शनाभावे ज्ञानवैराग्येऽपि दुष्प्राप्ये। जीवानां जगति क्लेशाः कर्मोदयप्रतिफलानि जायन्ते। जीवानां कृत्स्नं जन्म जगति कर्मक्लेशैरनुविद्धः। भवेच्चानुबन्धपरंपरेति तत्त्वार्थाधिगमे विश्लेषितमस्ति। कर्मक्लेशाभ्यामपरामृष्टावस्था एव सत्स्वरूपं सुखस्य। पातञ्जलयोगदर्शनेऽपि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः विशेषः ईश्वरः" जैनदर्शने तु इदमप्येकान्तिकम् यत् पातञ्जलिना पुरुषजीवं ज्ञानस्वरूपं वा सुखस्वरूपं नैवामन्यत। किन्तु जैनदर्शने तु जीवः ज्ञानस्वरूपश्च सुखस्वरूपश्चापि क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टावस्थायाः धारको विद्यते। निर्दोषमेतदेव सत्यमुपादेयञ्च।

तत्त्वार्थाधिगमे दशाध्यायाः सन्ति येषु विशदीकृतं व्याख्यातञ्च जैनतत्त्वदर्शनम् । तत्त्वार्थाधिगमस्य प्रथमाध्यायस्य संस्कृतहिन्दीभासायां व्याख्यायितोऽयं ग्रन्थः विद्वद्मूर्धन्याचार्यः श्रीविजयसुशीलसूरीश्वर - महोदयैः अतीवोपादेयत्वं धार्यते । जैनदर्शनसाहित्ये शताधिकग्रन्थानां रचयिता श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरः दर्शनशास्त्राणां अतीवमेधावी विद्वान् वर्तते ।

उर्वरीक्रियतेऽनेन भवमरुधराऽखिलमण्डलम् । जिनशासनञ्च स्वतपतेज-व्याख्यान-लेखन-पीयूषधारा जीमूतमिव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरेण प्रथमेऽध्याये मोक्षपुरुषार्थ-सिद्धये निर्दोषप्रवृत्तिश्च तस्या जघन्यमध्यमोत्तरस्वरूपं विशदीकृतमस्ति—

(१) देवपूजनस्यावश्यकता तस्य फलसिद्धिः ।
(२) सम्यग्दर्शनस्य स्वरूपं तथा तत्त्वानां व्यवहारलक्षणानि ।
(३) प्रमाणनयस्वरूपस्य वर्णनम् ।
(४) जिनवचनश्रोतृणां व्याख्यातृणाञ्च फलप्राप्तिः ।
(५) ग्रंथव्याख्यानप्रोत्साहनम् ।
(६) श्रेयमार्गस्योपदेशः सरलसुबोधटीकया विवक्षितः ।

अस्य ग्रंथस्य टीका आचार्यप्रवरेण समयानुकूल-मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणेन महती प्रभावोत्पादका कृता । आचार्यदेवेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसदृशः विलष्टविषयोऽपि सरलरीत्या प्रबोधितः । जनसामान्यबुद्धिरपि जनः तत्त्वविषयं आत्मसात्कतुं शक्नोति ।

अस्मिन् भौतिकयुगे सर्वेऽपि भौतिकैषणाग्रस्ता मिथ्यासुखतृष्णायां व्याकुलाः मृगो जलमिव भ्रमन्ति आत्मशान्तये । आत्मशान्तिस्तु भौतिकसुखेषु असम्भवा । भवाम्भोधिपोतरिवायं ग्रन्थः मोक्षमार्गस्य पाथेयमिव सर्वेषां तत्त्वदर्शनस्य रुचिं प्रवर्धयति । आत्मशान्तिस्तु तत्त्वदर्शनाध्ययनेनैव वर्तते न तु भौतिकशिक्षया । एतादृशी सांसारिकीविभीषिकायां आचार्यमहोदयस्यायं ग्रन्थः संजीवनीवोपयोगित्वं धार्यते संसारिणाम् । ज्ञानजिज्ञासुनां कृते ग्रन्थोऽयं शाश्वतसुखस्य पुण्यपद्धतिरिव मोक्षमार्गं प्रशस्तिकरोति ।

आशासेऽधिगत्य प्रथमोऽध्यायः पाठकाः स्वजीवनं ज्ञानदर्शनचारित्रमयं कृत्वाऽनुभविष्यन्तिअपूर्वशान्तिमिति शुभम् ।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा
बुधवार, १८-३-१९९२
जालोर (राजस्थान)

—**पं. हीरालाल शास्त्री**, एम. ए.
व्याख्याता संस्कृत

卐 पुरो–वचः 卐

भारतीय - वाङ्मयता, निखिलागम - पारावार - निसर्ग-निष्णात-पुनीतानां ज्ञेय-महर्षीणां विद्याविभूति-विभव-विशेषज्ञानां सूत्रकाराणां महती सम्पदामयी-सारगर्भिता-प्रशस्तिर्वरीवर्तते ।

भारतीय वाङ्मयता तपःपूत - महर्षीणां विद्या - विभूतिः श्रीः सुवरीवर्तते । स्वाध्यायनिष्णात-निपुणानां सन्निधिः अस्ति । काले-कालेऽस्मिन् वाङ्मये सूत्रकाराः समभवन् । ये सूत्रकारत्वेन वाङ्मयसेवां कुर्वन्तः स्वयं कृतज्ञाः सुजाताः । सूत्रयुगस्य शुभारम्भो वैदिकवाङ्मयेषु, श्रमणवाङ्मयेषु, बौद्धवाङ्मयेषु परिष्कृतश्चवर्तते ।

निर्ग्रन्थनिगमागमविद् वाचकवरेण्यः श्रीउमास्वातिः स्वनामधन्यः सूत्रकारत्वेन संप्रसिद्धः समभूत् । पाटलीपुत्रपृथिव्यां श्रामण्यभावेन स्वयं समलंकृतवान् । तत्रैव "तत्त्वार्थसूत्रं" रचितवान् । सूत्रमेतत् श्रामण्यपरिभाषां परिष्कर्तुं पर्याप्तम् । अस्य सूत्रस्य निर्ग्रन्थमहाभागैः श्लाघनीया श्लाघा प्रस्तुता । यद्यपि सूत्रकारः स्वयं श्वेताम्बरत्वेन परिचयं स्वोपज्ञभाष्ये दत्तवान् । श्वेताम्बर-निर्ग्रन्थनिगमागमाम्नाये देववाण्यां सूत्रकारत्वेन सर्वप्रथम संबभूव वाचकाग्रणीः प्रमुखः श्री उमास्वाति महाभागः । अयमेव महाभागः श्रीउमास्वातिः प्रायः दिगम्बरपरम्परायां श्रीकुन्दकुन्दमहाशयस्य शिष्यत्वेन श्रीउमास्वामीत्याख्यया प्रचलितः अस्यैव महाविदुषः "श्रीतत्त्वार्थसूत्रं" सर्वप्रशस्तिपात्रं वर्तते ।

"तत्त्वार्थसूत्रस्य" आद्यः सर्वार्थसिद्धिटीकाकारः श्रीपूज्यपाददेवनन्दी महामतिः संजातः । तदनन्तरं तत्त्वार्थस्य तारतम्यदर्शी श्रीअकलंकः प्रमेयविद्याविलक्षणः दिगम्बर-श्रमणशाखासु राजवार्तिककारत्वेन संप्रसिद्धः सुधीः प्रतिष्ठितः । दशम्यां शताब्द्यां विद्याचणः श्रीविद्यानन्दी श्लोकवार्तिककारत्वेन "तत्त्वार्थसूत्रस्य" व्याख्याता जातः । अनेनैव महाशयेन महामीमांसकस्य श्रीकुमारिलमहाभागस्य वैदुष्यं आर्हद्-विद्या-विमर्शदार्शनिक-तुलासु तोलितम् । पुनः श्रुतसागराख्यः निर्वसननिर्ग्रन्थः प्रज्ञापुरुषः श्रीतत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तिकारः समयश्रेण्यां जातः ।

इत्थं दिगम्बरवृन्देषु विबुधसेन-योगीन्द्र-लक्ष्मीदेव-योगदेवाभयनन्दि - प्रमुखाः सुधयः श्रीतत्त्वार्थसूत्रस्य तलस्पर्शिनः संजाताः ।

श्वेताम्बर - वाङ्मये तत्त्वार्थसूत्रमनुसृत्य विविधास्टीकाः विद्यन्ते । अस्यैव सूत्रस्योपरि महामान्य-श्रीउमास्वातिमहाशयस्य स्वोपज्ञं भाष्यं वर्तते । तस्मिन् भाष्यग्रंथे आत्मपरिचयं प्रदत्तवान् स्वयंश्रीवाचकवरेण्यः ।

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ।। १ ।।
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपाद – शिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्य – मूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ।। २ ।।
न्यग्रोधिका – प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सी – सुतेनार्घ्यम् ।। ३ ।।
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागम – विहतमतिं लोकमवलोक्य ।। ४ ।।
इदमुच्चैर्नागर – वाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ।। ५ ।।
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तथोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ।। ६ ।।

श्रीतत्त्वार्थकारः सुतश्चासीत् वात्सीमातुः । स्वातिजनकस्य पुत्रश्च । उच्चनागरीयशाखायाः श्रमणः न्यग्रोधिकायां समुत्पन्नः । गोत्रेण कौभीषणिश्चासीत् । पाटलीपुत्रनगरे रचितवान् सूत्रमिमं ।

श्रामण्यव्रतदाता घोषनन्दी, प्रज्ञापारदर्शी श्रुतशास्त्रे-एकादशाङ्गविदासीत् । विद्यादातृणां गुरुवराणां वाचकविशेषानां मूलशिवश्रीमुण्डपादप्रमुखानां श्लाघनीया परम्परा विद्यते । पुरातनकाले विद्यावंशस्य सौष्ठवं समीचीनं दृश्यते । तत्त्वार्थकारः श्रीउमास्वाति विद्यावंशविशिष्टविज्ञपुरुषः प्रतिभाति ।

तत्त्वार्थस्य टीकाकारः "श्री सिद्धसेनगणि" "गन्धहस्ती" इत्याख्यया प्रसिद्धिमलभत् । अयमेव सिद्धसेनगणि मल्लवारिनः नयचक्रग्रन्थस्य टीकाकारस्य श्रीसिद्धसूरस्यान्वयेऽभूत् ।

अपरश्च टीकाकारः श्रीयाकिनीसूनुः श्रीहरिभद्र-महाभागः, अयमेव हरिभद्रसूरिः तत्त्वार्थस्य लघुवृत्तिटीकां पूर्णां न चकार । यशोभद्रेण पूर्णा कृता ।

उपांगटीकाकारेण श्रीमलयगिरिणा "प्रज्ञापना"वृत्तौ चोक्तम्–तच्चाप्राप्तकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयं ।।

सम्प्रति मलयगिरिमहाशयस्य टीका न समुपलभ्यते। महामहोपाध्यायेन श्रीयशोविजयवाचकेन तत्त्वार्थ - भाष्यस्य टीका रचितासीत्। सा टीकापि स्खलिता वर्तते।

तत्त्वार्थस्य रचनाशैली रम्या हृदयंगमा च, अस्यैव ग्रन्थस्य सौम्यस्वरूपेण तपस्विना श्रीसुशीलसूरिमहाभागेन टीका नवीना रचिता। अयमेव सूरिमहोदयः स्वाध्यायनिष्ठः सुज्ञः सर्वथा तपसि ज्ञाने च नितरां निमग्नः वर्तते।

सूरिपुंगवानां श्रुतशास्त्रीयां भक्ति पुरस्कृत्य मया किमपि लिखितमस्ति। नितरां शास्त्ररसस्नातनिष्णाताः भूत्वा भूयोभूयः स्वाध्यायसमुत्कर्षं समुन्नतं कर्तुं लेखनीं च लोकोत्तरहितैषिणीं विदधातुं विधिज्ञाः सूरिवराः सुतरां भूयासुः। आत्मलेखना-चात्मलेखिनी स्वात्महस्तगता सुशोभते सर्वथा सर्वेषां।

इदं तत्त्वार्थसूत्रं श्रुतसिद्धान्तनिष्पन्नं, संसारक्षयकारणं, मुमुक्षूणां चात्म-पथपाथेयं सदार्हत्पादपीयूषं ज्ञानदर्शनचारित्रलालिते स्वाध्याय-तपः-समाधिविभूषितं, प्रमेयप्रकाशपुंजं पुरातनीपावनी-देववाणी-दुन्दुभिरूपं, शब्दब्रह्मपांचजन्यं, गुरुसेवा-समुपलब्धसौष्ठवतन्यं, यः कश्चित्, समुचितां श्रमणसंस्कृतिं ज्ञातुंकामः सः शुद्धचेतसा च सुमेधया सततं पठेत्-पाठयेत् चैनं सूत्रं।

सूत्रमेतत् शास्त्रज्ञनिष्ठानां नियामकं, निर्ग्रन्थसिद्धान्तसारकलितं निगमागमन्याय-निर्मथितम्। विद्याविवेक-शौर्य-धैर्य-धनम्। नित्यं सेव्यं ध्येयं परिशीलनीयं च।

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा विद्यावता सूत्रकारेण आत्मनः स्मृतिपटलात् पटीयांसं शिक्षासंस्कारसमभिरूढं गोत्रगौरवं न त्यक्तं। यद्यपि जातिकुलवित्तमदरहितं श्रामण्यं स्वीकृतं।

सूत्रकारस्य महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते—यथा—"निःशल्यो व्रती" या व्रतत्ववृत्तिता सा निःशल्यतायुक्ता स्यात्। यस्य शल्यत्वं छिन्नं तस्य श्रामण्यं संसिद्धं। इत्थमनेकैः सूत्रैः स्वात्मनः सुधीत्वं साधितं ख्यापितं च। इति निवेदयति—

महाशिवरात्रि :
२ मार्च, १९९२
हरजी

श्रीविद्यासाधकः
पं. गोविन्दरामः व्यासः
हरजी-वास्तव्यः

ऋ ण स्वी का र

[१]

जगत् में जिनका अनुपम पुण्यप्रभावसाम्राज्य सदा विजयवन्त प्रवर्त्त रहा है ऐसे जैनशासन के सम्राट् परमोपकारी प्रातःस्मरणीय परमगुरुदेव परमपूज्य आचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा.** का मैं परम आभारी हूँ जिनकी पावन निश्रा में वि. सं. १९८८ महा सुद पंचमी (वसन्त पञ्चमी) के दिन गुजरात के श्री सेरीसा तीर्थ में मेरी उपस्थापना यानी **बड़ी दीक्षा** महोत्सव पूर्वक हुई थी। तथा जिन्होंने संयम के पवित्र पथ में प्रतिदिन मेरी आत्मा को ज्ञान-ध्यानादिक में और आध्यात्मिक प्रगति-प्रवृत्ति में आगे बढ़ाया। आज भी मेरे जीवन के प्रत्येक कार्य में अदृश्य रूप में उन्हीं की असीम कृपा काम कर रही है और मुझ पर सदा शुभाशिष बरसा रही है।

[२]

परमपूज्य शासनसम्राट् के दिव्यपट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतनसंस्कृतसाहित्यसर्जक-परमशासन-प्रभावक-परमोपकारी-प्रगुरुदेव-परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वरजी म.सा.** का मैं चिर ऋणी हूँ जिनकी शुभनिश्रा में वि. सं. १९८८ कार्त्तिक (मगसर) बद द्वितीया के दिन मेवाड़ के श्री उदयपुर नगर में मेरी भागवती-दीक्षा हुई थी। तथा वि.सं. २००७ कार्त्तिक (मगसर) वद ६ के दिन गुजरात-सौराष्ट्र के श्री वेरावल नगर में महामहोत्सवपूर्वक गणिपदवी पू. मुनिप्रवर श्री दक्षविजयजी गुरु महाराज के साथ मेरी भी हुई थी। वि. सं. २००७ वैशाख सुद ३ (अक्षयतृतीया) के दिन राजनगर-अहमदाबाद में परमपूज्य शासनसम्राट् समुदाय के—

(१) प. पू. आ. श्रीमद् विजय दर्शनसूरीश्वरजी म. सा.
(२) प. पू. आ. श्रीमद् विजय उदयसूरीश्वरजी म. सा.
(३) प. पू. आ. श्रीमद् विजय नन्दनसूरीश्वरजी म. सा.

(४) प. पू. आ. श्रीमद् विजय विज्ञानसूरीश्वरजी म. सा.
(५) प. पू. आ. श्रीमद् विजय पद्मसूरीश्वरजी म. सा.
(६) प. पू. आ. श्रीमद् विजय अमृतसूरीश्वरजी म. सा.
(७) प. पू. आ. श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा.
(८) प. पू. आ. श्रीमद् विजय कस्तूरसूरीश्वरजी म. सा.

उपर्युक्त आठ आचार्य-भगवन्तों के सान्निध्य में भव्य समारोह में १५ गणिवरों को पंन्यास पद प्रदान किया गया था। उनमें गणिवर्य श्री दक्षविजयजी महाराज भी थे और मैं भी सम्मिलित था।

मेरे संयमी जीवन की नौका के सुकानी ऐसे परमोपकारी परमपूज्य प्रगुरुदेव आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा. ने मुझे ४५ आगमों के योगोद्वहन विधिपूर्वक कराये, व्याकरण-न्याय-साहित्य-आगमशास्त्रादिक का अध्ययन कराया, वि. सं. १९८८ साल से लगाकर वि. सं २०२० फागण (चैत्र) वद ९ के दिन (खिमाड़ा गाँव में पण्डितमरणे समाधिपूर्वक कालधर्म पाकर स्वर्ग सिधाये वहाँ) तक मुझे अपने साथ ही रखा और प्रतिदिन शासनप्रभावना के प्रत्येक प्रतिष्ठादि शुभ कार्यों में प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। आज भी मेरे जीवन के प्रत्येक कार्य में अदृश्यरूपेण उन्हीं की असीम कृपा काम कर रही है और मुझ पर सर्वदा शुभाशिष बरसा रही है।)

[३]

प. पू. साहित्यसम्राट् के प्रधानपट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न-स्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थसर्जक-देशनादक्ष-वड़ीलबन्धु पूज्यपाद आचार्य गुरु महाराज **श्रीमद् विजय दक्षसूरीश्वरजी म. सा.** का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ जिन्होंने वि. सं. २०२१ महा सुद तीज के दिन राजस्थान-मारवाड़ के मुंडारा गाँव में ६१ छोड़ के उद्यापनयुक्त महामहोत्सव में मुझे **उपाध्याय पद** तथा महा सुद पंचमी (वसन्त पञ्चमी) के दिन **आचार्य पद** प्रदान किया और साथ में शास्त्रविशारद, साहित्यरत्न एवं कविभूषण की पदवी से भी समलङ्कृत किया।

मैं इन सभी महान् विभूतियों परम पूज्य गुरुदेवों का परम ऋणी हूँ और इनके अनुग्रह का आकांक्षी भी।

—आचार्य विजय सुशीलसूरि

जैन धर्मदिवाकर राजस्थान दीपक



परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब

शान्तसुधारस मृदु मनी, राजस्थान के दीप। मरूधरोद्धारक सत्कवि, तुम साहित्य के सीप ॥
कविभूषण हो तीर्थ-प्रभावक, नयना निष्काम। सुशील सूरीश्वर को करूँ वन्दन आठों याम ॥

सुयोग्य गुरू के सुयोग्य शिष्य जिनोत्तम गणि है नाम,
गुरू शिष्य की इस जोड़ी पर जिनशासन को नाज ।
अल्पवय और अल्पकाल में जिनके बड़े हैं काम,
भविष्य के आचार्य जिनोत्तम चन्द्र का तुम्हें प्रणाम ।।

पूज्य पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम विजय जी गणिवर्य महाराज



मधुर प्रवचनकार हैं मुनिवर, मुनि जिनोत्तम नाम उत्तम,
पारसमणि सुगुरू कृपा से, स्वर्णिम हो रहे जिनोत्तम ।
सुशोभित अब पंन्यास पद से, आचार्यप्रवर भी होंगे,
गुरूवर मिले हैं, विराट् उनको क्यों न वे विराट् होंगे।।

प्राक्कथन

पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज

❀ वन्दना ❀

जैनागमरहस्यज्ञं, पूर्वधरं महर्षिणम् ।
वन्देऽहं श्रीउमास्वातिं, वाचकप्रवरं शुभम् ।। १ ।।

अनादि और अनन्तकालीन इस विश्व में जैनशासन सदा विजयवन्त है। विश्ववन्द्य विश्वविभु देवाधिदेव श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के वर्त्तमानकालीन जैनशासन में परमशासनप्रभावक अनेक पूज्य आचार्य भगवन्त आदि भूतकाल में हुए हैं। उन आचार्य भगवन्तों की परम्परा में सुप्रसिद्ध पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर **श्रीउमास्वाति महाराज** का अतिविशिष्ट स्थान है।

आपश्री संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। जैन आगमशास्त्रों के और उनके रहस्य के असाधारण ज्ञाता थे। पञ्चशत [५००] ग्रन्थों के अनुपम प्रणेता थे, सुसंयमी और पंचमहाव्रतधारी थे एवं बहुश्रुतज्ञानवन्त तथा गीतार्थ महापुरुष थे। श्री जैन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों को सदा सम्माननीय, वन्दनीय एवं पूजनीय थे और आज भी दोनों द्वारा पूजनीय हैं।

ग्रन्थकर्त्ता का काल : पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज के समय का निर्णय निश्चित नहीं है, तो भी श्रीतत्त्वार्थसूत्रभाष्य की प्रशस्ति के पाँच श्लोकों में जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

❀ भाष्यगतप्रशस्तिः ❀

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः, प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दि – क्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ।। १ ।।

वाचनया च महावाचक-क्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्य-मूलनाम्नः प्रथितकीर्त्तेः ।। २ ।।
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन, विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वाति-तनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ।। ३ ।।
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरु-क्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्त्तं च दुरागम-विहतमतिं लोकमवलोक्य ।। ४ ।।
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन, सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ।। ५ ।।
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं, ज्ञास्यति च करिष्यते च तथोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ।। ६ ।।

अर्थ–प्रकाशरूप है यश जिनका अर्थात् जिनकी कीर्त्ति जगद्विश्रुत है, ऐसे **शिवश्री** नामक वाचकमुख्य के प्रशिष्य और ग्यारह अङ्ग के ज्ञान को जानने वाले ऐसे **श्री घोषनन्दि श्रमण** के शिष्य तथा प्रसिद्ध है कीर्त्ति जिनकी और जो महावाचकक्षमा-श्रमण **श्री मुण्डपाद** के शिष्य थे, उन **श्री मूलनामक** वाचकाचार्य के वाचना की अपेक्षा से शिष्य, **कौभीषणी** गोत्र में उत्पन्न हुए ऐसे **स्वाति** नाम के पिता के तथा **वात्सी** गोत्र वाली ऐसी (**उमा** नाम की) माता के पुत्र, **न्यग्रोधिका** गाँव में जन्म पाये हुए, **कुसुमपुर (पाटलिपुत्र**) नाम के श्रेष्ठ नगर में विचरते, **उच्चनागर शाखा** के वाचक **श्री उमास्वाति** ने गुरुपरम्परा से मिले हुए उत्तम अर्हद्वचनों को अच्छी तरह समझकर और यह देखकर कि यह विश्व-संसार मिथ्या आगमों के निमित्त से नष्ट-बुद्धि हो रहा है, इसलिये दुःखों से पीड़ित बना हुआ है, जीव-प्राणियों पर अनुकम्पा-दया करके इस आगम की रचना की है और इस शास्त्र को '**तत्त्वार्थाधिगम**' नाम से स्पष्ट किया है। जो इस '**तत्त्वार्थाधिगम**' को जानेगा और इसमें जैसा कहा गया है, तदनुसार प्रवर्त्तन करेगा, वह शीघ्र ही अव्याबाध सुख रूप परमार्थ को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करेगा ।।१-६।।

उक्त प्रशस्ति के अनुसार यह जाना जाता है कि **शिवश्री** वाचक के प्रशिष्य और **घोषनन्दी** श्रमण के शिष्य उच्चनागरी शाखा में हुए **उमास्वाति** वाचक ने '**तत्त्वार्थाधिगम**' शास्त्र रचा। वे वाचनागुरु की अपेक्षा से क्षमाश्रमण **मुण्डपाद** के प्रशिष्य और मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य थे। उनका जन्म **न्यग्रोधिका** में हुआ था। विहार करते-करते **कुसुमपुर (पाटलिपुत्र-पटना)** नाम के नगर में यह

'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' नामक ग्रन्थ रचा। आपके पिता का नाम **स्वाति** और माता का नाम **उमा** था।

श्री उमास्वाति महाराज कृत **'जम्बूद्वीपसमासप्रकरण'** के वृत्तिकार **श्री विजय सिंहसूरीश्वरजी म.** ने अपनी वृत्ति-टीका के आदि में कहा है कि उमा माता और स्वाति पिता के सम्बन्ध से उनका **'उमास्वाति'** नाम रखा गया।

श्री पन्नवणा सूत्र की वृत्ति में कहा है कि **'वाचकाः पूर्वविदः'**। यानी वाचक का अर्थ पूर्वधर है। इस विषय में **'जैन परम्परा का इतिहास'** भाग १ में भी कहा है कि "श्री कल्पसूत्र के उल्लेख से जान सकते हैं कि आर्यदिन्नसूरि के मुख्य शिष्य आर्यशान्ति श्रेणिक से उच्चनागरशाखा निकली है। इस उच्चनागर शाखा में पूर्वज्ञान के धारक और विख्यात ऐसे वाचनाचार्य शिवश्री हुए थे। उनके घोषनंदी श्रमण नाम के पट्टधर थे, जो पूर्वधर नहीं थे, किन्तु ग्यारह अग के जानकार थे। पण्डित उमास्वाति ने घोषनंदी के पास में दीक्षा लेकर ग्यारह अंग का अध्ययन किया। उनकी बुद्धि तेज थी। वे पूर्व का ज्ञान पढ़ सकें ऐसी योग्यता वाले थे। इसलिए उन्होंने गुरुआज्ञा से वाचनाचार्य श्रीमूल, जो महावाचनाचार्य श्रीमुण्डपाद क्षमाश्रमण के पट्टधर थे, उनके पास जाकर पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य में उमास्वाति महाराज उच्चनागरी शाखा के थे, ऐसा उल्लेख है। उच्चनागरी शाखा श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा के पाटे आये हुए आर्यदिन्न के शिष्य आर्य शान्ति श्रेणिक के समय में निकली है। अतः ऐसा लगता है कि वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराज विक्रम की पहली से चौथी शताब्दी पर्यन्त में हुए हैं। इस अनुमान के अतिरिक्त उनका निश्चित समय अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। श्रीतत्त्वार्थसूत्र की भाष्यप्रशस्ति में आगत उच्चनागरी शाखा के उल्लेख से श्रीउमास्वातिजी की गुरुपरम्परा श्वेताम्बराचार्य आर्य श्री सुहस्तिसूरीश्वरजी महाराज की परम्परा में सिद्ध होती है। प्रभावक आचार्यों की परम्परा में वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी के महापुरुष थे, जिनको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों समान भाव से सन्मान देते हैं और अपनी-अपनी परम्परा में मानने में भी गौरव का अनुभव करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में **'उमास्वाति'** नाम से ही प्रसिद्धि है तथा दिगम्बर परम्परा में **'उमास्वाति** और **'उमास्वामी'** इन दोनों नामों से प्रसिद्धि है।

विशेषताएँ : जैनतत्त्वों के अद्वितीय संग्राहक, पाँच सौ ग्रन्थों के रचयिता तथा श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रन्थ के प्रणेता पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर **श्री उमास्वाति महाराज** ऐसे युग में जन्मे जिस समय जैनशासन में संस्कृतज्ञ, समर्थ, दिग्गज विद्वानों की आवश्यकता थी। उनका जीवन अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण था। उनका जन्म जैनजाति-जैनकुल में नहीं हुआ था, किन्तु विप्रकुल में हुआ था। विप्र-ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण प्रारम्भ से ही उन्हें संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान था। श्री जैन-आगम-सिद्धान्त-शास्त्र का प्रतिनिधि रूप महान् ग्रन्थ **श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र** उनके आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान को प्रगट करता है। इतना ही नहीं, किन्तु भारतीय षट्दर्शनों के गम्भीर ज्ञानाध्ययन की सुन्दर सूचना देता है। उनके वाचक पद को देखकर श्री जैन श्वेताम्बर परम्परा उनको पूर्वविद् अर्थात् पूर्वों के ज्ञाता रूप में सम्मानित करती रही है तथा दिगम्बर परम्परा भी उनको श्रुतकेवली तुल्य सम्मान दे रही है। जैन साहित्य के इतिहास में आज भी जैनतत्त्वों के संग्राहक रूप में उनका नाम सुवर्णाक्षरों में अङ्कित है।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवन्त **श्रीमद् विजय हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. ने अपने** 'श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन' नामक महा व्याकरण ग्रन्थ में **"उत्कृष्टे अनूपेन"** सूत्र में **"उपोमास्वातिं संग्रहीतारः"** कहकर अद्वितीय अञ्जलि समर्पण की है तथा अन्य बहुश्रुत और सर्वमान्य समर्थ आचार्य भगवन्त भी उमास्वाति आचार्य को वाचक-मुख्य अथवा वाचकश्रेष्ठ कह कर स्वीकारते हैं।

❊ श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की महत्ता ❊

जैनागमरहस्यवेत्ता पूर्वधर वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ने अपने संयम-जीवन के काल में पञ्चशत [५००] ग्रन्थों की अनुपम रचना की है। वर्त्तमान काल में इन पञ्चशत [५००] ग्रन्थों में से श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रशमरतिप्रकरण, जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, क्षेत्रसमास, श्रावकप्रज्ञप्ति तथा पूजाप्रकरण इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पूर्वधर-वाचकप्रवरश्री की अनमोल ग्रन्थराशिरूप विशाल आकाशमण्डल में चन्द्रमा की भाँति सुशोभित ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ यह **'श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र'** है। इसकी महत्ता इसके नाम से ही सुप्रसिद्ध है। पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज जैन आगम सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् और प्रकाण्ड ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों

का अवगाहन करके जीवाजीवादि तत्त्वों को लोकप्रिय बनाने के लिए अतिगहन और गम्भीर दृष्टि से नवनीत रूप में इसकी अति सुन्दर रचना की है। यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र संस्कृत भाषा का सूत्र रूप से रचित सबसे पहला अत्युत्तम, सर्वश्रेष्ठ, महान् ग्रन्थरत्न है। यह ग्रन्थ ज्ञानी पुरुषों को साधु-महात्माओं को विद्वद्वर्ग को और मुमुक्षु जीवों को निर्मल आत्मप्रकाश के लिए दर्पण के सदृश देदीप्यमान है और अहर्निश स्वाध्याय करने लायक तथा मनन करने योग्य है। पूर्व के महापुरुषों ने इस तत्त्वार्थसूत्र को '**अर्हत् प्रवचन संग्रह**' रूप में भी जाना है।

ग्रन्थ परिचय : यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैनसाहित्य का संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रथम सूत्रग्रन्थरत्न है। इसमें दस अध्याय हैं। दस अध्यायों की कुल सूत्र संख्या ३४४ है तथा इसके मूल सूत्र मात्र २२५ श्लोक प्रमाण हैं। इसमें मुख्यपने द्रव्यानुयोग की विचारणा के साथ गणितानुयोग और चरणकरणानुयोग की भी अति सुन्दर विचारणा की गई है। इस ग्रन्थरत्न के प्रारम्भ में वाचक श्री उमास्वाति महाराज विरचित स्वोपज्ञभाष्यगत सम्बन्धकारिका प्रस्तावना रूप में संस्कृत भाषा के पद्यमय ३१ श्लोक हैं, जो मनन करने योग्य हैं। पश्चात्—

[१] पहले अध्याय में—३५ सूत्र हैं। शास्त्र की प्रधानता, सम्यग्दर्शन का लक्षण, सम्यक्त्व की उत्पत्ति, तत्त्वों के नाम, निक्षेपों के नाम, तत्त्वों की विचारणा करने के द्वारा ज्ञान का स्वरूप तथा सप्त नय का स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

[२] दूसरे अध्याय में—५२ सूत्र हैं। इसमें जीवों के लक्षण, औपशमिक आदि भावों के ५३ भेद, जीव के भेद, इन्द्रिय, गति, शरीर, आयुष्य को स्थिति इत्यादि का वर्णन किया है।

[३] तीसरे अध्याय में—१८ सूत्र हैं। इसमें सात पृथ्वियों, नरक के जीवों की वेदना तथा आयुष्य, मनुष्य क्षेत्र का वर्णन, तिर्यंच जीवों के भेद तथा स्थिति आदि का निरूपण किया गया है।

[४] चौथे अध्याय में—५३ सूत्र हैं। इसमें देवलोक, देवों की ऋद्धि और उनके जघन्योत्कृष्ट आयुष्य इत्यादि का वर्णन है।

३ **[५] पाँचवें अध्याय में**—४४ सूत्र हैं। इसमें धर्मास्तिकायादि अजीव तत्त्व का

निरूपण है तथा षट् द्रव्य का भी वर्णन है। पदार्थों के विषय में जैनदर्शन और जैनेतर दर्शनों की मान्यता भिन्न स्वरूप वाली है। नैयायिक १६ पदार्थ मानते हैं, वैशेषिक ६-७ पदार्थ मानते हैं, बौद्ध चार पदार्थ मानते हैं, मीमांसक ५ पदार्थ मानते हैं तथा वेदान्ती एक अद्वैतवादी है। जैनदर्शन ने छह पदार्थ अर्थात् छह द्रव्य माने हैं। उनमें एक जीव द्रव्य है और शेष पाँच अजीव द्रव्य हैं। इन सभी का वर्णन इस पाँचवें अध्याय में है।

[६] **छठे अध्याय में**–२६ सूत्र हैं। इसमें आस्रव तत्त्व के कारणों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसकी उत्पत्ति योगों की प्रवृत्ति से होती है। योग पुण्य और पाप के बन्धक होते हैं। इसलिये पुण्य और पाप को पृथक् न कहकर आस्रव में ही पुण्य-पाप का समावेश किया गया है।

[७] **सातवें अध्याय में**–३४ सूत्र हैं। इसमें देशविरति और सर्वविरति के व्रतों का तथा उनमें लगने वाले अतिचारों का वर्णन किया गया है।

[८] **आठवें अध्याय में**–२६ सूत्र हैं। इसमें मिथ्यात्वादि हेतु से होते हुए बन्ध तत्त्व का निरूपण है।

[९] **नौवें अध्याय में**–४९ सूत्र हैं। इसमें संवर तत्त्व तथा निर्जरा तत्त्व का निरूपण किया गया है।

[१०] **दसवें अध्याय में**–७ सूत्र हैं। इसमें मोक्षतत्त्व का वर्णन है।

उपसंहार में ३२ श्लोक प्रमाण अन्तिम कारिका में सिद्ध भगवन्त के स्वरूप इत्यादि का सुन्दर वर्णन किया है। प्रान्ते ग्रन्थकार ने भाष्यगत प्रशस्ति ६ श्लोक में देकर ग्रन्थ की समाप्ति की है।

✻ श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध अन्य ग्रन्थ ✻

श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर वर्त्तमान काल में लभ्य-मुद्रित अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं।

(१) श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं वाचक श्री उमास्वाति महाराज का **'श्रीतत्त्वार्थाधिगम भाष्य'** स्वोपज्ञ रचना है, जो २२०० श्लोक प्रमाण है।

(२) श्रीसिद्धसेन गणि महाराज कृत भाष्यानुसारिणी **टीका** १८२०२ श्लोक प्रमाण की है। यह सबसे बड़ी टीका कहलाती है।

(३) श्रीतत्त्वार्थ भाष्य पर १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज कृत लघु टीका ११००० श्लोक प्रमाण की है। उन्होंने यह टीका साढ़े पाँच (५।।) अध्याय तक की है। शेष टीका आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी ने पूर्ण की है।

(४) इस ग्रन्थ पर श्री चिरन्तन नाम के मुनिराज ने **'तत्त्वार्थ टिप्पण'** लिखा है।

(५) इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय पर न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कृत भाष्यतर्कानुसारिणी **'टीका'** है।

(६) आगमोद्धारक श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी म. श्री ने **'तत्त्वार्थकर्तृत्वतन्मत निर्णय'** नाम का ग्रन्थ लिखा है।

(७) भाष्यतर्कानुसारिणी टीका पर पू. शासनसम्राट् **श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा.** के प्रधान पट्टधर न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद पू. आचार्यप्रवर **श्रीमद् विजय दर्शन सूरीश्वरजी महाराज** ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर के विवरण को समझाने के लिये **'गूढार्थदीपिका'** नाम की विशद वृत्ति रची है। सिद्धान्तवाचस्पति-न्यायविशारद पू. आ. श्रीमद् विजयोदयसूरीश्वरजी म. सा. ने भी वृत्ति रची है।

(८) पू. शासनसम्राट् **श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा.** के दिव्य पट्टालंकार व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-साहित्यसम्राट् पूज्य आचार्यवर्य **श्रीमद् लावण्यसूरीश्वरजी महाराज** ने श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' (२९), 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' (३०), 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' (३१) इन तीन सूत्रों पर **'तत्त्वार्थ त्रिसूत्री प्रकाशिका'** नाम की विशद टीका ४२०० श्लोक प्रमाण रची है।

(९) सम्बन्धकारिका और अन्तिमकारिका पर श्री सिद्धसेन गणि कृत टीका है।

(१०) सम्बन्धकारिका पर आचार्य श्री देवगुप्तसूरि कृत टीका है।

(११) आचार्य श्री मलयगिरिसूरि म. ने भी श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर टीका की है।

(१२) मैंने [आ. श्री विजय सुशीलसूरि ने] भी तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर तथा

उसकी 'सम्बन्धकारिका' और 'अन्तिमकारिका' पर संक्षिप्त लघु टीका सुबोधिका, हिन्दी भाषा में विवेचनाऽमृत तथा हिन्दी में पद्यानुवाद की रचना की है ।

(१३) पू. शासनसम्राट् श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा. के पट्टधर शास्त्र-विशारद-कविरत्न पू. आचार्य श्रीमद् विजयामृतसूरीश्वरजी म. सा. के प्रधान पट्टधर-द्रव्यानुयोगज्ञाता पू. आचार्य श्रीमद् विजय रामसूरीश्वरजी म. श्री ने इस तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र का, सम्बन्धकारिका का तथा अन्तिमकारिका का गुर्जर भाषा में पद्यानुवाद किया है ।

(१४) तीर्थप्रभावक-स्वर्गीय आचार्य श्रीमद् विजय विक्रमसूरीश्वर जी म. श्री ने गुजराती विवरण लिखा है ।

(१५) श्री तत्त्वार्थ सूत्र पर श्री यशोविजयजी गणि महाराज का गुजराती टबा है ।

(१६) कर्मसाहित्यनिष्णात आचार्य श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म. के समुदाय के मुनिराज श्री राजशेखरविजय जी ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(१७) पण्डित खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र का 'हिन्दी-भाषानुवाद किया है ।

(१८) पण्डित श्री सुखलाल जी ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(१९) पण्डित श्री प्रभुदास बेचरदास ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(२०) श्री मेघराज मुणोत ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है ।

जैसे श्री जैन श्वेताम्बर आम्नाय में **'श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र'** नामक ग्रन्थ विशेष रूप में प्रचलित है, वैसे ही श्री दिगम्बर आम्नाय में भी यह ग्रन्थ मौलिक रूपे अति-प्रचलित है । इस महान् ग्रन्थ पर दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने **सर्वार्थसिद्धि**, आचार्य

अकलंकदेव ने **राजवार्त्तिक टीका** तथा आचार्य विद्यानन्दि ने **श्लोकवार्त्तिक टीका** की रचना की है। इस ग्रन्थ पर एक **श्रुतसागरी** टीका भी है। इस प्रकार इस ग्रन्थ पर आज संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएँ तथा हिन्दी व गुजराती भाषा में अनेक अनुवाद विवेचनादि उपलब्ध हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ की महत्ता निर्विवाद है।

* प्रस्तुत प्रकाशन का प्रसंग *

उत्तर गुजरात के सुप्रसिद्ध श्री शंखेश्वर महातीर्थ के समीपवर्ती राधनपुर नगर में विक्रम संवत् १९९८ की साल में तपोगच्छाधिपति शासनसम्राट्-परमगुरुदेव-परमपूज्य आचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा.** के दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट्-प्रगुरुदेव-पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा.** का श्रीसंघ की साग्रह विनंति से सागरगच्छ के जैन उपाश्रय में चातुर्मास था। उस चातुर्मास में पूज्यपाद आचार्यदेव के पास पूज्य गुरुदेव श्री दक्षविजयजी महाराज (वर्त्तमान में पू. आ. श्रीमद् विजय दक्षसूरीश्वरजी महाराज), मैं सुशील विजय (वर्त्तमान में आ. सुशीलसूरि) तथा मुनि श्री महिमाप्रभ विजय जी (वर्त्तमान में आचार्य श्रीमद् विजय महिमाप्रभसूरिजी म.) आदि प्रकरण, कर्मग्रन्थ तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि का (टीका युक्त वांचना रूपे) अध्ययन कर रहे थे। मैं प्रतिदिन प्रातःकाल में नवस्मरण आदि सूत्रों का व एक हजार श्लोकों का स्वाध्याय करता था। उसमें पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज विरचित **'श्रीतत्त्वार्थसूत्र'** भी सम्मिलित रहता था। इस महान् ग्रन्थ पर पूज्यपाद प्रगुरुदेवकृत **'तत्त्वार्थ त्रिसूत्री प्रकाशिका'** टीका का अवलोकन करने के साथ-साथ **'श्रीतत्त्वार्थसूत्र-भाष्य'** का भी विशेष रूप में अवलोकन किया था।

अति गहन विषय होते हुए भी अत्यन्त आनन्द आया। अपने हृदय में इस ग्रन्थ पर संक्षिप्त लघु टीका संस्कृत में और सरल विवेचन हिन्दी में लिखने की स्वाभाविक भावना भी प्रगटी। परमाराध्य श्रीदेव-गुरु-धर्म के पसाय से और अपने परमोपकारी पूज्यपाद परमगुरुदेव एवं प्रगुरुदेव आदि महापुरुषों की असीम कृपादृष्टि और अदृष्ट आशीर्वाद से तथा मेरे दोनों शिष्यरत्न **वाचकप्रवर श्री विनोदविजयजी गणिवर एवं पंन्यास श्री जिनोत्तमविजयजी गणि** की जावाल [सिरोही समीपवर्ती] में पंन्यास पदवी प्रसंग के महोत्सव पर की हुई विज्ञप्ति से इस कार्य का शीघ्र प्रारम्भ करने हेतु मेरे उत्साह और आनन्द में अभिवृद्धि हुई। श्रीवीर सं. २५१६, विक्रम सं.

२०४६ तथा नेमि सं. ४१ की साल का मेरा चातुर्मास श्री जैनसंघ, धनला की साग्रह विनंति से **श्री धनला गाँव** में हुआ।

इस चातुर्मास में इस ग्रन्थ की टीका और विवेचन का शुभारम्भ किया है। इस ग्रन्थ की लघु टीका तथा विवेचनादियुक्त यह प्रथम-पहला अध्याय है। इस कार्य हेतु मैंने आगमशास्त्र के अवलोकन के साथ-साथ इस ग्रन्थ पर उपलब्ध समस्त संस्कृत, गुजराती, हिन्दी साहित्य का भी अध्ययन किया है और इस अध्ययन के आधार पर संस्कृत में सुबोधिका लघु टीका तथा हिन्दी **विवेचनामृत** की रचना की है। इस रचना-लेख में मेरी मतिमन्दता एवं अन्य कारणों से मेरे द्वारा मेरे जानते या अजानते श्रीजिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिए मन-वचन-काया से मैं **'मिच्छा मि दुक्कडं'** देता हूँ।

श्रीवीर सं. २५१७
विक्रम सं. २०४७
नेमि सं. ४२
कार्तिक सुद ५
[ज्ञान पंचमी]
बुधवार
दिनांक २४-११-९०
卐 卐 卐

लेखक—
आचार्य विजय
सुशीलसूरि
स्थल—**श्रीमाणिभद्र भवन**
—जैन उपाश्रय
मु. पो. धनला—३०६ ०२५
वाया—मारवाड़ जंक्शन,
जिला—पाली (राजस्थान)



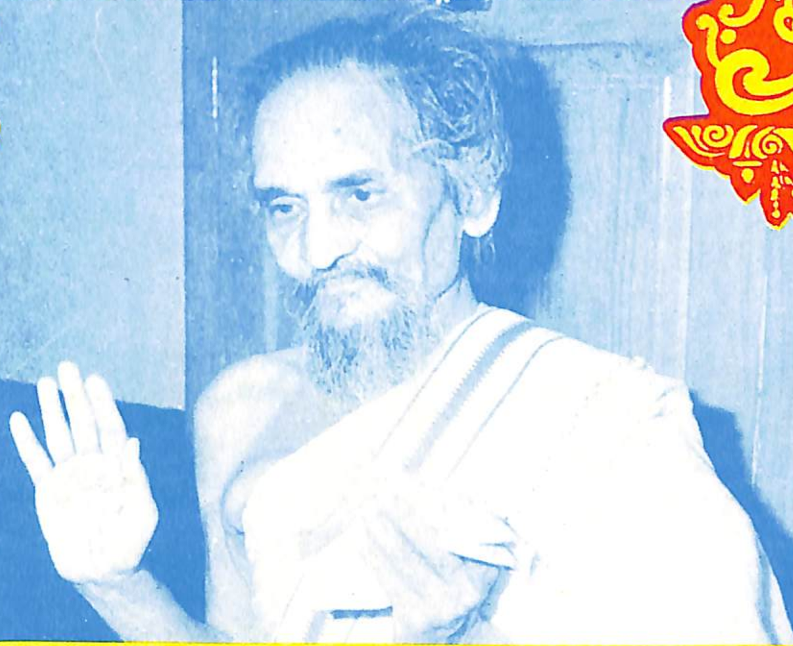
卐 ॐ ह्रीं अर्हं नमः 卐





शुभ आशीर्वाद

॥ शासन सम्राट प.पू.आ. श्री नेमि-लावण्य-दक्ष-सुशील सूरीश्वरेभ्यो नमः ॥



राजस्थान दीपक परम पूज्य आचार्य भगवन्त
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब







- प्रेरक -

परम पूज्य पंन्यासप्रवर

श्री जिनोत्तम विजय जी गणिवर्य महाराज साहब

















सप्रेम निवेदन



मान्यवर श्री ....

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। जिसमें भौतिक साहित्य का महत्व सर्वतोधिक है। मौलिक साहित्य के पठन से आपके परिवार में अच्छे संस्कारों का सिंचन होगा। जिससे जीवन में प्रेम और शांति के फूल खिलेंगे।

- आध्यात्मिक विकास के लिए तत्व चिंतन का साहित्य।
- स्वस्थ जीवन के लिए मौलिक चिंतन का साहित्य।
- जीवन के शाश्वत मूल्यों को उजागर करने वाला कथा साहित्य।
- भीतरी समस्या को सुलझाने वाला प्रेरक साहित्य।

यह सब प्राप्त करने के लिए आप **श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति (रजि.)** द्वारा प्रकाशित धार्मिक साहित्य पढ़िये।



卐 सुशील - सन्देश 卐

- सुंदर - सरल - सरस
- सुरुचिपोषक - सुसंस्कारवर्धक
- शुभ और शुद्ध विचारों से समृद्ध
- साहित्य की नियमित प्राप्ति हेतु

आप आजीवन सदस्य अवश्य बनें। सम्यक् साहित्य के प्रचार और प्रसार में सहभागी बनने हेतु हमारा सप्रेम भावपूर्ण निमंत्रण है।

आजीवन सदस्यता शुल्क- २७११ रुपये









आचार्य श्री सुशील सूरि जी जैन ज्ञान मन्दिर, सिरोही

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर द्वारा प्रकाशित भूत-भावी तमाम उपलब्ध प्रकाशनों की एक एक प्रति नि:शुल्क भेजी जायेगी।

भावी तमाम प्रकाशनों में आजीवन सदस्य के रूप में नाम छपेगा व एक एक प्रति नि:शुल्क प्रेषित की जायेगी ।

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर के नाम का चैक/ड्राफ्ट/रोकड़ से निम्न पते पर **2711** रूपये भेजें ।

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति
C/o श्री गुणदयालचंद जी भंडारी
राइकाबाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास,
मु. जोधपुर (राज.)

दानवीर महानुभाव आजीवन सदस्य बनकर सम्यग-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में सहयोगी बनें ।

— विनीत —

ट्रस्ट मण्डल

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति

श्री गुणदयालचंद जी भण्डारी, जोधपुर
श्री मांगीलाल जी सी. जैन, तखतगढ़ (नेल्लोर)
श्री गणपतराज जी चौपड़ा, पचपदरा (बम्बई)
श्री हुक्मीचन्द जी कटारिया, रूण (बेंगलोर)
डॉ. जवाहरचन्द्र जी पटनी, कालन्द्री
श्री नैनमल विनयचंद्रजी सुराणा, सिरोही
श्री मांगीलाल जी तातेड़, मेड़ता सिटी

अवश्य पढ़ें ! ॐ ह्री श्री नमो नाणस्स पढ़कर ज्ञान प्राप्त करें

सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित मानव -जीवन में आध्यात्मिक चेतना का सजग प्रहरी जीवन में सुसंस्कारों की सौरभ प्रवाहित करने वाला हिन्दी मासिक पत्र

सुशील-सन्देश

(स्थापित सन् 1987)

प्रेरक :
परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी महाराज साहब के शिष्यरत्न पूज्य पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम विजयजी गणिवर्य महाराज

सम्पादक :
नैनमल विनयचन्द्र सुराणा
सिरोही (राज.)
प्रकाशक :
सुशील फाउण्डेशन (रजि.)

सुशील-सन्देश में आप क्या पढ़ेंगे ?

¤ जीवन में गुनगुनाहट कराने वाले गीत-संगीत-कविता	:काव्यकुञ्ज
¤ जैन संस्कृति की गौरव गाथा गाने वाली मधुर शिक्षाप्रद कहानियाँ	: पढ़ो और पाओ
¤ जैन तत्त्वज्ञान की विशद जानकारी हेतु स्वाध्याय प्रश्नोत्तरी	: समाधान के आयाम
¤ सुवचनों का अपूर्व संग्रह	: अनमोल मोती
¤ ज्ञान के साथ में विविध-चुटकुलों का संग्रह	: आओ आनन्द करें
¤ प्रकाशित पुस्तक-ग्रन्थों की समीक्षात्मक टिप्पणी	: साहित्य समीक्षा
¤ विविध शासन-प्रभावना के अनुमोदनीय समाचार	: धन्य जिनशासन
¤ पाठकों के विविध विचार	: प्रतिक्रिया-मत-सम्मत

* इन स्थाई स्थम्भों के अतिरिक्त विविध लेख, ऐतिहासिक कथाऐं, जीवन निर्माण के उपयोगी लेख, तीर्थ महिमा, स्वास्थ्य चितन पर लेख आदि का प्रकाशन होता है ।
* सुशील-सन्देश के 6 वर्ष में 15 भव्य विशेषाक प्रकाशित हुए है ।

सदस्यता शुल्क:
एक वर्ष : 111/- रुपये
पाँच वर्ष : 411/- रुपये
आजीवन : 711/- रुपये
आजीवन स्थाई स्थम्भ- 1511/- रुपये

कार्यालय व सम्पर्क-सूत्र
सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर
सुराणा कुटीर, रूपाखान मार्ग
पुराने बस स्टेण्ड के पास,
सिरोही- 307 001 (राज.)

कार्यालय
संघवी श्री जौहरीलाल
सुरेन्द्र कुमार पटवा
मु. पो. जैतारण
जि. पाली (राज.)

—विनीत
- सुशील फाउण्डेशन
- संघवी श्री जौहरीलाल जी सुरेन्द्र कुमार पटवा, जैतारण
- शा. बाबु भाई पूनमचंद जी, जावाल (ऊंझा)
- शा. सुखराज कपुरचंद जी, अगवरी (बम्बई)
- शा. हनवन्तचन्द जी मेहता, पाली
- शा. किशोरचंद मीठालाल जी (जालोर वाला) पाली

☼ अनुक्रम ☼

● सम्बन्धकारिका : पृष्ठ १ से ८ तक ●



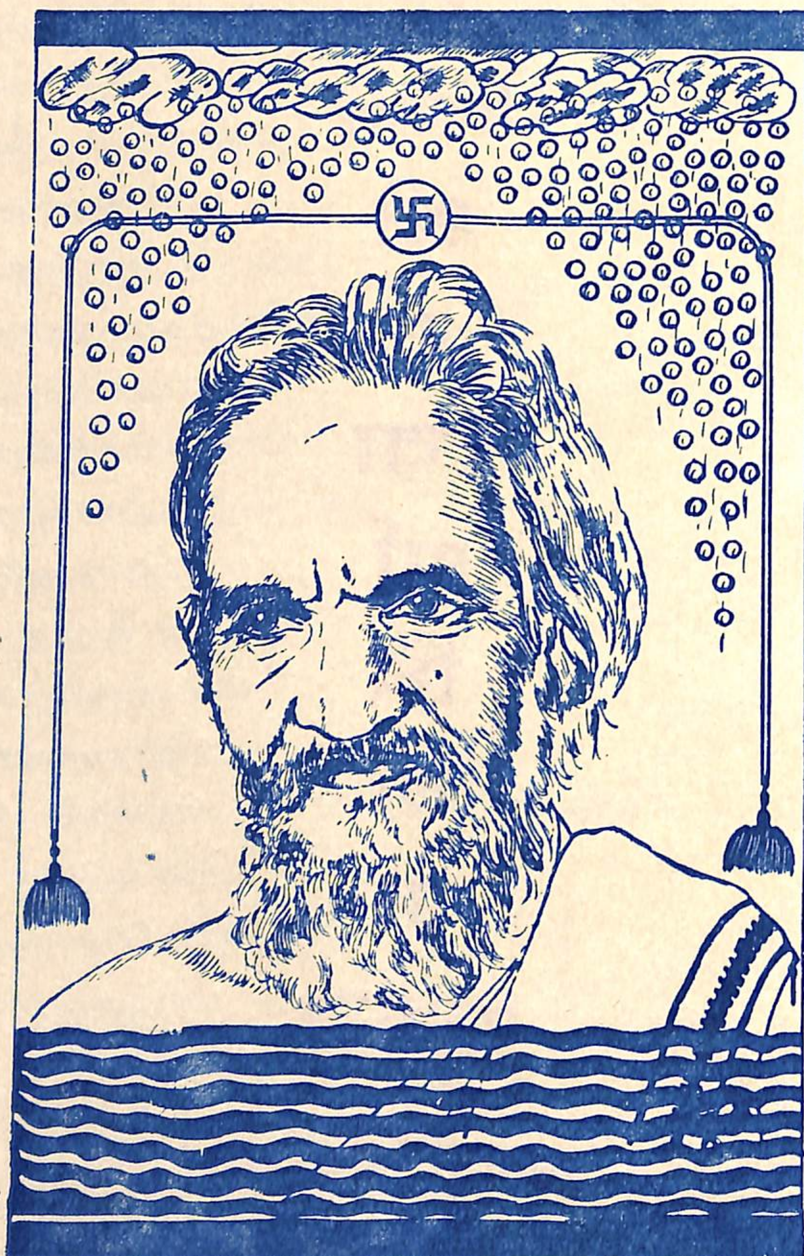
पूर्वधर-परमर्षि
श्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण
विरचितम्

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

(प्रथमोऽध्यायः)

विश्ववंद्य-विश्वविभु श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा के वर्तमान जैन शासन में उन्हीं के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जी म. की सुविहित पट्टपरम्परा के ७७ वें पाट पर सुशोभित

श्री पंचप्रस्थानमय सूरिमंत्रसमाराधक प्रतिष्ठाशिरोमणि



परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी म. सा.

卐 ॐ ह्रीँ अर्हं नमः 卐

।। वर्तमानशासनाधिपति-श्रीमहावीरस्वामितीर्थंकरेभ्यो नमः ।।

।। अनन्तलब्धिनिधान-श्रीगौतमस्वामिगणधरेभ्यो नमः ।।

।। गणसम्पत्समृद्ध-श्रीसुधर्मस्वामिगणधरेभ्यो नमः ।।

।। पूर्वधर-वाचकप्रवर-श्रीउमास्वातिभगवद्भ्यो नमः ।।

।। शासनसम्राट्श्रीनेमिसूरीश्वरपरमगुरुभ्यो नमः ।।

।। साहित्यसम्राट्-श्रीलावण्यसूरीश्वरप्रगुरुभ्यो नमः ।।

❁ पूर्वधर-परमर्षि-सुप्रसिद्ध-श्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण विरचितम् ❁

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

—तस्योपरि—

जैनधर्मदिवाकर-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषणेति पदसमलङ्कृतेन

श्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा

विरचिता **'सुबोधिका टीका'** एवं तस्य सरलहिन्दीभाषायां **विवेचनामृतम्**

卐 मंगलाचरणम् 卐

[शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्]

नत्वा देवाधिदेवं सुरनरमहितं वर्धमानं जिनेन्द्रं,
वाग्देवीं गौतमेशं गणधरप्रवरं श्रीसुधर्माभिधं च ।
स्मृत्वा विश्वे प्रसिद्धं परमगुरुवरं नेमिसूरीश्वरं वै,
श्रीमल्लावण्यसूरिं प्रगुरुप्रवरं सद्गुरुं दक्षसूरिम् ।। १ ।।

[अनुष्टुब्-वृत्तम्]

वाचकश्रीउमास्वाति - नाम्ना पूर्वधरेण वै ।
ख्यातं तत्त्वार्थसूत्रं यद्, सभाष्यं रचितं वरम् ।। २ ।।
भाष्यानुसारिणी तस्य, लघुटीका 'सुबोधिका' ।
तत्त्वार्थसूत्रभाषायां, 'विवेचनामृतं' तथा ।। ३ ।।
विज्ञप्त्या श्रीविनोदस्य, वाचकप्रवरस्य वै ।
जिनोत्तमस्य पन्न्यास, - वरस्यान्तिषदोऽपि च ।। ४ ।।
देव-गुरुप्रसादाच्च, सुशीलसूरिणा मया ।
बालानां तत्त्वबोधार्थं, क्रियते कर्मक्षायिना ।। ५ ।।

वा-८

प्रथमोऽध्यायः

❀ पञ्चज्ञानं नयं निक्षेपञ्च वर्णनम् ❀

श्रीसर्वज्ञविभुना जिनेश्वर-तीर्थङ्करदेवेन अर्थरूपेण कथितं, सूत्ररूपेण श्रुतकेवली-श्रीगणधरभगवन्तेन गुम्फितं च यद् शास्त्रं तद् आगमशास्त्रमेवेति जैनदर्शनेन। एतद् आगमशास्त्रमवलोकच पूर्वधर-परमर्षिश्रीउमास्वातिनाम्ना वाचकप्रवरेण सिद्धान्तागम-शास्त्रस्य साररूपमिदं **'श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र'** नामकं ग्रन्थं सम्यग्विरचितमिति। तस्य दशाध्यायाः सन्ति। तेषु प्रथमोऽध्यायोऽत्र विमृश्यते। अत्र **प्रथमाऽध्याये प्रथम-सूत्रमिदम्**—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

सम्यग्दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च एतानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि। मोक्षस्य मार्गः मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शनं, सम्यग्ज्ञानं, सम्यक्चारित्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः। एतानि च निखिलानि मोक्षसाधनानि, न तु न्यूनानि। त्रीण्येव संमिलने सति मोक्षस्य मार्गः साधनः एवेत्यर्थः। एकस्याऽभावेऽपि असाधनानि इत्यतस्त्रयाणां ग्रहणम्। एषां च पूर्वलाभे सति भजनीयमुत्तरम्, किन्तु उत्तरलाभे तु पूर्वलाभो नियतरेव ज्ञेयः। अर्थात् सम्यग्दर्शनं, सम्यग्ज्ञानं तथा सम्यक्चारित्रं मोक्षमार्गो भवति। एतानि त्रीणि संहितान्येव मोक्षस्य साधनं जायते, नत्वन्यथा। एतेषु एकस्याप्यभावे मोक्षसाधनं नैव भवितुमर्हति। एतेषु प्रथमस्य (पूर्वस्याप्राप्तौ सत्यां तत्पश्चाद्भवस्य परस्य) प्राप्तिर्भवेद् वा न भवेत्, किन्तु परस्य प्राप्तौ सत्यां पूर्वस्य ज्ञानमवश्यंभावि। अर्थात्-दर्शनस्य ज्ञाने सत्यपि ज्ञानस्य चारित्रस्य वा ज्ञानं निश्चयेन न जायते। एवमेव ज्ञानस्य प्राप्तौ सत्यामपि चारित्रस्य प्राप्तिर्निश्चयेन न भवति, किन्तु चारित्रस्योपलब्धौ सत्यां तत्पूर्वयोर्दर्शन-ज्ञानयोः प्राप्तिर्जायते एव, एवं ज्ञानोपलब्धौ

सत्यां तत्पूर्वस्य दर्शनोपलब्धिः निश्चितैव । अत्र ज्ञानस्य वीतरागभावस्य सर्वोत्कृष्टत्वमेव मोक्षः । अपि च आमूलानां कर्मबन्धानां क्षयः मोक्षः । तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थे निपातः, समञ्चतेर्वा भावः । दर्शनमिति । सर्वेन्द्रियाणामनिन्द्रियाणां च विषयाणां सम्यग्रूपेण प्राप्तिरिति **सम्यग्दर्शनम्** । प्रशस्तं दर्शनं **सम्यग्दर्शनम्** । युक्तियुक्तदर्शनं **सम्यग्दर्शनम्** । संगतं वा दर्शनं **सम्यग्दर्शनम्** । तत्त्वभूतजीवाजीवादि-पदार्थेषु श्रद्धा वर्त्तते एव **सम्यग्दर्शनम्** । तत्त्वभूत-जीवाजीवादिपदार्थानां यथार्थबोधं **सम्यग्ज्ञानम्** । यथार्थज्ञानपूर्वकमसत्क्रियायाः निवृत्तिः सत्क्रियायां च प्रवृत्तिः **सम्यक्चारित्रम्** । समस्तकर्मणां क्षयो मोक्षः । साधनमुपायश्च मार्गः । अतः युगपत् 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' एव मोक्षस्य मार्गः । तद् द्वारा हि भव्यजीवस्य मोक्षप्राप्तिरेव ।

❀ सूत्रार्थ—**सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं अर्थात् मोक्ष के साधन एवं मोक्ष के उपाय हैं ।।१।।**

卐 विवेचन 卐

अनादि और अनन्तकालीन इस विश्व में जीव भी अनादिकाल से अनन्तानन्त हैं । संसार में रहे हुए समस्त जीव सदैव सुख चाहते हैं; दुःख कोई कभी नहीं चाहता । सुख की प्राप्ति के लिए और दुःख को दूर करने के लिए वे लोक में अर्थ और काम इन दोनों पुरुषार्थों का सेवन करते हैं । उनका सेवन करने पर भी सर्वथा न तो दुःख दूर कर सकते हैं और न ही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त कर सकते हैं । कारण कि अर्थ से और काम से मिलने वाला सुख दुःखमिश्रित तथा क्षणिक होने से अपूर्ण है ।

धर्म और मोक्ष इन दोनों पुरुषार्थों के सेवन से ही चिरन्तन तथा दुःखरहित सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है । इसलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में धर्म और मोक्ष ये दोनों ही मुख्य हैं । उनमें भी धर्म तो मोक्ष का कारण होने से औपचारिक पुरुषार्थ है । अतः चारों पुरुषार्थों में मोक्षपुरुषार्थ ही मुख्य है-प्रधान है । इसलिए ज्ञानी महापुरुषों ने भी भव्यजीवों को मोक्षमार्ग का ही सदुपदेश दिया है और देते हैं। यहाँ भी पूर्वधर परमर्षि वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज प्रथम मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं । प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है ।

मोक्ष का स्वरूप—बन्धकारणों के सर्वथा अभाव हो जाने से जो सर्वाङ्गीण सम्पूर्ण आत्म-विकास की परिपूर्णता होती है, वही **मोक्ष है** अर्थात् वह ज्ञान और वीतरागभाव की सर्वोत्कृष्टता-पराकाष्ठारूप है ।

साधनों का स्वरूप—जिस गुण के विकास से तत्त्व यानी वस्तुधर्म की प्राप्ति हो और

जिसके द्वारा हेय यानी छोड़ने योग्य, उपादेय यानी स्वीकार करने योग्य तत्त्व की, यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, उसे **सम्यग्दर्शन** कहते हैं। नय और प्रमाण से होने वाले जीवादि तत्त्वों का यथार्थज्ञान, वही **सम्यग्ज्ञान** है। वस्तु-पदार्थ के ज्ञान अंश को **नय** कहते हैं, और सम्पूर्ण ज्ञान को **प्रमाण** कहते हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषायभावों की अर्थात् राग-द्वेष की और मन-वचन-काया के योगों की निवृत्ति से जो स्वरूप-रमणता होती है, वही **सम्यक्चारित्र है।**

साधनों का साहचर्य—मोक्ष के साधनभूत धर्म को-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन विभागों में विभक्त करके पूर्वधर वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक प्रथम सूत्र में ही उनका निर्देश करते हुए कहते हैं कि—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है ।।१।।

अर्थात्–ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग यानी मोक्ष के साधन-उपाय हैं। इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का निर्देश मात्र है; न कि उनका स्वरूप और न ही उनके भेद। कारण कि आगे उनके स्वरूप और उनके भेद का वर्णन विस्तार से करेंगे। इसलिए यहाँ तो शास्त्र की रचना क्रमबद्ध हो सके, इस बात को लक्ष्य में रखकर इनका नाम मात्र, उद्देश्य मात्र ही निरूपण किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों [रत्नत्रय] मिले हुए ही समवाय रूप से मोक्ष के मार्ग यानी साधन-उपाय माने गए हैं; न कि पृथक्-पृथक् एक या दो। इन तीनों में से यदि एक का अभाव हो जाय तो भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने पर भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो या न हो, सम्यग्ज्ञान होने पर भी सम्यक्चारित्र हो या न हो, किन्तु जब सम्यक्चारित्र होगा तब सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान अवश्य ही होगा तथा जहाँ पर सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ पर सम्यग्दर्शन भी अवश्य ही रहता है। जैसे—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्णता के रूप में प्राप्त होते हुए भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता के कारण तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थानक में पूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता और चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थानक में शैलेषी अवस्था रूप परिपूर्ण चारित्र प्राप्त होते ही सम्यग्दर्शनादि तीनों साधनों की सम्पूर्ण प्रबलता हो जाने से पूर्ण मोक्ष का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

इन्द्रिय और मन के विषयभूत सर्व पदार्थों की दृष्टि-श्रद्धा रूप प्राप्ति को **'सम्यग्दर्शन'** कहते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित प्रशस्त दर्शन को **सम्यग्दर्शन** कहते हैं। अथवा संगत-युक्तिसिद्ध दर्शन को भी **सम्यग्दर्शन** कहते हैं। सारांश यह है कि—सम्यक् यानी प्रशस्त या संगत। **सम्यग्दर्शन** यानी विश्व के तत्त्वभूत जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धा। **सम्यग्ज्ञान** यानी तत्त्वभूत जीवाजीवादि पदार्थों का वास्तविक यथार्थबोध। **सम्यक्चारित्र** यानी वास्तविक यथार्थज्ञान द्वारा असत्क्रिया से निवृत्ति और सत्क्रिया में प्रवृत्ति। **मोक्ष** यानी मुक्ति-समस्त कर्मों का क्षय-विनाश। **मार्ग** यानी साधन-उपाय। अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की सम्पूर्ण मिली हुई अवस्था वह मोक्ष का मार्ग-साधन-उपाय है। ज्ञानी महापुरुषों ने सांसारिक सुखों को सुखाभास कहा है। विश्व में एक मोक्षावस्था ऐसी है कि समस्त इच्छाओं का अभाव हो जाता है और स्वाभाविक सन्तोष प्रगट होता है, वही सुख सच्चा सुख है, अन्य नहीं ।।१।।

सम्यग्दर्शनस्य लक्षणम्—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

तत्त्वार्थानामर्थानां तत्त्वभूतजीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थ-श्रद्धानं तत् सम्यग्-दर्शनम्। अथवा तत्त्वेनार्थानां तत्त्वभूतजीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत् सम्यग्दर्शनम्। तदेवं प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति-लक्षणानि चिह्नानि तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति। अर्थात् स्वभावाधिगमहेतुभ्यां सम्यग्दर्शनस्य प्राप्तिः तत्त्वार्थपदार्थानां चेतसि सर्वाङ्गीणरूपेण विकासोदयेन जायते।

तस्य प्रशमादि पञ्चभावानां संक्षिप्तस्वरूपमाह—

(१) रागद्वेषादीनामनुद्रेकः **'प्रशमः'** शान्तिरित्यर्थः।

(२) जन्ममरणादि-विविधदुःख-व्याप्तसंसारात् भयभीरुता **'संवेगः'** अर्थात् मोक्षं प्रति रागः।

(३) भवदेह-भोगेषूपरतिः **'निर्वेदः'** संसारं प्रति उद्वेगरित्यर्थः।

(४) सर्वभूतदया **'अनुकम्पा'** करुणाभावः।

(५) जीवादयोऽर्थाः यथास्वं सन्तीति मति **'आस्तिक्यं'** इति।

'तमेव सच्चं निःशङ्कं जं जिणेहि पवेइअं' इतिशास्त्रवचनमपि प्रोक्तं चेति प्रशमादि पंच लक्षणानि यस्मिन् भवेयुः सैव सम्यग्दर्शनी ज्ञातव्यः।

❋ सूत्रार्थ—**तत्त्वरूप अर्थों के श्रद्धान को या तत्त्वरूप से अर्थों के श्रद्धान करने को तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। इसी का नाम 'सम्यग्दर्शन' है ॥२॥**

卐 विवेचन 卐

आध्यात्मिक विकास के कारण जो तत्त्वनिश्चय की रुचि मात्र आत्मिक तृप्ति के लिए होती है, वही सम्यग्दर्शन है। अर्थात्—तत्त्वरूप जीवादि पदार्थों की श्रद्धा यानी जीवादि पदाथ जिस स्वरूप में हैं, उसी स्वरूप में मानना। आध्यात्मिक विकास से आत्मा में जो एक प्रकार का परिणाम हुआ है, वह ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप में जानने की, हेय को त्याग करने की और उपादेय को ग्रहण-स्वीकार करने की रुचिरूप **निश्चय सम्यक्त्व** है तथा उस रुचि के बल से होने वाली जो धर्मतत्त्व-निष्ठा है वही **व्यवहार सम्यक्त्व** है।

मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि से होता हुआ जो शुद्ध आत्मपरिणाम है वही मुख्य सम्यक्त्व है। उससे होती हुई तत्त्वार्थ श्रद्धा, वह औपचारिक सम्यक्त्व है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होते हुए जिस जीव का मन होता है उसको तत्त्वार्थ की श्रद्धा अवश्य होती है। जैनागमशास्त्र में सम्यग्दर्शन की पहचान कराने के लिए प्रशमादि पाँच लिङ्ग प्रतिपादित किये हैं। उनका स्वरूप क्रम से इस प्रकार है—

(१) **प्रशम**—तत्त्वपदार्थों के असत् पक्षपात से होने वाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम यानी शान्ति ही **प्रशम** है। क्रोधादि कषायों का उद्रेक न होना अर्थात् क्रोधाधिक का निग्रह करना यही **प्रशम** कहा जाता है। राग-द्वेष की ग्रन्थियों का भेद ही चित्त की तटस्थ वृत्ति होती है।

(२) **संवेग**—सांसारिक बन्धनों का भय ही **संवेग** है। अर्थात् जन्म और मरण आदि के अनेक दुःखों से व्याप्त ऐसे इस संसार को देखकर भयभीत होना और मोक्ष के प्रति राग रखना, यही **संवेग** कहा जाता है। इसमें सांसारिक सुख को दुःख रूप मानने का है।

(३) **निर्वेद**—संसार, शरीर और भोग इन तीनों विषयों में आसक्ति का कम हो जाना **निर्वेद** है। अर्थात् संसार के प्रति उद्वेग होना, यही निर्वेद कहा जाता है। इसमें सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा-इच्छा है।

(४) **अनुकम्पा**—दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की इच्छा **अनुकम्पा** है। अर्थात्—किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रखकर दुःखी जीवों के प्रति करुणा भाव रखना अनुकम्पा है। अनुकम्पा में प्राणी मात्र पर मैत्री भावना, परिणामों में जीवों को दुःखों से मुक्त करने की भावना और तदर्थ होने वाली प्रवृत्ति है।

(५) **आस्तिक्य**—जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप सर्वज्ञ वीतराग श्री अरिहन्त भगवान ने कहा है, वही सत्य है ऐसी अचल-अटल श्रद्धा **आस्तिक्य** भावना है। अर्थात्–जगत् में रहे हुए आत्मा आदि पदार्थों को अपने-अपने स्वरूप के अनुसार मानना। युक्ति-प्रमाणसिद्ध आत्मा आदि परोक्ष पदार्थों को भी स्वीकार करना यही **'आस्तिक्य'** कहा जाता है। इसमें परोक्ष होते हुए भी युक्ति, प्रमाण, नय आदि द्वारा सिद्ध होते हुए जीव पदार्थ का स्वीकार होता है।

इन प्रशम आदि पाँच लक्षणों द्वारा आत्मा में **सम्यग्दर्शन** गुण की पहचान हो सकती है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है ।।२।।

सम्यग्दर्शनस्योत्पत्तिप्रकाराः—

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।।३।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

तदेतत् सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद् वा उत्पद्यत इति द्विहेतुकं द्विविधं भवति। तद्यथा–निसर्गसम्यग्दर्शनं, अधिगमसम्यग्दर्शनं चेति। निसर्गः परिणामः स्वभावः

अपरोपदेश-इत्यनर्थान्तरम् । अनादिकालीनविश्वे परिभ्रमतः कर्मणः स्वकृतस्य विविधं पुण्यपापफलमनुभवतो जीवः ज्ञान-दर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् परिणामाध्यवसायानां स्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिकालीनमिथ्यादृष्टिवतोऽपि सतः परिणामाध्यवसायविशेषाद् अपूर्वकरणं तादृग् भवति । येनास्यानुपदेशात् सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते इति । तदेवं निसर्गसम्यग्दर्शनम् । **अधिगमः** अभिगमः आगमशास्त्रनिमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेवं परस्योपदेशाद् यत् तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति, तद् अधिगम-सम्यग्दर्शनं इति । सम्यग्दर्शनस्योत्पत्तिः अन्तरंग-बाह्याभ्याम् द्वाभ्यां निमित्ताभ्यां भवति । विशिष्टशुभात्मपरिणामान्तरंगभेदश्च गुरूपदेशादिबाह्यनिमित्तानि **निसर्गात्**=परस्योपदेशरहितक्षयोपशमादिस्वाभाविकपरिणामात् (अध्यवसायात्), अथवा **अधिगमाद्** =परस्योपदेशादिबाह्यनिमित्तत्वाद् अर्थात्–शास्त्रश्रवणाद् वा गुरोः सदुपदेशादिबाह्य-निमित्तत्वाच्च **सम्यग्दर्शनं** समुत्पद्यते ।।३।।

❀ सूत्रार्थ–**वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (पर के उपदेश बिना क्षयोपशम आदि स्वाभाविक परिणाम-अध्यवसाय मात्र) से और अधिगम (पर के उपदेश आदि बाह्य-निमित्त) से उत्पन्न होता है ।। ३ ।।**

卐 विवेचन 卐

पूर्व के सूत्र में **सम्यग्दर्शन** का लक्षण कहा गया है। वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। एक **निसर्गसम्यग्दर्शन** और दूसरा **अधिगमसम्यग्दर्शन**। निसर्ग=यानी बाह्य निमित्त बिना स्वाभाविक। अधिगम=यानी गुरु के उपदेश आदि बाह्य निमित्तपूर्वक।

(१) बाह्य निमित्त बिना स्वाभाविक परिणाम-अध्यवसाय मात्र से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन **निसर्गसम्यग्दर्शन** कहा जाता है।

(२) गुरु-उपदेश आदि बाह्य निमित्त से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन **अधिगमसम्यग्दर्शन** कहा जाता है।

पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की रुचि संसारवर्त्ती जीव को सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की अभिलाषाओं से होती है। जो धन, धान्य और प्रतिष्ठादि सांसारिक वासनाओं के लिए तत्त्वजिज्ञासा अर्थात् वस्तु-पदार्थ का ज्ञान होता है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। कारण कि उसका परिणाम मोक्ष की प्राप्ति नहीं होने से सिर्फ संसार की वृद्धि है। इसलिए कहा है कि आध्यात्मिक विकास के लिए जो तत्त्व की रुचि है वह केवल आत्मा की तृप्ति के लिए होती है, वही **सम्यग्दर्शन** है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अन्तरंग और बाह्य निमित्त से होती है। आत्मा के परिणाम अन्तरंग निमित्त हैं और गुरु का उपदेश आदि बाह्य निमित्त हैं। केवल अन्तरंग निमित्त से प्रगट होने वाला सम्यग्दर्शन **निसर्ग सम्यग्दर्शन** है और बाह्य निमित्त द्वारा अन्तरंग निमित्त से

प्रगट होने वाला सम्यग्दर्शन **अधिगमसम्यग्दर्शन** है। ऐसा होने में तद्-तद्जीव का **तथाभव्यत्व** कारण है।

प्रत्येक जीव में तथाभव्यत्व भिन्न-भिन्न होने से सम्यग्दर्शनादि गुण भी भिन्न-भिन्न रीति से भिन्न-भिन्न हेतुओं से प्राप्त होते हैं। इससे किसी जीव को निसर्ग से और किसी जीव को अधिगम से सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होती है। जिस जीव का जिस प्रकार का तथाभव्यत्व हो उसे वैसे ही मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति होती है, अनन्तर मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से भिन्नता—आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न हुआ आत्मा का परिणाम ही **निश्चय सम्यक्त्व** है। वह ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप से जानने की, हेय को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि रूप है। जिस रुचि के बल से धर्मतत्त्व की निष्ठा यानी जागृति उत्पन्न होती है वह **व्यवहार सम्यक्त्व** है। निश्चय और व्यवहार दृष्टि से दोनों सम्यक्त्व में पृथक्ता यानी भिन्नता है।

सम्यक्त्वी के चिह्न—जीव को सम्यग्दर्शन की अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई इसकी पहिचान के लिए पाँच लिङ्ग माने हैं, जिनके नाम हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

सम्यक्त्व के भेद—सम्यक्त्व के पाँच भेद हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, वेदक और सास्वादन। संसारवर्त्ती जीव जब जगत् में प्रथम बार ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब औपशमिक सम्यक्त्व पाता है।

हेतुभेद—आत्मा को जब सम्यग्दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उत्क्रान्ति यानी उन्नति होती है तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। किन्तु उसमें इस आविर्भाव के लिए किसी जीव को बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी जीव को अपेक्षा नहीं भी रहती है। जैसे कोई व्यक्ति अध्यापक यानी शिक्षक आदि की सहायता से शिल्पादि कलाओं को सीखता है और कोई व्यक्ति अन्य की सहायता बिना भी स्वयं ही सीख लेता है।

आन्तरिक हेतुओं-कारणों की समानता होते हुए भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा लेकर 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में सम्यग्दर्शन को निसर्ग सम्यग्दर्शन और अधिगम सम्यग्दर्शन इन दो भेदों में विभक्त किया है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—कोई जिनेश्वर भगवान आदि की मूर्ति-प्रतिमा इत्यादि धार्मिक वस्तुओं के अवलोकन से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। कोई गुरु के सदुपदेश से, शास्त्र के पठन-पाठन से तथा कोई सत्संग इत्यादिक से भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। निसर्ग, परिणाम, स्वभाव तथा अपरोपदेश ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। अधिगम, आगम, निमित्त, श्रवण और शिक्षा ये सब भी एकार्थवाची शब्द हैं।

सम्यक्त्व का उत्पत्तिक्रम—अनादिकालीन इस संसार के प्रवाह में अनन्तपुद्गलपरावर्तन पर्यन्त अनन्त दुःखों का अनुभव करते हुए जीव-आत्मा के तथाभव्यत्व का परिपाक हो जाने से नदीघोल-पाषाणन्याय से अनाभोग से उत्पन्न हुए आत्मा के विशिष्ट शुभ अध्यवसाय रूप यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा जब आयुष्य बिना सात कर्मों की स्थिति घट कर सिर्फ अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण अर्थात्

पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होती है, तब जीव-आत्मा राग-द्वेष की ग्रन्थि (यानी राग-द्वेष के तीव्र परिणाम) के पास आता है। राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को भेद कर आगे बढ़ने के लिए जीव-आत्मा को वीर्योल्लास की अति आवश्यकता रहती है। राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि तक आये हुए अनेक जीव पुनः वहाँ से पीछे फिरते हैं। वे आयुष्य बिना अन्य कर्मों की दीर्घ स्थिति को बाँधते हैं और संसार में परिभ्रमण करते हैं। कितने ही अभव्य जीव और दूरभव्यजीव इस राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि तक आकर भी ग्रन्थि का भेद न कर सकने से पीछे फिरते हैं तथा जो ग्रन्थि तक आये हुए आसन्न भव्य जीव हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास साधने की योग्यता प्रगटी है, वे ग्रन्थिभेद के लिए अवश्य ही आत्मा के अपूर्व वीर्योल्लास रूप अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की दुर्भेद्य निबिड़ ग्रन्थि को भेदते हैं। तत्पश्चाद् आत्मा के उत्तरोत्तर विशुद्ध अध्यवसाय रूप अनिवृत्तिकरण द्वारा जीव मिथ्यात्व की स्थिति पर अन्तर्मुहूर्त्त काल प्रमाण अन्तरकरण करता है।

मिथ्यात्वकर्म के दलिकों से रहित अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति को **अन्तरकरण** कहा जाता है। यह अन्तरकरण उदयक्षण से अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त की मिथ्यात्व की स्थिति से ऊपर की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति में रहे हुए मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से ले लेता है और इस स्थिति को तृण-घास बिना की उर्वर भूमि के समान मिथ्यात्व कर्म के दलिकों से रहित करता है। इस तरह अन्तरकरण होते हुए मिथ्यात्व कर्म की स्थिति के दो भाग होते हैं। उसमें एक भाग अन्तरकरण की नीचे की स्थिति का होता है और दूसरा भाग अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति का होता है। नीचे की स्थिति में मिथ्यात्व का उदय होने से जीव मिथ्यादृष्टि है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण का है। वह स्थिति समाप्त होते ही अन्तरकरण प्रारम्भ हो जाता है। उसके प्रथम समय से ही जीव **औपशमिक सम्यक्त्व** को पाता है। अब अन्तरकरण में रहा हुआ जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों को शुद्ध करता है। इससे उसके तीन पुंज बनते हैं—

(१) शुद्ध पुंज, (२) अर्धशुद्ध पुंज और (३) अविशुद्ध पुंज। इन तीनों पुंजों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) शुद्ध पुंज का नाम **सम्यक्त्व मोहनीय कर्म** है।

(२) अर्धशुद्ध पुंज का नाम **मिश्र मोहनीय कर्म** है।

(३) अविशुद्ध पुंज का नाम **मिथ्यात्व मोहनीय कर्म** है।

इसकी व्याख्या के लिए 'कोदरा' (कोदों) धान्य का उदाहरण कहा जाता है। जैसे— नशा उत्पन्न करने वाले कोदरा को शुद्ध करते हुए उसमें से कितना ही भाग शुद्ध होता है, कितना ही भाग अर्धशुद्ध होता है और कितना ही भाग अशुद्ध ही रहता है; वैसे ही इधर भी जीव-आत्मा द्वारा मिथ्यात्व के दलिकों को शुद्ध करते हुए कितने ही दलिक शुद्ध होते हैं, कितने ही दलिक अर्द्धशुद्ध होते हैं तथा कितने ही दलिक अशुद्ध ही रहते हैं।

अन्तरकरण का काल पूर्ण होते ही जो शुद्ध पुंज का अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय हो जाय तो जीव-आत्मा **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** पाता है, अर्द्धशुद्ध पुंज का अर्थात् मिश्र

मोहनीय कर्म का उदय हो जाय तो **मिश्र सम्यक्त्व** पाता है तथा अशुद्ध पुंज का अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय हो जाय तो मिथ्यात्व पाता है।

सारांश यह है कि संसार में अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हुए भव्य जीव-भव्यात्मा किसी भी समय विशुद्धपरिणामी हो जाता है। इस विशुद्ध आत्म-परिणामधारा को ही अपूर्वकरण कहते हैं। इससे तात्त्विक पक्षपात की बाधक रागद्वेष की तीव्रता मिट जाती है तथा आत्मा सत्यता के लिए जागृत हो जाती है। इस प्रकार की आध्यात्मिक जागृति को सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व की उत्पत्ति का क्रम है। इसे विशेषता से जानने के लिए सैद्धान्तिक तथा कार्मग्रन्थिक शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिए। क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए कार्मग्रन्थिक तथा सैद्धान्तिक दो मत हैं। इनमें कार्मग्रन्थिक मत से जीव-आत्मा सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही प्राप्त करता है। सैद्धान्तिक मत से औपशमिक या क्षायोपशमिक इन दोनों में से कोई भी एक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। (१-३)

सार रूप में कहें तो अरिहन्त भगवन्तों में देवबुद्धि, कंचन एवं कामिनी के त्यागी गुरु में गुरुबुद्धि एवं जिनेश्वर प्रणीत तत्त्वों में श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। श्रद्धा जीवन के मुख्य गुणों को स्थिर कर विकास का ही साधन है। यह कोई बाह्यहेतु नहीं है, यह तो आत्मिक गुण है। श्रद्धा ही जीवन-चरित्र है एवं अयोग्य में विश्रद्धा, योग्य में सुश्रद्धा ही श्रद्धा-शुद्धि है।

तत्त्वनामानि—

जीवाऽजीवाऽस्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीव-अजीव-आस्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्। अथवा एते सप्त पदार्थाः तत्त्वानि सन्ति। अर्थात् जीवः, अजीवः, आस्त्रवः, बन्धः संवरः निर्जरा मोक्षश्चैते सप्तसंज्ञका एव तत्त्वानि भवन्ति इत्यर्थः। एतान् लक्षणतो विधानतश्च पुरस्तात् उपदेक्ष्यामः। **तत्त्वार्थसारस्यानुसारम्**—

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा।
स एवासिद्धनोसिद्ध-सिद्धत्वात् कीर्त्यते त्रिधा ॥ २३४ ॥

श्वाभ्रतिर्यग्नरामर्त्य - विकल्पात् स चतुर्विधः।
प्रशमक्षयतद्द्वन्द्व - परिणामोदयोद्भवात् ॥ २३५ ॥

भावात्पंच - विधत्वात् स पंचभेदः प्ररूप्यते।
षड्मार्गगमनात् षोढा सप्तधा सप्तभंगतः ॥ २३६ ॥

अष्टधाष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मवृतोऽपि च ।
पदार्थनवकात्मत्वान्नवधा दशधा तु सः ।
दशजीवभिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम् ।। २३७ ।।(षट्पदम्)

❀ सूत्रार्थ–(१) **जीव,** (२) **अजीव,** (३) **आस्रव,** (४) **बन्ध,** (५) **संवर,** (६) **निर्जरा और** (७) **मोक्ष ये सात तत्त्व हैं ।। ४ ।।**

卐 विवेचन 卐

नवतत्त्वप्रकरणम् इत्यादि कई ग्रन्थों में **पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व** को पृथक् मानकर **नौ तत्त्व** कहे हैं, किन्तु यहाँ तो इनको आस्रवतत्त्व और बन्धतत्त्व के अन्तर्गत मानकर सात ही तत्त्व प्रतिपादित किये गये हैं। मूल में तत्त्व दो ही आते हैं। जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व। सर्व सामान्य की अपेक्षा जीवद्रव्य का एक ही भेद माना है और अजीवद्रव्य के पाँच भेद माने हैं जिनके नाम हैं—(१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और (५) काल। इन्हीं छह को षड्द्रव्य कहने में आता है। किन्तु इतने से ही मोक्षमार्ग का स्पष्टीकरण नहीं होता। इसलिए सात तत्त्वों को भी अवश्य जानना चाहिए। ये सातों तत्त्व जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य के संयोग से ही निष्पन्न होते हैं।

संक्षेप में इन सात तत्त्वों का स्वरूप इस प्रकार है—तत्त्व=तत्+त्व, उसमें **'तत्'** शब्द है और **'त्व'** प्रत्यय है। तत् यानी ते=अर्थात् लोक और अलोक रूप विश्व। ऐसे विश्व का **त्व** यानी **पणा,** अर्थात् ऐसे विश्व-जगत् का मूल वह **'तत्त्व'** है। अर्थात्—इस विश्व में जो कोई भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखाई देते हैं और प्रत्येक प्राणी जिस तरह जीवित है तथा जिस तरह जीना चाहिए, इन प्रत्येक के जो मूल पदार्थ हैं, उन्हें **'तत्त्व'** कहा जाता है। जैसे—हम जितने जीवित जीवों को देख रहे हैं, उन सभी का मूल जीव तत्त्व है; वैसे हम घट और पट इत्यादि जितनी जड़ वस्तुएँ भी देख रहे हैं, उन सभी का मूल **अजीव तत्त्व** है।

❀ तत्त्वों का सामान्य अर्थ ❀

(१) **जीव—'जीवति-प्राणान् धारयतीति जीवः।'** जो जीवे अर्थात् प्राणों को धारण करे वह **'जीव'** कहलाता है। अर्थात्—जो चेतना गुण से युक्त है या जो ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग को **धारण** करने वाला है, वही **जीव है**। विश्व-लोक में वह मुख्य तत्त्व है, इसलिए इस तत्त्व को **'जीव तत्त्व'** कहते हैं। इसमें देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगति के सर्व जीव आते हैं। मोक्ष में भी जितने जीव हैं, वे सभी जीवतत्त्व में ही आ जाते हैं।

(२) **अजीव**—जो जीव के लक्षण से या जीव के स्वभाव से विपरीत हो अर्थात् चैतन्य लक्षण रहित हो और सुख एवं दुःख का अनुभव भी जिसको न हो, वह जड़ लक्षण वाला **अजीव** है। वही **अजीव तत्त्व** कहा जाता है। जितने जड़ पदार्थ विश्व में हैं, वे सभी इसी अजीव तत्त्व में आ जाते हैं। जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय तथा काल द्रव्य।

(३) **आस्रव**—शुभकर्म का या अशुभकर्म का आगमन, वह **आस्रव** है।

❀ आ समन्तात् स्रवः **'आस्रवः'**। अर्थात्—सर्व तरफ से स्रवना—आना वह **आस्रव** कहा जाता है।

❀ आश्रूयते—उपादीयते **'आस्रवः'**। अर्थात्—जिससे कर्म का ग्रहण किया जाय, वह **आस्रव है**।

❀ अथवा, 'आश्नाति-आदत्ते कर्म यैस्ते **'आस्रवाः'**। अर्थात्—जीव जिसके द्वारा कर्म को ग्रहण करता है, वह **आस्रव** है।

❀ आश्रीयते-उपार्ज्यते कर्म एभिरित्यास्रवाः। अर्थात्—जिसके द्वारा कर्म उपार्जित किया जाय, वह **आस्रव** है।

❀ अथवा स्रवति क्षरति जलं सूक्ष्मरन्ध्रेषु **यैस्ते आस्रवाः**। अर्थात्—सूक्ष्म छिद्रों में होकर जल रूपी कर्म जो झरता है अर्थात् प्रवेश करता है, वह भी **आस्रव है**। जैसे—नौका में पड़े हुए सूक्ष्म छिद्रों के द्वारा जल का प्रवेश होने पर जैसे नौका समुद्र में डूबती है, वैसे ही इधर भी हिंसादि छिद्रों के द्वारा जीव रूपी नौका में कर्म रूपी जल का प्रवेश हो जाने से जीव संसार रूपी समुद्र में डूबता है। इसलिए कर्म का आगमन वह आस्रव है। इतना ही नहीं किन्तु कर्म के आने के लिए जो हिंसादि मार्ग हैं, वे भी **आस्रव** कहे जाते हैं।

सारांश यह है कि जीव और अजीव का (यानी पुद्गल का) संयोग होने पर नूतन कार्माण-वर्गणाओं के आने को आस्रव कहते हैं। अथवा जिन मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा कर्म आते हैं, उनको भी आस्रव कहते हैं। कर्मों के आत्मा में आने का द्वार ही **आस्रव** है। इसमें कर्म पुद्गलों यानी कार्माण वर्गणाओं का आना वह **द्रव्य आस्रव** है और द्रव्य आस्रव में कारणभूत मन-वचन-काया की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति (यानी योग) वह **भाव आस्रव** है।

(४) **बन्ध**—जीवात्मा और कर्म के एकक्षेत्रावगाह को **बन्ध** कहते हैं। अर्थात् जीव-आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का क्षीरनीरवत् एकमेकरूप जो सम्बन्ध होता है, वह **'द्रव्यबन्ध'** है तथा द्रव्य सम्बन्ध में कारणभूत जीव-आत्मा का अध्यवसाय परिणाम है, वह **'भावबन्ध'** है।

(५) **संवर—संव्रियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन सः संवरः** शुभ या अशुभ कर्मों के न आने को अथवा आत्मा के जिन परिणामों के निमित्त से शुभाशुभ कर्मों का आना रुक जाय उसे संवर कहते हैं। या कर्म और उसका हेतु प्राणातिपातादि जो आत्म परिणाम द्वारा संवराय, रोका जाय उसे संवर कहते हैं। अर्थात्—जीव-आत्मा में आते हुए कर्मों को जो रोकता है वह संवर है। समिति-गुप्ति आदि द्रव्यसंवर है तथा द्रव्यसंवर से उत्पन्न होता हुआ जीव-आत्मा का परिणाम या द्रव्यसंवर के कारणभूत जीव-आत्मा का परिणाम वह **भावसंवर** है। अथवा शुभाशुभ कर्मों का जीव-आत्मा में न आना वह **द्रव्यसंवर** है और द्रव्यसंवर में कारणरूप समिति-गुप्ति आदि भावसंवर है। सारांश यह है कि आस्रव का जो निरोध होता है, वह **संवर-तत्त्व** है।

(६) **निर्जरा**—'निर्ज्जरणं विशरणं परिशटनं निर्ज्जरा।' अर्थात्—कर्म का बिखरना, झरना, सड़ना, विनाश को प्राप्त करना यही निर्ज्जरा तत्त्व है। कर्मों का एकदेशरूप से जीव-आत्मा से सम्बन्ध छूट जाने को **निर्जरा** कहते हैं। आत्मप्रदेशों से कर्मपुद्गलों का जो मुक्त होना, यही **द्रव्यनिर्जरा** है। द्रव्यनिर्जरा में कारणभूत जीव-आत्मा के शुद्ध परिणाम, या द्रव्यनिर्जरा से उत्पन्न होता हुआ आत्मा का शुद्ध अध्यवसाय यानी परिणाम, यह भावनिर्जरा है।

(७) **मोक्ष**—जीव-आत्मा से कर्मों के सम्बन्ध के सर्वथा छूट जाने को **मोक्ष** कहते हैं। अर्थात्—कर्मों का सर्वथाक्षय हो जाना वह **द्रव्य मोक्ष** है तथा कर्मों के सर्वथा क्षय होने में कारण रूप जो आत्मा का निर्मल अध्यवसाय-परिणाम यानी सर्वसंवरभाव, अबन्धकता, शैलेशीभाव या चतुर्थ शुक्लध्यान है, वह **भावमोक्ष** है। अथवा आत्मा में सिद्धत्व परिणति है, वह भी **भावमोक्ष** है। सारांश यह है कि—आत्मा में रहे हुए समस्त कर्मों का क्षय वह **द्रव्यमोक्ष** है और द्रव्यमोक्ष में कारणभूत आत्मा के निर्मल परिणाम, या द्रव्यमोक्ष से होता आत्मा का निर्मल परिणाम, वह **भावमोक्ष** है।

❀ तत्त्वों का प्रयोजन ❀

इस शास्त्र का मुख्य विषय मोक्ष है। मोक्ष के अर्थी जीवों के लिए जिन वस्तु-पदार्थों का ज्ञान अति आवश्यक है, उन्हीं वस्तुओं को यहाँ पर तत्त्व स्वरूप में प्रतिपादित किया है। इस ज्ञान की पूर्ति के लिए इधर सात तत्त्वों का कथन है।

जीवतत्त्व के कथन से मोक्ष के अधिकारी का निर्देश होता है। **अजीवतत्त्व** के कथन से ऐसा सूचित होता है कि विश्व में एक ऐसा भी तत्त्व है कि जो जड़ होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। **बंधतत्त्व** के कथन से मोक्ष के विरोधी भाव और **आस्रवतत्त्व** के कथन से यही विरोधी भाव का कारण बताया है। **संवरतत्त्व** के कथन से मोक्ष का कारण और **निर्जरातत्त्व** के कथन से **मोक्ष** का क्रम बताया है।

इन तत्त्वों को जानकर हेय तत्त्व का त्याग करना चाहिए और उपादेय तत्त्वों का सेवन करना चाहिए। **विश्व में हेय तत्त्वों का त्याग और उपादेय तत्त्वों का सेवन-ग्रहण; यही तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है।**

आगमशास्त्रों में कहा है कि सर्व तत्त्व **ज्ञेय** हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार तत्त्व **उपादेय** हैं तथा अजीव, आस्रव और बन्ध ये तीन तत्त्व **हेय** हैं। नौ तत्त्वों की अपेक्षा विचारेंगे तो पापतत्त्व सर्वथा हेय है और पुण्यतत्त्व अपेक्षा से हेय है तथा उपादेय भी है। अशुद्ध पुण्य सर्वथा हेय ही है। शुद्ध पुण्य तो व्यवहार से अमुक कक्षा पर्यन्त ही उपादेय है। शुद्ध पुण्य भोमिया के समान जीव-आत्मा को आध्यात्मिक विकास साधने में सहायक होता है तथा कार्य पूर्ण होते ही चला जाता है। इसलिए अपेक्षा से पुण्य उपादेय है, ऐसा कहा है, किन्तु निश्चय से तो शुद्ध पुण्य भी हेय है। कारण कि वह जीव-आत्मा की स्वतन्त्रता को रोकता है। आगमशास्त्र में पुण्य कर्म को सुवर्ण की बेड़ी के समान कहा है और पाप कर्म को लोहे की बेड़ी के समान कहा है। सभी कर्म जीव-आत्मा की स्वतन्त्रता को रोकते हैं, इसलिये कर्ममात्र बेड़ी के समान है। जहाँ तक जीव-आत्मा कर्मों की बेड़ी में बँधा हुआ है, वहाँ तक परतन्त्र ही है।

❀ तत्त्वों का सम्बन्ध ❀

प्रश्न—जीवादितत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध कैसा है ? इसके **उत्तर** में कहा है कि जीवतत्त्व में अजीव तत्त्व कर्म का आस्रव-प्रवेश होता है। इससे कर्म का बन्ध पड़ता है। जीव-आत्मा के साथ अजीव-कर्मपुद्गल क्षीरनीर के समान एकाकार बन जाते हैं। जब कर्म का उदय होता है तब जीव को संसार में परिभ्रमण और दुःख का अनुभव होता है। इसलिए दुःख का मूल कारण **आस्रव तत्त्व** है। इसे दूर करने के लिए आत्मा को आस्रव का निरोध करना चाहिए। अर्थात् आस्रव द्वारा आते हुए कर्म को संवर द्वारा हटाना चाहिए। आस्रव का द्वार बन्द करने में संवर ही काम करता है। अब पूर्व काल में बँधे हुए कर्मों का विनाश करने के लिए निर्जरातत्त्व की आवश्यकता है। संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व से आत्मा सर्वथा कर्मरहित हो जाता है। जीव-आत्मा की सर्वथा कर्म रहित जो अवस्था है वही **मोक्ष** है।

❀ तत्त्वों में संख्याभेद ❀

जीवादि नौ तत्त्वों का एक-दूसरे में यथायोग्य समावेश करने से सात तत्त्व, पाँच तत्त्व, अथवा दो तत्त्व भी गिने जाते हैं। जैसे—शुभ कर्म का आस्रव वह पुण्य है और अशुभ कर्म का आस्रव वह पाप है। इस कारण से पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व को आस्रवतत्त्व में गिनें तो **सात तत्त्व** होते हैं।

अथवा, आस्रवतत्त्व, पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व को बन्धतत्त्व में गिनें; तथा निर्जरा और मोक्ष इन दोनों में से कोई भी एक गिनें तो **पाँच तत्त्व** होते हैं। अथवा, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व और मोक्षतत्त्व ये तीन जीवस्वरूप हैं। इसलिए जीवतत्त्व में इन तीनों को गिनें तो (१) जीवतत्त्व और (२) अजीवतत्त्व ये दो ही तत्त्व हैं। इत्यादि विवक्षाभेद होते हुए भी प्रस्तुत इस शास्त्र ग्रन्थ में तो सात तत्त्वों का ही नाम निर्देशपूर्वक निरूपण किया है।

❀ तत्त्वों में जीव और अजीव ❀

जीव यह जीवतत्त्व है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व भी जीवस्वरूप (यानी जीव-परिणाम) होने से या जीव के स्वभाव रूप होने से जीवतत्त्व हैं। इसलिए जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार जीवतत्त्व हैं। शेष पाँच तत्त्व अजीव हैं। उनमें पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चारों कर्म के परिणाम होने से अजीव हैं। अर्थात् ये चारों अजीवतत्त्व में गिने जाते हैं।

❀ तत्त्वों में रूपी और अरूपी ❀

विश्व में वास्तविक रीति से जीवतत्त्व अरूपी ही है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तो देहधारी होने से रूपी भी कहा है। संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व और मोक्षतत्त्व ये तीन जीव के परिणाम रूप होने से अरूपी हैं तथा पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व, आस्रवतत्त्व एवं बन्धतत्त्व ये चारों कर्म के परिणाम होने से रूपी हैं। अजीवतत्त्व में रूपी और अरूपी दोनों प्रकार आते हैं। कारण कि धर्मास्तिकाय इत्यादि अरूपी हैं और केवल एक पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। इस कारण से **'नवतत्त्व प्रकरण'** में अजीवतत्त्व के चार भेद रूपी और दस भेद अरूपित्व से कहे हैं।

❀ तत्त्वों में हेय, ज्ञेय और उपादेय ❀

श्री **नवतत्त्व प्रकरण** ग्रन्थ में नवतत्त्वों के नामों का निर्देश इस प्रकार है—

जीवाऽजीवा पुण्णं, पावाऽऽसंवरो य निज्जरणा।
बन्धो मुक्खो य तहा, नवतत्ता हुंति नायव्वा।। १।।

अर्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर और निर्जरा तथा बन्ध और मोक्ष; ये नवतत्त्व जानने योग्य हैं।

❀ यन्त्र ❀

संख्या	नौ तत्त्वों के नाम	हेय	ज्ञेय	उपादेय	जीव	अजीव	रूपी	अरूपी
१	जीवतत्त्व	०	१	०	१	०	१	०
२	अजीवतत्त्व	०	१	०	०	१	१	१
३	पुण्यतत्त्व	१	०	१	०	१	१	०
४	पापतत्त्व	१	०	०	०	१	१	०
५	आस्रवतत्त्व	१	०	०	०	१	१	०
६	संवरतत्त्व	०	०	१	१	०	०	१
७	निर्जरातत्त्व	०	०	१	१	०	०	१
८	बन्धतत्त्व	१	०	०	०	१	१	०
९	मोक्षतत्त्व	०	०	१	१	०	०	१
		४	२	४	४	५	६	४

अब इन नवतत्त्वों में हेय, ज्ञेय और उपादेय कौन-कौन हैं ? तो कहते हैं कि—जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व दोनों **ज्ञेय** यानी जानने योग्य हैं ।

पुण्यतत्त्व मोक्ष में विघ्नरूप नहीं है, तो भी मोक्ष के मार्ग में भोमिया (वलावा) समान है । इसलिए व्यवहारनय से उपादेय यानी आदरणीय है, किन्तु मार्ग दिखाने वाले भोमिया को इष्ट नगर पहुँचने के पश्चाद् जैसे छोड़ देते हैं, वैसे ही इधर भी निश्चयनय से तो पुण्यतत्त्व भी हेय यानी छोड़ने योग्य है । कारण कि पुण्यतत्त्व शुभकर्म होते हुए भी सोने की बेड़ी समान है और पापतत्त्व लोहे की वेड़ी के समान है । पुण्य और पाप दोनों कर्मों का सर्वथा क्षय जब हो जाय तब ही आत्मा की मुक्ति होती है । निश्चय से तो पुण्यकर्मरूप पुण्यतत्त्व हेय यानी छोड़ने योग्य होते हुए भी श्रावक-श्राविकाओं को उपादेय यानी आदर के योग्य हैं । श्रमण-श्रमणियों को तो अपवाद मार्ग ही आदरने योग्य है तथा पापतत्त्व हेय यानी छोड़ने योग्य है । आस्रवतत्त्व कर्म के आगमन रूप होने से हेय है और संवरतत्त्व तथा निर्ज्जरातत्त्व ये दोनों तत्त्व जीव-आत्मा के स्वभाव रूप होने से उपादेय हैं । बन्धतत्त्व हेय है और मोक्षतत्त्व उपादेय है ।

वास्तविक रीति से नवतत्त्व ज्ञेय हैं । तो भी विशेष रूप में कहा है कि—

हेया बंधासवपावा, जीवाऽजीव हुंति विन्नेया ।
संवर-निज्जर मुक्खो, पुण्णं हुंति उवाएए ।। १ ।।

अर्थात्—(१) (पुण्य), पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व **हेय** में जानना । (२) जीव और अजीवतत्त्व **ज्ञेय** में जानना । (३) संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्यतत्त्व **उपादेय** में जानना ।

❀ **तत्त्वानां निक्षेपस्य निर्देशः** ❀

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।। ५ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीवादीनां तत्त्वानां पदार्थानां नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैर्न्यासो निक्षेपो व्यवहारो भवति । विस्तरेण लक्षणं भेदञ्च ज्ञातुं विभागीकरणमेव, न्यासो निक्षेपः कथ्यते इत्यर्थः । तद्यथा—नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीवश्चेति । अनर्थान्तरमिति नाम संज्ञा कर्म ।

(१) सचेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य 'जीव' इति नामकरणं **नामजीवः** । अथवा—यस्य जीवस्याऽजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यं ज्ञेयम् । अत्र **नामनिक्षेपो** वर्त्तते ।

(२) यः काष्ठपुस्तकचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु 'जीव' इत्येवंरूपा स्थापना स

स्थापना जीवः। अथवा–यत् काष्ठपुस्तकचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत् **स्थापनाद्रव्यं** ज्ञेयम्। यथा–देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति। **अत्र स्थापना निक्षेपो** वर्त्तते।

(३) द्रव्यजीव इति गुणपर्यायरहितः, बुद्धया परिकल्पितोऽनादिपारिणामिकभावसंयुक्तो जीवः स एव **द्रव्यजीवः**। अथवा–द्रव्यं द्रव्यनाम गुणपर्यायरहितं प्रज्ञास्थापितं धर्मादीनामन्यतमत्। अत्र केचिदप्याहुः–यद् द्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति। यथा सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते अणवः स्कन्धाश्चेति। तद्भङ्गः शून्यमेवप्रतिभाति। यतोऽजीवस्य यदि सजीवत्वं भवेत् तदैव द्रव्यजीव इति कथ्येत तद् भवितुन्नार्हति। अत्र हि द्रव्यनिक्षेपो वर्त्तते।

(४) भावतो जीवा औपशमिक-क्षायिक-क्षायौपशमिकौदयिक-पारिणामिकभावसंयुक्ता उपयोगलक्षणा एव। सोऽपि संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधाः। एवमजीवादिषु सर्वपदार्थेषु ज्ञातव्यमिति। अत्र हि भावनिक्षेपो वर्त्तते।

एवं निखिलानामनादीनामादिमतां च जीवाऽजीवादीनां भावानां मोक्षपर्यन्तानां तत्त्वार्थाधिगमार्थं न्यासः कार्यः, अर्थात् निक्षेपः कार्य इति ॥ ५ ॥

❀ सूत्रार्थ–**नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार अनुयोगों के द्वारा जीवादितत्त्वों का न्यास-निक्षेप अर्थात् लोकव्यवहार होता है ॥ ५ ॥**

卐 विवेचन 卐

विश्व के सर्व व्यवहार और ज्ञान-भाव के लिए मुख्य साधन भाषा हो है। वह भाषा शब्दों से बनती है। वे शब्द प्रयोजन अथवा प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थ वाले होते हैं। इसलिए इनके ज्यादा विभाग न कर सकें तो भी कम से कम चार विभाग अवश्य हो करने चाहिए। लक्षण और भेदों के द्वारा विश्व के पदार्थों का ज्ञान जिससे विस्तार के साथ हो सके, ऐसे व्यवहार रूप उपाय को **न्यास** या **निक्षेप** कहते हैं। इनके अवबोध से जिज्ञासुओं को तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों के द्वारा जीवादितत्त्वों के न्यास-निक्षेप-व्यवहार का निर्देश है। इससे यह ज्ञात होगा कि जो शब्द सम्यग्दर्शन और विश्व के जीवादितत्त्वों में व्यवहृत किये जाते हैं, वे मोक्ष की और मोक्षमार्ग की सार्थकता को कैसे प्राप्त करा सकते हैं, उनका दिग्दर्शन इन नामादि चार निक्षेपों से कराते हैं—

(१) **नामनिक्षेप**—वस्तु-पदार्थ का जो नाम होता है वह **नामनिक्षेप** है अर्थात् जिस शब्द की व्युत्पत्ति आदि से भी सार्थकता सिद्ध नहीं होती है, केवल लोकरूढ़ि से ही संकेतित है उसको **नामनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—जीव या अजीव किसी भी द्रव्य की **'जीव'** ऐसी संज्ञा रख देने से उसको **नामजीव** कहते हैं।

(२) **स्थापना निक्षेप**—स्थापना यानी आकृति-प्रतिबिम्ब। किसी भी काष्ठ, पुस्त, चित्र, अक्ष निक्षेपादि में **'यह जीव है'** इस तरह का जो आरोपण करते हैं, उसे **स्थापना जीव** कहते हैं। जैसे—देवताओं की मूर्त्ति-आकृति आदि में कि ये इन्द्र हैं, ये रुद्र हैं, ये स्कन्द हैं, या ये विष्णु हैं, इत्यादि। किसी भी वस्तु-पदार्थ में अन्य वस्तु-पदार्थ का आरोपण करने को **'वह यही वस्तु-पदार्थ है' स्थापना निक्षेप** कहते हैं। चाहे वह वस्तु उसके समान आकार को धारण करने वाली हो या न हो तो भी। जैसे—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के आकार वाली मूर्त्ति-प्रतिमा में यह आरोपण करना कि ये वे ही श्रमण भगवान महावीर स्वामी हैं, जिन्होंने देवरचित दिव्य समवसरण में बैठकर जगत् की जनता को मोक्ष के मार्ग का सद्धर्मोपदेश दिया था। इसको **साकार** में **स्थापना निक्षेप** समझना चाहिए और कोई शतरंजादि मोहरों में जो राजा, मन्त्री, हाथी, घोड़ा आदि का आरोपण करते हैं, उसको अतदाकार में स्थापना निक्षेप कहना चाहिए। इधर **प्रश्न** यह होगा कि नाम और स्थापना निक्षेप में गुणों की अपेक्षा नहीं रखी जाती है, तो फिर दोनों में अन्तर क्या? इसका **उत्तर** यह है कि नामनिक्षेप में गुणों की अपेक्षा का जैसा सर्वथा अभाव है, वैसा स्थापना निक्षेप में नहीं है। कारण कि नाम रखने में किसी प्रकार का नियम नहीं है, किन्तु स्थापना के लिए तो अनेक प्रकार के नियम कहे हैं और अन्य बात यह भी है कि नाम में आदर-सत्कार का अनुग्रह नहीं होता है, किन्तु स्थापना में वह अवश्य ही होता है। जिस मूर्त्ति-प्रतिमा में जिसकी स्थापना की गई है, सो उस मूर्ति का भी तद्समान ही आदर-सत्कार-बहुमान होता है। जैसे—श्री ऋषभदेव भगवान की मूर्त्ति में ऋषभदेव भगवान की स्थापना की गई है, तो उस मूर्त्ति-प्रतिमा का भी अवश्य ही श्री ऋषभदेव भगवान के समान आदर-सत्कार बहुमान किया जाता है।

(३) **द्रव्यनिक्षेप**—वस्तु—पदार्थ की भूतकाल की या भविष्यत्काल की जो अवस्था है, वही **द्रव्यनिक्षेप** है। अर्थात् जो अर्थ भावनिक्षेप की पूर्व अवस्था रूप हो या उत्तर अवस्था रूप हो, उसे ही **द्रव्यनिक्षेप** कहते हैं। सारांश यह है कि किसी भी वस्तु-पदार्थ की आगे जो पर्याय होने वाली है, उसको पूर्व से ही उस पर्याय रूप कहना इसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे—किसी राजपुत्र को या युवराज को राजा कहना। क्योंकि वह वर्त्तमानकाल में राजा नहीं है, किन्तु भविष्यत्काल में होने वाला है। इसलिए उसको वर्त्तमानकाल में राजा कहना यह द्रव्यनिक्षेप का विषय है। अथवा अतीत अनागत पर्याय रूप से वर्त्तमान वस्तु-पदार्थ के व्यवहार करने को **द्रव्यनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—राज्य छोड़ देने वाले को भी राजा-महाराजा कहना, भूतपूर्व महाराजा इत्यादि। वह द्रव्यनिक्षेप है।

(४) **भावनिक्षेप**—विश्व में रही हुई वस्तु-पदार्थ की वर्त्तमान अवस्था। अर्थात् किसी भी वस्तु-पदार्थ का उसकी वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा कथन करना सो ही **भावनिक्षेप** है। सारांश यह है कि जो शब्द पूर्ण रूप से व्यापत्ति और प्रवृत्ति से अर्थयुक्त हो, उसको **भावनिक्षेप** कहते हैं। जैसे कि—वर्त्तमान में राज्य करता है, इसलिए उसको राजा कहना। अथवा मनुष्य पर्याय युक्त जीव को मनुष्य कहना, इत्यादि।

जिस तरह से इन नामादि चार निक्षेपों को यहाँ पर जीव द्रव्य की अपेक्षा घटित करके बताया है, उसी तरह विश्व के सर्व द्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा सम्यग्दर्शन इत्यादि की अपेक्षा भी

घटित करना चाहिए। जीवादि तत्त्वों का भी नामादि चार निक्षेप जान करके अर्थ का विभाग करना चाहिए, किन्तु मोक्षमार्ग के लिए तो उनको एकभावरूप जानें। कारण कि भावनिक्षेप बिना प्रथम के तीनों निक्षेप निष्फल हैं। निक्षेप जो हैं वे मूल वस्तु-पदार्थ के पर्याय हैं, इतना ही नहीं किन्तु स्वधर्म हैं। इसलिए तो **विशेषावश्यक भाष्य** में कहा है कि—**'चत्तारो वत्थु पज्झवा।'** **श्रीअनुयोगद्वार सूत्र** में भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

द्रव्य और भाव ये दोनों निक्षेप सापेक्ष हैं। इसलिए तो एक ही वस्तु-पदार्थ का एक अपेक्षा से द्रव्यनिक्षेप में और दूसरी अपेक्षा से भावनिक्षेप में भी समावेश किया जाता है। जैसे—दधि यानी दही शिखण्ड की अपेक्षा से द्रव्य शिखण्ड है, दूध की अपेक्षा से द्रव्य दूध है और दही की अपेक्षा से भाव दही है। इसी तरह अन्य घट, पट इत्यादि में भी समझना। यहाँ पर इतना ध्यान अवश्य ही रखना है कि—जो वस्तु भावनिक्षेप से पूज्य या त्याज्य है, उस वस्तु के अन्य तीन निक्षेप भी पूज्य या त्याज्य हैं ॥ ५ ॥

❀ तत्त्वज्ञानस्योपायः ❀

प्रमाण-नयैरधिगमः ॥ ६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्त-जीवादितत्त्वानां प्रमाणाद् नयाद् वा अधिगमं-ज्ञानं जायते। येन पदार्थस्य सर्वदेशानां अर्थात् प्रत्येकमंशस्य ज्ञानं भवति तत् **प्रमाणम्,** एवं येन पदार्थस्य केवलमेकदेशः अर्थात् कश्चिदेवांशो ज्ञायते स **नयः** कथ्यते। तत्र प्रमाणं द्विविधं परोक्षं प्रत्यक्षं चाऽग्रे वक्ष्यते। नयवादान्तरेण। नयाश्च नैगमादयोऽपि अग्रे वक्ष्यन्ते एव ॥ ६ ॥

❀ सूत्रार्थ—**[जीवादि तत्त्वों-पदार्थों का] प्रमाण और नयों से अधिगम होता है अर्थात् ज्ञान-बोध होता है। उसमें प्रमाण वस्तु-पदार्थ के सर्वांश को ग्रहण करता है और नय वस्तु-पदार्थ के एक अंश को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥**

卐 विवेचन 卐

जिससे वस्तु का निर्णयात्मक बोध होता है, वह ज्ञान है। विश्व में किसी भी वस्तु का निर्णयात्मक अधिगम-ज्ञान-बोध प्रमाण और नय द्वारा ही होता है। इसलिए प्रमाण और नय ज्ञान स्वरूप ही हैं। अर्थात् जीवादि तत्त्वों के जानने का ज्ञानरूप उपाय-साधन प्रमाण और नय इस तरह दो प्रकार का है। जिससे वस्तु के नित्य-अनित्यादि अनेक धर्मों का निर्णयात्मक ज्ञान-बोध होता है, उसे **'प्रमाण'** कहते हैं तथा जिससे वस्तु के नित्य-अनित्यादि किसी भी एक धर्म का निर्णयात्मक ज्ञान-बोध होता है, उसे **'नय'** कहते हैं। अर्थात् सम्यग्ज्ञान को **प्रमाण** और प्रमाण के एकदेश-अंश को **नय** कहा जाता है।

प्रमाण से वस्तु का पूर्ण बोध होता है और नय से वस्तु का अपूर्ण या आंशिक बोध होता है। जैसे कि **'आत्मा नित्य है कि अनित्य है ?'** इस **प्रश्न** के **उत्तर** में कहते हैं कि—'आत्मा नित्याऽनित्य है।' इस प्रमाण वाक्य से नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म की दृष्टि से आत्मा का पूर्ण रूप से बोध होता है। 'आत्मा नित्य है' इस प्रकार के नय वाक्य से आत्मा का केवल नित्य रूप से बोध होता है, किन्तु 'आत्मा अनित्य भी है' ऐसा बोध नहीं होता है। इस तरह 'आत्मा अनित्य है' इस प्रकार के नयवाक्य से आत्मा का अनित्य रूप में बोध होता है, किन्तु 'आत्मा नित्य भी है' ऐसा बोध नहीं होता है। कारण कि नय वस्तु-पदार्थ के एक ही अंश को ग्रहण करता है अतः वस्तु पदार्थ का पूर्ण रूप से बोध नहीं होता।

प्रमाण के अनेक भेद होने पर भी सामान्य रूप से दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं—**परोक्ष** और **प्रत्यक्ष**। जो पर-आत्मा से भिन्न इन्द्रिय या मन की सहायता से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को **परोक्ष ज्ञान** कहते हैं तथा जो पर की सहायता बिना केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को **प्रत्यक्ष ज्ञान** कहते हैं। प्रमाण और नय दोनों ज्ञानस्वरूप हैं तो भी दोनों में महान् अन्तर है। कारण कि एक गुण के द्वारा अशेष वस्तु को ग्रहण करने वाला **प्रमाण है** और दूसरा वस्तु के एक अंशविशेष को ग्रहण करने वाला **नय** है। दोनों में यही महान् अन्तर है। इसलिए परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान दोनों में सकलादेश और विकलादेश का अन्तर समझना चाहिए। इस तरह तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है, ऐसा सामान्य रूप से इस सूत्र में कहा है। अब विशेष रूप से तत्त्वों का अधिगम-ज्ञान करवाने वाले द्वारों का निर्देश आगे के सूत्र में करते हैं ॥६॥

❀ विशिष्टतत्त्वज्ञानप्राप्त्यर्थं षड्द्वाराणां निर्देशः ❀

निर्देश-स्वामित्व-साधना-धिकरण-स्थिति-विधानतः ॥ ७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

[१] **निर्देशः**=पदार्थस्वरूपाभिधानम्, [२] **स्वामित्वं**=आधिपत्यम्, [३] **साधनं**=उत्पत्ति - निमित्तं कारणमित्यर्थः, [४] **अधिकरणं**=आधारम्, [५] **स्थितिः**=कालप्रमाणम्, तथा [६] **विधानम्**=प्रकारं, भेदसङ्ख्या एव। एभिश्च निर्देशादिभिः षड्भिरनुयोगद्वारैः सर्वेषां भावानां जीवाऽजीवादीनां तत्त्वानां विकल्पशो विस्तृतरूपेणाधिगमो ज्ञानं भवतीति। तद्यथा—

[१] **निर्देशः। को जीवः?** औपशमिकादिभावसहितो द्रव्यं जीवः, आत्मेत्यर्थः। अत्र सम्यग्दर्शनविषयसम्बन्धत्वात् कथयति। **किं सम्यग्दर्शनम्? गुणो द्रव्यं वा। तस्य किं स्वरूपमाह—सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी एव, तस्मात् नोस्कन्धरूपो वर्त्तते नोग्रामरूपोऽपि वर्त्तते।**

[२] **स्वामित्वम्–कस्य सम्यग्दर्शनम्** ? एतद् सम्यग्दर्शनं आत्मसंयोगेन परसंयोगेन तथा द्वयोःसंयोगेनापि प्राप्तो भवति । तेषु आत्मसंयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनं वाच्यम् । परसंयोगेन जीवस्याऽजीवस्य, जीवयोरजीवयोः, जीवानामजीवानां चेति विकल्पाः सम्यग्दर्शनं वाच्यम् । उभयसंयोगेन जीवस्य नोजीवस्य, जीवयोरजीवयोः, जीवानामजीवानां चेति विकल्पा न सन्ति । शेषास्तु सन्ति एव ।

[३] **साधनम्–केन भवति सम्यग्दर्शनम्** ? निसर्गाद् अधिगमाद् वा सम्यग्दर्शनं भवति । इमे द्वे ऽपि दर्शनमोहनीयकर्मणां क्षयाद् उपशमाद् क्षयोपशमाच्च भवतः ।

[४] **अधिकरणम्**–त्रिप्रकारकं भवति । तद्यथा–आत्मसन्निधानं, परसन्निधानं, उभयसन्निधानं च । तेषु आत्मसन्निधानं अर्थात् अभ्यन्तरसन्निधानम्, परसन्निधानं-अर्थात् बाह्यसन्निधानम्, उभयसन्निधानं च बाह्याभ्यन्तरसन्निधानं कथ्यते ।

कस्मिन् सम्यग्दर्शनं भवति ? आत्मसन्निधानापेक्षायां तावद् जीवे सम्यग्दर्शनं भवति । सम्यग्ज्ञानं सम्यग्चारित्रमपि । बाह्यसन्निधानापेक्षायां तावद् जीवे सम्यग्दर्शनं नोजीवे सम्यग्दर्शनमिति पूर्वकथिता विकल्पा ज्ञातव्या । उभयसन्निधानापेक्षायां चाप्यभूताः सद्भूताश्च पूर्वकथिता भङ्गविकल्पा इति ।

[५] **स्थितिः–कियन्तं कालं सम्यग्दर्शनं तिष्ठति ? सम्यग्दृष्टिः** सादि-सान्तस्तथा साद्यनन्तः इति द्विविधा भवति । सम्यग्दर्शनं [क्षयोपशमसम्यक्त्वं] सादि-सान्तमेवास्ति । एतत् तु जघन्यतोऽर्थाद् न्यूनातिन्यूनमन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतोऽर्थादधिकं षट्षष्टिसागरोपमकालात् किञ्चिदधिकं तिष्ठति । क्षायिकसमकितीछद्मस्थजीवस्य सम्यग्दृष्टिः सादिसान्तः, सयोगी-अयोगी-केवलीनां सिद्धानां च सम्यग्दृष्टिः सादि अनन्तो भवति ।

[६] **विधानम्–कतिविधा भेदाः सम्यग्दर्शनस्य** ? हेतुभेदस्यापेक्षायाः त्रैविध्यात् क्षयादित्रिविधं सम्यग्दर्शनम् । तस्यावरणीयस्य दर्शनमोहनीयस्य कर्मणो क्षयादिभ्यश्चेति । तद्यथा–क्षायिकसम्यग्दर्शनं, औपशमिकसम्यग्दर्शनं, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनमिति अत्र च औपशमिकं, क्षायोपशमिकं तथा क्षायिकमिति त्रिप्रकारकं सम्यक्त्वमुत्तरोत्तरं विशुद्धं भवति ।। ७ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–[१] निर्देश, [२] स्वामित्व, [३] साधन, [४] अधिकरण,

[५] स्थिति और [६] विधान। इन छह अनुयोग[1] द्वारों से जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है ।। ७ ।।

卐 विवेचन 卐

पूर्व सूत्र में जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है, इस तरह सामान्य रूप से कहा है। अब विशेष रूप से तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए छह द्वारों का निर्देश[2] करते हैं—

(१) **निर्देश**—यानी वस्तु-पदार्थ स्वरूप का कथन।

(२) **स्वामित्व**—यानी आधिपत्य (स्वामी-मालिक)।

(३) **साधन**—यानी कारण, अर्थात् उत्पन्न होने वाले निमित्त।

(४) **अधिकरण**—यानी आधार, अर्थात् रहने का स्थान।

(५) **स्थिति**—यानी काल-समय का प्रमाण।

(६) **विधान**—यानी प्रकार (भेदों की संख्या)।

इन छह द्वारों से जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है। **'सम्यग्दर्शन'** यह आत्मा का गुण है। उसकी विचारणा इन छह द्वारों से इस प्रकार की है—

(१) सम्यग्दर्शन गुण से जीव-आत्मा विवेकी और पारमार्थिक ज्ञान वाला बनता है तथा हेय एवं उपादेय का विवेक कर सकता है। इस गुण की प्राप्ति से जीव-आत्मा का चौरासी लाख जीवायोनि में संसार-परिभ्रमण परिमित बन जाता है, अर्थात् मर्यादित होता है। (२) सम्यग्दर्शन गुण जीव-आत्मा का ही है। इसलिए उसका स्वामी (मालिक) जीव-आत्मा ही होता है, अजीव कभी नहीं हो सकता। (३) सम्यग्दर्शन गुण की उत्पत्ति जीव-आत्मा में निसर्ग से यानी स्वाभाविक रूप से और अधिगम से यानी परोपदेशादि निमित्त से होती है। अथवा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ रूप चार कषायों के क्षयोपशम से या उपशम आदि से होती है। (४) सम्यग्दर्शन गुण जीव-आत्मा में ही प्रगट होता है, इसलिए उसका अधिकरण यानी आधार जीव-आत्मा ही है। (५) जीव-आत्मा में प्रगटे हुए सम्यग्दर्शन गुण का काल सादि-अनन्त है। औपशमिक सम्यक्त्व गुण का काल जघन्य से या उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त्त का है तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व गुण का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से साधिक ६६ सागरोपम का है। जैसे कि मनुष्य भव में पूर्वक्रोड़ वर्ष के आयुष्य वाला जीव-आत्मा आठ वर्ष की वय में सम्यक्त्व पाकर, अनुत्तर देवलोक में विजयादि चारों विमानों में से किसी एक विमान में उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न हो जाय। देवायुष्य पूर्ण होने के पश्चाद् वहाँ से च्यव कर और मनुष्यभव में आकर पुनः विजयादि में उत्पन्न होकर, फिर वहाँ से च्यव कर पुनः मनुष्यगति में आकर सकल कर्म का क्षय करके मोक्ष में जावे तो वहाँ पर ६६ सागरोपम से अधिक काल हो जाता है। अथवा अनुत्तर देवलोक में न जाकर तीन बार अच्युत देवलोक में उत्पन्न हो जाय तो भी ६६ सागरोपम के काल में मनुष्यभव का काल

---

१. जानने के उपायों को **अनुयोग** कहा जाता है। २. लक्षण या स्वरूप के कथन को **निर्देश** कहते हैं।

मिलाने से अधिक हो जाता है। इसलिए उत्कृष्ट से साधिक ६६ सागरोपम का काल कहा जाता है। (६) सम्यग्दर्शन के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये मुख्य तीन भेद हैं।

❀ **प्रश्न—जीव किसे कहते हैं ?**

उत्तर—जो द्रव्य औपशमिक आदि भावों से युक्त है, उसे **जीव** कहते हैं।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? उसका स्वरूप क्या है ?**

उत्तर—वह जीव-आत्मा द्रव्य स्वरूप है। कारण कि वह नोस्कन्ध और नोग्राम रूप अरूपी सम्यग्दृष्टि जीव स्वरूप ही होता है।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन किसकी अपेक्षा से होता है ?**

उत्तर—आत्मसंयोग, परसंयोग और उभयसंयोग, इन तीनों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन होता है। जैसे—(१) सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव है। इसलिए आत्मसंयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीव को होता है। (२) परसंयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक जीव को या एक अजीव को होता है। अथवा दो जीवों को या दो अजीवों को होता है। यद्वा अनेक जीवों को या अनेक अजीवों को सम्यग्-दर्शन हो सकता है। (३) उभयसंयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के स्वामित्व में एक जीव के, नोजीव-ईषत् जीव के, दो जीव के या दो अजीव के, अनेक जीवों के या अनेक अजीवों के ये विकल्प नहीं होते हैं। इनके बिना अन्य विकल्प हो सकते हैं।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन किसके द्वारा होता है ?**

उत्तर—सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो हेतु-कारणों से उत्पन्न होता है। ये दोनों दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होते हैं।

अधिकरण तीन प्रकार का कहा है—आत्मसन्निधान, परसन्निधान और उभयसन्निधान। इनमें आत्मसन्निधान से अभिप्राय अभ्यन्तर सन्निधान है। परसन्निधान का अभिप्राय बाह्यसन्निधान है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों सन्निधानों के मिश्रण को उभयसन्निधान कहते हैं।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है ?**

उत्तर—आत्मसन्निधान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीव-आत्मा में रहता है। इसी तरह सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी जीव-आत्मा में रहते हैं। बाह्यसन्निधान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीव-आत्मा में, नोजीव में रहता है, इन विकल्पों को आगमशास्त्र में कहे अनुसार जानना चाहिए। उभय-सन्निधान की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन के अभूत और सद्भूत रूप भंगों के विकल्प आगमशास्त्र के अनुसार समझने चाहिए।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने काल (समय) तक रहता है ?**

उत्तर—सम्यग्दृष्टि के दो प्रकार हैं। एक **सादि सान्त** और दूसरा **सादि अनन्त**। सम्यग्-दर्शन (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) सादि सान्त ही है। उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छयासठ सागरोपम प्रमाण का है। सम्यग्दृष्टि जीव-आत्मा सादि होकर अनन्त होते हैं। अतः कहा है कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगीकेवली अरिहन्त भगवान् चौदहवें

गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली भगवान् और संसारातीत सिद्ध भगवान् ये तीनों सादि अनन्त सम्यग्-दृष्टि हैं।

❀ **प्रश्न––सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है ?**

उत्तर––सम्यग्दर्शन हेतुभेद की अपेक्षा तीन प्रकार का कहा जा सकता है। कारण कि, वह सम्यग्दर्शन को आच्छदित करने वाले दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से या उपशम से यद्वा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। (१) क्षायिक सम्यग्दर्शन, (२) औपशमिक सम्यग्दर्शन और (३) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन।

(१) दर्शनमोहनीय कर्म और क्रोधादि अनन्तानुबन्धी चार कषाय के क्षय होने से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे **'क्षायिकसम्यग्दर्शन'** कहते हैं।

(२) दर्शनमोहनीय कर्म और क्रोधादि अनन्तानुबन्धी चार कषाय के उपशम होने से जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसे **'औपशमिकसम्यग्दर्शन'** कहते हैं।

(३) दर्शनमोहनीय कर्म और क्रोधादि अनन्तानुबन्धी चार कषाय के क्षय और उपशम दोनों के मर्यादित होने पर जो सम्यग्दर्शन उद्भूत होता है, उसे **'क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन'** कहा गया है।

इन तीनों में विशेषता यही है कि—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इनकी विशुद्धि क्रम से उत्तरोत्तर अधिक से अधिकतर होती है। अर्थात्-औपशमिक सम्यग्दर्शन से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की विशुद्धि-निर्मलता अधिक है तथा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन से क्षायिकसम्यग्दर्शन की विशुद्धि-निर्मलता अधिक है ॥ ७ ॥

❀ **सत्प्रमुखाष्टद्वारेभ्योऽपि तत्त्वानां विशिष्टरूपेण निर्देशः** ❀

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालाऽन्तर-भावाऽल्प-बहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

सत्, सङ्ख्या, क्षेत्रं, स्पर्शनं, कालः, अन्तरं, भावः, अल्पबहुत्वं चेति। एतैः सद्भूतपदप्ररूपणादिभिः अष्टभिः अनुयोगद्वारैरपि सर्वजीवादितत्त्वानां सम्यग्दर्शनादिकानां, च ज्ञानं भवति। कथमितिचेदुच्यते–(१) **सत्ता** विद्यमानता एव। सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति ? अस्तीत्युच्यते। क्वास्ति ? अजीवेषु जीवेषु वा। अजीवेषु तावन्नास्ति। जीवेष्वपि भाज्यमेव। तद्यथा–'गतीन्द्रिय-काय-योग-कषाय-वेद-लेश्या-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-चारित्राहारोपयोगेषु' इति त्रयोदशस्वनुयोगद्वारेषु यथा-सम्भवं सद्भूतप्ररूपणाऽवश्यमेव कर्त्तव्या। एतेन द्वारेण विवक्षितपदार्थस्य विचारणा भवति।

(२) **सङ्ख्या**–विवक्षितपदार्थस्य अथवा तस्य स्वामिनः कतिपय सङ्ख्याऽस्ति । तस्य विचारणा अस्य सङ्ख्याप्ररूपणाद्वारस्य प्रयोजनमस्ति । अत्राह–कियत् सम्यग्दर्शनम् ? किं सङ्ख्येयं असङ्ख्येयं, अनन्तमिति ? तदुच्यते–असङ्ख्येयानि सम्यग्दर्शनानि सन्ति, किन्तु सम्यग्दृष्टयस्तु अनन्ताः सन्ति एव ।

(३) **क्षेत्रम्**–विवक्षिततत्त्वं अथवा तस्य स्वामी कतिपयक्षेत्रे भवति ? एतद् क्षेत्रप्ररूपणाद्वारात् ज्ञायते । अत्राह–**सम्यग्दर्शनं कियतिक्षेत्रे वर्त्तते** ? तदुच्यते । लोकस्यासङ्ख्येयभागे वर्त्तते ? अर्थात्–सम्यग्दर्शनवान् एकजीवस्य अनेकजीवस्य वा क्षेत्रलोकस्याऽसङ्ख्यातमो भागो हि अस्ति ।

(४) **स्पर्शनम्**–विवक्षिततत्त्वं अथवा तस्य स्वामी कतिपयक्षेत्रं स्पर्शनम् ? तस्य ज्ञानं एतद् स्पर्शनप्ररूपणाद्वारात् भवति । अत्राह–**'सम्यग्दर्शनं किं स्पृष्टं-स्पर्शनम् ?'** सम्यग्दर्शनं लोकस्याऽसङ्ख्येयभागः स्पर्शनं करोति । अत्र सम्यग्दृष्टि-सम्यग्दर्शनयोः कः प्रतिविशेषः ? द्वयोः अपाय-सद्द्रव्यापेक्षायाः अन्तरमस्ति । सम्यग्दर्शनमपाय आभिनिबोधिकरूपमस्ति । तद् योगात् सम्यग्दर्शनं केवलिनो नास्ति । तस्माद् सम्यग्दर्शनी केवली नास्ति । सम्यग्दृष्टिस्तु सद्द्रव्यरूपमस्ति । तद् योगात् सम्यग्दृष्टिः केवली कथितमस्ति ।

(५) **कालः–विवक्षिततत्त्वं कियन्तं कालम्** ? तस्य विचारणा एतद् काल-प्ररूपणाद्वाराद् भवति । अत्राह–**सम्यग्दर्शनं कियन्तं कालम्** ? तदुच्यते । कालस्य परीक्षा प्ररूपणा वा द्विधा भवति । तद् एकजीवस्यापेक्षया नानाजीवानामपेक्षयाश्च परीक्ष्यम् । तद्यथा–एकं जीवं प्रति जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टन षट्षष्ठिः सागरो-पमाणि साधनानि तथा अनेक जीवान् प्रति सर्वाद्धाकालमर्यादा सम्यग्दर्शनस्य सन्ति । अर्थात् सम्यग्दर्शनं नित्यमेव विद्यते ।

(६) **अन्तरम्**–विवक्षिततत्त्वस्य प्राप्त्यनन्तरं तस्य वियोग कियन्तं कालपर्यन्तं भवेत् ? तस्य ज्ञानं एतद् अन्तरप्ररूपणा द्वारात् भवति । अत्राह–**सम्यग्दर्शनस्य को विरहकालः** ? तदुच्यते । एकं जीवं प्रति जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तम्, तथा उत्कृष्टेन देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तपर्यन्तं विरहकालः सम्यग्दर्शनस्येति ।

(७) **भावः**–औपशमिकादिपञ्चभावेभ्यः कतमो भावो विवक्षिततत्त्वं भवेत् ? तस्य विचारणा, एतद् भावप्ररूपणाद्वाराद् भवति । अत्राह–**सम्यग्दर्शनं औपशमि-**

कादि भावानां कतमो भावो भवति ? तदुच्यते । औदयिक-पारिणामिकभावौ द्वयं वर्ज्यं औपशमिकादित्रिषु भावेषु सम्यग्दर्शनं भवति ।

(८) **अल्पबहुत्वम्**–सम्यग्दर्शनादितत्त्वानां स्वामिनमाश्रित्य न्यूनाधिकस्य विचारणा, एतद् अल्पबहुत्वप्ररूपणाद्वाराद् भवति । अत्राह–सम्यग्दर्शनानां औपशमिकादित्रिषु भावेषु वर्त्तमानानां किं समानसङ्ख्यत्वमाहोस्विदल्पबहुत्वमस्तीति ? । तदुच्यते । औपशमिकादित्रिषु भावेषु औपशमिकसम्यग्दर्शनस्य सङ्ख्या सर्वस्तोकमस्ति । ततः क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य सङ्ख्या असङ्ख्यातगुणी ज्ञेया । ततोऽपि क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शनस्य सङ्ख्या असङ्ख्यातगुणी ज्ञातव्या । केवलिनः सिद्धाश्च जीवाः संमिल्य अनन्ताः एव । तस्माद् सम्यग्दृष्टयस्तु सङ्ख्या अनन्तगुणी ज्ञेयेति । एवं निखिल-भावानां नामादिभिः न्यासं कृत्वा, प्रमाणादिभिरधिगमस्य कार्यं सम्पन्नम् । अत्रोक्तं सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानं चाऽपि वक्ष्यामः ।। ८ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व; इन आठ द्वारों से भी तत्त्वों का ज्ञान अर्थात् सर्व भावों का ज्ञान हो सकता है ।। ८ ।।

卐 विवेचन 卐

जिस तरह पूर्वोक्त निर्देश आदि अनुयोग के छह द्वारों से जीवादितत्त्वों का ज्ञान होता है, उसी तरह इधर सत् आदि अनुयोग के आठ द्वारों से भी जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है । वे क्रमशः सत् आदि आठों द्वार इस प्रकार हैं—

(१) **सत्**— यानी सत्ता-विद्यमानता । विश्व में विवक्षित वस्तु-पदार्थ विद्यमान है कि नहीं ? उसकी विचारणा इस सत्प्ररूपणा द्वार से होती है ।

(२) **संख्या**—यानी गणना । विवक्षित वस्तु-पदार्थ की या उसके स्वामी के अनुसार की संख्या-गिनती कितनी है ? उसकी विचारणा इस संख्याप्ररूपणा द्वार से होती है ।

(३) **क्षेत्र**—विवक्षित तत्त्व या उसके स्वामी कितने क्षेत्र में हो सकते हैं ? उसको इस क्षेत्र-प्ररूपणा द्वार से जान सकते हैं ।

(४) **स्पर्शन**—यानी स्पर्शना । विवक्षित तत्त्व या उसके स्वामी कितने क्षेत्र को स्पर्श करते हैं ? उसका ज्ञान इस स्पर्शन प्ररूपणा द्वार से होता है ।

(५) **काल**—यानी समय । विवक्षित तत्त्व कितने काल-समय तक रहता है ? इसकी विचारणा इस कालप्ररूपणा द्वार से होती है ।

(६) **अन्तर**—यानी विरहकाल । विवक्षित तत्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात्, उसका वियोग हो जाय तो कितने काल तक वियोग रहता है ? उसका ज्ञान इस अन्तरप्ररूपणा द्वार से होता है ।

(७) **भाव**—अवस्था विशेष। विवक्षित तत्त्व औपशमिक आदि पाँच भावों में से कौन से भाव में है? उसकी विचारणा इस भावप्ररूपणा द्वार से होती है।

(८) **अल्पबहुत्व**—यानी न्यूनाधिकता। सम्यग्दर्शन आदि तत्त्वों के स्वामी का आश्रयण करके न्यूनाधिक का विचार इस अल्पबहुत्वप्ररूपणा द्वार से होता है।

अब इस विषय में सम्यग्दर्शन की विचारणा उपर्युक्त द्वारों से इस प्रकार है—

(१) सत्–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन गुण है या नहीं?**

उत्तर—'सम्यग्दर्शन' गुण है।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन गुण कहाँ-कहाँ पर है?**

उत्तर—सम्यग्दर्शन गुण सत्ता रूप से सभी जीवों में विद्यमान है, किन्तु उसका आविर्भाव सिर्फ भव्य जीवों में होता है, अभव्य जीवों में नहीं। यह गुण चेतन-आत्मा का ही है। इसलिए चेतन-आत्मा में ही रहेगा, अचेतन-जड़ में नहीं। जीवों के विषय में भी इसकी भजना प्रतिपादित की गई है। किसी में होता है और किसी में नहीं होता। किस-किस में होता है, यह जानने के लिए गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय, वेद, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आहार और उपयोग, इन तेरह अनुयोग-द्वारों में आगम के अनुसार यथासम्भव इस सत्प्ररूपणा द्वारा समझ लेना चाहिए।

(२) संख्या–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने हैं, संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?**

उत्तर—सम्यग्दर्शन असंख्य हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं। अर्थात्—सम्यग्दर्शन जिसमें हो ऐसे जीव असंख्य हैं तथा सिद्ध जीवों की अपेक्षा ऐसे जीव अनन्त हैं।

(३) क्षेत्र–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में रहता है?**

उत्तर—सम्यगदर्शन लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है। अर्थात्—असंख्य प्रदेशरूप तीन सौ तैंतालीस (३४३) राजूप्रमाण लोक में असंख्यात का भाग देने से जितने प्रदेश प्राप्त हो जाते हैं, उतने ही लोक के प्रदेशों में सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है। चाहे सम्यग्दर्शन वाले एक जीव को लेकर या सर्व जीवों को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग ही जानना। इसमें इतना अन्तर अवश्य ही होगा कि एक सम्यग्-दर्शनी-सम्यक्त्वी जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र, परिमाण में अधिक होगा। कारण कि लोक का असंख्यातवाँ भाग भी तरतम भाव से असंख्यात प्रकार का होता है।

❀ **प्रश्न—सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है?** इसके **उत्तर** में आगमशास्त्रों में लिखा गया है—दोनों में अपाय तथा सद्द्रव्य की अपेक्षा अन्तर है। सम्यग्दर्शन अपाय मतिज्ञान

रूप है एवं सम्यग्दृष्टि सद्द्रव्य स्वरूप है। केवली सद्द्रव्य रूप होने से उन्हें सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं किन्तु उन्हें सम्यग्दर्शनी नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें अपाय का योग नहीं पाया जाता।

(४) स्पर्शन–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने स्थान का स्पर्श करता है ?**

उत्तर—सम्यग्दर्शन लोक के असंख्यातवें भाग का ही स्पर्श करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—सम्यग्दर्शन-वन्त जीव-आत्मा जघन्य से लोक के असंख्यातवें भाग को ही स्पर्श करता है तथा उत्कृष्ट से एक जीव-आश्रयी या अनेक जीवों से आश्रयी चौदह रज्जुप्रमाण लोक के कुछ न्यून आठ भाग को स्पर्श करता है। यह माप घनक्षेत्र की अपेक्षा है। सूचिक्षेत्र की अपेक्षा से तो एक जीव-आश्रयी के आठ राजलोक और अनेक जीव-आश्रयी के बारह राजलोक की स्पर्शना होती है। केवली समुद्घात की अपेक्षा से तो सम्पूर्ण चौदह राजलोक की स्पर्शना प्रतिपादित की है। क्षेत्र और स्पर्शना में भेद के सम्बन्ध में भी कहा है कि—केवल वर्त्तमानकाल आश्रयी क्षेत्र की विचारणा करने में आती है और स्पर्शना की विचारणा तीन काल आश्रयी करने में आती है। क्षेत्र और स्पर्शना में यह भेद काल की अपेक्षा माना गया है।

(५) काल–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितने काल तक रहता है ?**

उत्तर—एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छियासठ सागरोपम का है तथा अनेक जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का सर्व काल है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्वदा विद्यमान है—विश्व में कोई भी समय ऐसा भूतकाल में नहीं था, वर्तमानकाल में नहीं है और भविष्यकाल में नहीं होगा कि जब किसी भी जीव-आत्मा में सम्यग्दर्शन न रहा हो या न पाया जाय।

(६) अन्तर–

❀ **प्रश्न—सम्यग्दर्शन का विरहकाल कितना है ?**

उत्तर—सम्यग्दर्शन का एक जीव-आत्मा की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त तक विरह होता है तथा उत्कृष्ट से देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्त पर्यन्त सम्यग्दर्शन का विरह होता है। अनेक जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का अन्तर काल होता ही नहीं है अर्थात्—सम्यग्दर्शन का विरह-काल कभी होता ही नहीं।

(७) भाव–

❀ **प्रश्न—औपशमिकादिक पाँच भावों में से सम्यग्दर्शन को कौन-सा भाव समझना ?**

उत्तर—औदयिक भाव और पारिणामिक भाव इन दोनों को छोड़कर शेष तीनों (औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक) ही भावों में सम्यग्दर्शन रहता है। अर्थात्—औपशमिक सम्यग्दर्शन औपशमिक भाव में, क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायिक भाव में और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायोप-

शमिक भाव में होता है। सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन कहीं औपशमिक, कहीं क्षायिक और कहीं क्षायोपशमिक इस तरह तीनों ही भावरूपों में पाया जा सकता है, औदयिक और पारिणामिक भाव में नहीं।

(८) अल्पबहुत्व—

❀ **प्रश्न—औपशमिकादि तीनों भावों में रहने वाले तीनों ही सम्यग्दर्शनों का अल्पबहुत्व समान है या उसमें कुछ न्यूनाधिकता है ?**

उत्तर—औपशमिक सम्यग्दर्शन वाले जीवों का अल्पबहुत्व समान नहीं है, किन्तु सबसे अल्प है। अर्थात्—औपशमिक सम्यग्दर्शन वाले जीवों की संख्या सबसे न्यून-अल्प है। उससे असंख्येय गुणे क्षायिक भाव वाले सम्यग्दर्शनी हैं। अर्थात्—क्षायिक सम्यग्दर्शन वाले जीवों की संख्या असंख्यात गुणी है। उससे भी असंख्य गुणे क्षायोपशमिक भाव वाले सम्यग्दर्शनी हैं। अर्थात्—क्षायोपशमिक भाव वाले जीवों की संख्या असंख्यात गुणी है। इस तरह होने पर भी सम्यग्दृष्टियों की संख्या सबसे अधिक अनन्त गुणी है। कारण यही है कि केवली और सिद्ध भगवन्त दोनों मिलकर अनन्त हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अनन्त गुण युक्त अनन्ता कहलाते हैं। [जीव-अजीवादि तत्त्वों का विस्तारपूर्वक स्वरूप जानने के लिए सातवें 'निर्देश ०' सूत्र में उल्लिखित निर्देश आदि छह अनुयोग तथा आठवें 'सत्संख्या ०' सूत्र में निर्दिष्ट सत् आदि आठ अनुयोग, सब (६ + ८) मिलकर चौदह (१४) अनुयोग बताये हैं। प्रमाण-नय आदि उपर्युक्त इन चौदह अनुयोगों के द्वारा सर्व भावों का जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कारण कि—इनके द्वारा निश्चित तत्त्वार्थों का तथाभूत श्रद्धान करना यही **'सम्यग्दर्शन'** है।] इस तरह सम्यग्दर्शन का संक्षिप्त वर्णन किया। अब मति आदि पाँच ज्ञान का वर्णन आगे बताये हुए सूत्रों से करते हैं ॥ ८ ॥

❀ **सम्यग्ज्ञानस्य भेदाः** ❀

मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

✱ सुबोधिका टीका ✱

ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। एतद् मूलविधानतः पञ्चविधं ज्ञानमस्ति। तद्यथा—मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानं चेति। तस्योत्तर-भेदानां वर्णनं पुरस्ताद् कथ्यते।

❀ **सूत्रार्थ**—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं ॥ ९ ॥

卐 विवेचन 卐

मूल भेद की अपेक्षा ज्ञान पाँच प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनके उत्तरभेदों का वर्णन आगे आने वाला है, इसलिए उनका वर्णन यहाँ नहीं किया है। संक्षेप में ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा है कि—**'ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्'** जिसके द्वारा

जाना जा सके, उसे **'ज्ञान'** कहा जाता है। अर्थात् पदार्थों को समझाने की शक्ति जिसमें हो उसको ज्ञान कहते हैं। ज्ञान पदार्थ का बोधक है। जो ज्ञान आत्मा को मोक्षमार्ग की साधना के लिये उत्साही करता है, वही **सम्यग्ज्ञान** है। जो ज्ञान विश्व की वस्तुओं का सच्चा स्वरूप नहीं बताता है, वह ज्ञान मिथ्या-असत्यज्ञान अज्ञानरूप है।

जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान के मुख्य पाँच भेद प्रतिपादित किये हैं—(१) **मतिज्ञान**—जीव-आत्मा को योग्य देश में रही हुई नित्य वस्तु का पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है वह **'मतिज्ञान'** कहा जाता है, इसमें मन और इन्द्रियों की सहायता से जीव-आत्मा में बोध होता है। इसका दूसरा नाम **'आभिनिबोधक'** भी है। **"अभिनिबुध्यते इति आभिनिबोधकम्"**—जो सन्मुख रहे हुए नियत वस्तु-पदार्थ को जनाता है, उसको **'आभिनिबोधक ज्ञान'** कहते हैं।

(२) **श्रुतज्ञान**—जीव-आत्मा को इन्द्रिय और मन के सहकार से शब्दार्थ की पर्यालोचना वाला (इस शब्द का यह अर्थ है, ऐसा) जो ज्ञान है, वह **'श्रुतज्ञान'** कहा जाता है। जिसमें मन और इन्द्रियों के सहयोग से शब्द और अर्थ का पर्यालोचन पूर्वक जीव-आत्मा में बोध होता है। शब्द और पुस्तकें भी बोध रूप भावश्रुत का कारण होने से **'द्रव्यश्रुत'** हैं।

(३) **अवधिज्ञान**—जीव-आत्मा को इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना रूपी द्रव्य का मर्यादापूर्वक जो ज्ञान होता है, वह **'अवधिज्ञान'** कहा जाता है। इसमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना अपनी आत्मशक्ति से मर्यादापूर्वक रूपी द्रव्य का बोध होता है, अरूपी द्रव्य का नहीं।

(४) **मनःपर्ययज्ञान**—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जो जानता है, वह **'मनःपर्यय (मनःपर्यव) ज्ञान'** कहा जाता है। इसमें ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवों के मन के विचारों का-पर्यायों का बोध होता है।

(५) **केवलज्ञान**—तीनों कालों के लोक और अलोक का निखिल स्वरूप हस्त में रहे हुए आँवले की भाँति प्रत्यक्ष रूप में जो जोहता-देखता है, वह ज्ञान **'केवलज्ञान'** कहा जाता है। इसमें तीनों कालों के सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों का बोध होता है। केवलज्ञान यानी सम्पूर्ण ज्ञान, मति-ज्ञानादिक से रहित असाधारण ज्ञान, समस्त आवरण से रहित शुद्ध-ज्ञान, भेद-प्रभेद रहित एक ज्ञान, एवं अनन्तज्ञान=सर्व द्रव्य-पर्यायों का बोध करने वाला अद्वितीयज्ञान; इत्यादि अनेक अर्थ केवलज्ञान के प्रतिपादित किये गये हैं ॥९॥

❀ मत्यादिपञ्चविधज्ञानानां प्रमाणाऽऽश्रित्य विचारणा ❀

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तत् पूर्वोक्तं मत्यादिपञ्चविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः। तद्यथा—परोक्षं प्रत्यक्षं चैव। तत् पञ्चविधमपि ज्ञानं द्वयोः प्रमाणयोः विभक्तमस्ति। येन वस्तुस्वरूप-स्य परिच्छेदनं भवेत्, तं **'प्रमाणं'** कथ्यते। एतद् विषये शास्त्रज्ञेषु भिन्नभिन्नरूपेण

विचारधारा प्रचलति । केचिद् सन्निकर्षकं प्रमाणं, क्वचिद् निर्विकल्पदर्शनं प्रमाणं, केचित् कारकसाकल्यं प्रमाणं, केचिद् वेदं प्रमाणमित्यादिविविधरूपैः मन्यन्ते । तन्न युक्तियुक्तम् ।

तस्य निर्दोषलक्षणमाह–'**सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणम्**' अस्ति । प्रमाणस्य भेदोऽपि भिन्नभिन्नमतापेक्षया भिन्नभिन्नप्रकारैः मन्यते । केचित् प्रमाणस्य भेदः **एक** एव प्रत्यक्षः, केचिद् **द्वौ** भेदौ प्रत्यक्षानुमानौ, केचित् **त्रयो** भेदाः प्रत्यक्षानुमानोपमानाः, केचित् **चत्वारो** भेदाः प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाः, केचित् **पञ्च**भेदाः प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्तयः, केचित् **षड्भेदाः** प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्याऽभावाश्चेति मन्यन्ते । एते सर्वेऽपि अव्याप्तिप्रमुखदूषणत्वाद् अवास्तविकाः । अत्र परोक्ष-प्रत्यक्षौ द्वावपि भेदौ सर्वथा निर्दोषौ, इष्टार्थसाधकौ चेति । एतदस्मिन् प्रमाणे प्रमाणस्य सर्वेषां भेदानामन्तर्भाव अभूवन् ।। १० ।।

❀ **सूत्रार्थ**–पूर्व कथित यह मत्यादि पाँच प्रकार का ज्ञान **प्रमाणरूप** है तथा उसके दो भेद हैं–एक **परोक्षप्रमाण** और दूसरा **प्रत्यक्षप्रमाण** ।। १० ।।

卐 विवेचन 卐

प्रथम अध्याय के छठे सूत्र में प्रमाण का वर्णन किया है, तो भी इधर विशेष रूप में कर रहे हैं । जिसके द्वारा वस्तु-पदार्थ स्वरूप का परिच्छेदन होता है, वह **'प्रमाण'** कहा जाता है । इस विषय में अनेक शास्त्रज्ञों ने अपनी-अपनी मान्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रमाण माना है । किसी ने सन्निकर्ष को, किसी ने निर्विकल्पदर्शन को, किसी ने कारकसाकल्य को और किसी ने अपने वेद को ही प्रमाण माना है । ये सभी प्रमाण के प्रयोजन को सिद्ध करने में युक्तियुक्त नहीं हैं, अर्थात् असमर्थ हैं । इसलिए यहाँ पर प्रमाण का यह लक्षण निर्दोष बताया है कि—**'सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणलक्षणम्' सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण का लक्षण है ।** इस प्रमाण के प्रकार-भेद भी भिन्न-भिन्न मतों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न माने गये हैं । किसी ने एक प्रत्यक्ष को, किसी ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को, किसी ने प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान तीनों को, किसी ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम चारों को, किसी ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति पाँचों को तथा किसी ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अभाव इन छह को प्रमाण के भेद माना है । ये सभी अव्याप्ति आदि दोषों से युक्त होने के कारण अवास्तविक हैं । इसलिए यहाँ पर प्रमाण के मात्र दो प्रकार-भेद प्रतिपादित किये हैं । एक परोक्ष और दूसरा प्रत्यक्ष । दोनों ही सर्वथा निर्दोष हैं और इष्ट अर्थ के साधक हैं । इनमें प्रमाण के समस्त भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है ।।१०।।

❀ **परोक्षस्वरूपम्** ❀

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

❀ **सुबोधिका टीका** ❀

आदौ भवमाद्यम् । तस्मिन् आद्ये मत्यादिपञ्चज्ञानापेक्षया आद्यद्वये मति-श्रुत-ज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः । अक्षैः परं=इन्द्रियैः परं परोक्षं, प्रमायाः विषयं प्रमाणम् । निमित्तापेक्षयाऽऽद्ये परोक्षे, यतः मतिज्ञानमिन्द्रियनिमित्तकं, अनिन्द्रियं-मनो निमित्त-कञ्च । तथा श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकं परस्योपदेशाच्च भवति ॥ ११ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—मत्यादि पाँच प्रकार के ज्ञानों में से प्रथम के दो ज्ञान [मतिज्ञान और श्रुतज्ञान] **परोक्ष** हैं अर्थात्—परोक्षप्रमाणरूप हैं ॥ ११ ॥

卐 विवेचन 卐

जो आदि में है, उसको ही आद्य कहा जाता है। इसलिए पूर्व कथित **"मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥६॥"** इस सूत्र के अनुसार आदि के दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण रूप है। जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में जीव-आत्मा से भिन्न परवस्तु-पदार्थ की अपेक्षा होती है, उसको **परोक्ष** कहा गया है। जैसे यहाँ मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान को परोक्षप्रमाण कहा है। कारण कि ये दोनों हो ज्ञान निमित्त की अपेक्षा रखते हैं। अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञान परोक्ष है।

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १-१४ ॥ यह आगे आने वाले सूत्र में कहा है कि—आत्मा से भिन्न स्पर्शेन्द्रियादि पाँचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय-मन इन छह निमित्तों से आत्मा में मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए यह मतिज्ञान अपायसद्द्रव्यरूप है, इतना ही नहीं निमित्त नित्य नहीं होने के कारण परोक्ष भी है। आत्मा में मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है और अन्य के उपदेश से भी श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए श्रुतज्ञान भी परोक्ष है। यहाँ विशेषता यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय तथा मन आत्मा से भिन्न पुद्गल रूप हैं, तो भी मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त पड़ते हैं तथा श्रुतज्ञान में तो मात्र मन ही निमित्त पड़ता है। ऐसा होने पर भी श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। इसलिए श्रुतज्ञान में उपचार से इन्द्रियाँ भी निमित्त पड़ती हैं। जैसे कि—पर का उपदेशादि सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय निमित्त है। यही मतिज्ञान है तथा सुने हुए शब्द के विषय में उसका आलम्बन लेकर अर्थान्तर के विषय में जो विचार करते हैं, वही श्रुतज्ञान है। उसमें भले ही मुख्य रूप से बाह्य निमित्त मन होने पर भी उपचार से श्रोत्रेन्द्रिय भी निमित्त कही जाती है। कारण कि श्रवण किये बिना विचार नहीं हो सकता ॥११॥

❀ **प्रत्यक्षस्वरूपम्** ❀

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

❀ **सुबोधिका टीका** ❀

पूर्वोक्तं मतिज्ञानात् श्रुतज्ञानाच्च यदन्यत् त्रिविधं ज्ञानं [अवधि-मनःपर्यय-

केवलरूपं] तत्प्रत्यक्षं प्रमाणरूपं भवति। यतः इन्द्रियनिमित्तं विनैव आत्मनः प्रत्यक्षत्वेन एतानि त्रीणि ज्ञानानि प्रत्यक्षप्रमाणे समायान्ति। यद् द्वारा पदार्थः ज्ञातो भवति तद् प्रमाणं उच्यते। अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानामपि पृथक्त्वेन प्रमाणत्वं केचिद् मन्यन्ते, किन्तु तेषां अनुमानादीनां पदार्थानां निमित्तभूतत्वेन मति-श्रुतज्ञानरूपे परोक्षप्रमाणे एव अन्तर्भावं स्वीकृत्य द्विविधं परोक्ष-प्रत्यक्षरूपमेव प्रमाणं मन्यते नत्वधिकम् ।। १२ ।।

❀ **सूत्रार्थ**—शेष रहे हुए अवधि आदि तीनों ज्ञान **प्रत्यक्ष** हैं। अर्थात्—पूर्वोक्त मति-श्रुत इन दोनों ज्ञान से अन्य तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्यय और केवल) ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कारण कि ये इन्द्रिय और मन की मदद बिना केवल आत्मा के सापेक्ष हैं ।। १२ ।।

卐 विवेचन 卐

पूर्व कहे हुए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को छोड़कर यानी बाकी के अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण रूप हैं। क्योंकि—ये अतीन्द्रिय हैं। जिसके द्वारा वस्तु-पदार्थों को जाना जाय उसको **प्रमाण** कहते हैं। यहाँ पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण बताये हैं। अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन प्रमाणों को भी कोई-कोई मानते हैं, किन्तु यहाँ इन्हें ग्रहण नहीं करते हैं। कारण यह है कि ये सभी इन्द्रियों और पदार्थों के निमित्तभूत होने से मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान रूप परोक्षप्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

❀ **प्रश्न—न्याय आदि दर्शनग्रन्थों में और लोक में भी चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा होने वाला मतिज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण कहा गया है। आप उसी मतिज्ञान को परोक्षप्रमाण कहते हो, इसका क्या कारण है ?**

उत्तर—आध्यात्मिक दृष्टि से मतिज्ञान परोक्षज्ञान है। वह इन्द्रियों की सहायता से होता है, इसलिए मतिज्ञान परोक्षप्रमाण रूप ज्ञान कहा गया है। अक्ष शब्द का अर्थ जैसे इन्द्रिय होता है, वैसे आत्मा भी होता है। न्याय आदि दर्शनग्रन्थों में तथा लोक में अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय स्वीकार कर मतिज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। इस दृष्टि से जैनदर्शन भी मतिज्ञान को न्यायदर्शन के ग्रन्थों में प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप में स्वीकार करता है। जैन न्यायग्रन्थों में 'प्रमाणमीमांसा' में मतिज्ञान का **सांव्यवहारिक** प्रत्यक्ष रूप में कथन किया गया है। श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में तो चाहे आध्यात्मिक दृष्टि हो कि व्यावहारिक दृष्टि हो, दोनों ही दृष्टि से श्रुतज्ञान को परोक्ष ही कहा है। क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक और पर के उपदेश से होता है। शेष यानी बाकी के अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मिक योग्यता के बल से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष समझने चाहिए।

सामान्य रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रकार-भेद हैं—एक **देशप्रत्यक्ष** और दूसरा **सकलप्रत्यक्ष**
त-४ अवधिज्ञान को और मनःपर्ययज्ञान को **देशप्रत्यक्ष** कहते हैं, कारण कि—दोनों का विषय नियत और

अपरिपूर्ण है। पंचम केवलज्ञान तो **सकलप्रत्यक्ष** है; क्योंकि वह सम्पूर्ण त्रैकालिक वस्तु-पदार्थों को तथा उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओं को विषय करने वाला और नित्य है। इसलिए केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है। इसके अलावा मतिज्ञान को भी उपचार से या व्यवहार से प्रत्यक्ष कहते हैं। कारण कि उसमें श्रुतज्ञान की अपेक्षा अधिक स्पष्टता रहा करती है। मुख्य रूप से तो वह परोक्ष रूप में ही है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान के समीचीन प्रकार-भेद भी प्रमाण ही हैं ॥१२॥

❀ **मतिज्ञानस्य पर्यायवाचकशब्दाः** ❀

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

मतिज्ञानस्य पर्यायवाचकशब्दाः एतस्मिन् सूत्रे कथिताः सन्ति। तद्यथा—मतिज्ञानं, स्मृतिज्ञानं, संज्ञाज्ञानं, चिन्ताज्ञानं, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। **मतिः**=अनुभवः, **स्मृतिः**=स्मरणं, **संज्ञा**=प्रत्यभिज्ञानं, **चिन्ता**=तर्कः, **अभिनिबोधः**=आभिनिबोधिकः अनुमानम्। एतद् पञ्चकमेव अनर्थान्तरमेकार्थवाचकमिति। एतानि सर्वाणि एकार्थवाचकानि सन्ति ॥ १३ ॥

❀ **सूत्रार्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता** और **अभिनिबोध** ये पाँचों शब्द अनर्थान्तर=एकार्थवाचक यानी पर्यायवाची हैं ॥ १३ ॥

卐 विवेचन 卐

मति यानी अनुभव (विद्यमान का ज्ञान), **स्मृति** यानी स्मरण, **संज्ञा** यानी पहचान, **चिन्ता** यानी तर्कचिन्तन (भावी का विचार), तथा **अभिनिबोध** यानी अनुमान (सर्व प्रकार से निर्णय) ये सभी मतिज्ञान से भिन्न नहीं हैं। अर्थात्—ये पाँच पर्यायवाची शब्द हैं। एक अर्थ के वाचक शब्द हैं। ये मतिज्ञान के ही भेद हैं, क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से ही होते हैं। सामान्य रूप से यहाँ मति आदि शब्द एकार्थवाचक होने पर भी विशेषरूप से इनमें प्रत्येक शब्द में अर्थभेद होता है। वह इस प्रकार है—

(१) **मतिज्ञान**—इन्द्रियों तथा मन के द्वारा वर्तमानकाल में विद्यमान किसी भी वस्तु-पदार्थ का जो आद्यज्ञान-बोध होता है, उसको अनुभव या **मतिज्ञान** कहते हैं। यह ज्ञान वर्तमानकाल के विषय को ग्रहण करने वाला है।

(२) **स्मृतिज्ञान**—कालान्तर में उस जाने हुए वस्तु-पदार्थ का 'तत्-वह' इस तरह से जो याद-स्मरण आना, इसको **स्मृतिज्ञान** कहते हैं। यह भूतकाल के विषय को ग्रहण करने वाला है। अर्थात् पूर्वकाल में अनुभूत वस्तु-पदार्थ की स्मृति यानी स्मरण कराने वाला है।

(३) **संज्ञाज्ञान**—अनुभव और स्मृति इन दोनों के संयोगरूप ज्ञान को **संज्ञाज्ञान** या

प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। अर्थात्—भूतकाल में अनुभूत वस्तु-पदार्थ को वर्तमानकाल में देखते हुए 'वही यह वस्तु-पदार्थ है जो मैंने पूर्व में देखी थी' इस प्रकार का ज्ञान, वह **संज्ञाज्ञान** है। अन्य ग्रन्थों में इस ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञान** (प्रत्यभिज्ञा) कहते हैं। यह भूतकाल के विषय को वर्तमानकाल का विषय बनाने वाला है।

(४) **चिन्ताज्ञान**—साध्य[1] और साधन[2] दोनों के अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिज्ञान को **चिन्ताज्ञान** या **तर्कज्ञान** कहते हैं। अर्थात्—भविष्यत्काल की विचारणा यानी तर्क का चिन्तन करना, वह **चिन्ता** या **तर्क** है। यह ज्ञान भविष्यत्काल के विषय को ग्रहण करने वाला है।

(५) अभिनिबोध (आभिनिबोधिक) ज्ञान—साधन के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है, उसे **अनुमान** या **आभिनिबोधज्ञान** कहते हैं। यहाँ अभिनिबोध शब्द मति आदि सभी ज्ञान के लिए सर्व सामान्य है तथा विशेष प्रकार के उस-उस मतिज्ञान के लिए मति आदि शब्द हैं। इनमें से मतिज्ञान में प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान में उपमान का अन्तर्भाव और अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव जानना चाहिए। इसी तरह से आगम तथा अभावप्रमाण का भी अन्तर्भाव यथायोग्य जानना चाहिए ।।१३।।

❀ मतिज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तानि ❀

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ।। १४ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

तद्=पूर्वकथितमेतद्मतिज्ञानं द्विप्रकारं भवति। तद्यथा–इन्द्रियनिमित्तं अनिन्द्रियनिमित्तं चेति। तत्र स्पर्शेन्द्रियादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चषु एव स्वविषयेषु यद्ज्ञानं भवति तद् **'इन्द्रियनिमित्तम्।'** अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिः ओघज्ञानं चेति। अत्र मनोवृत्तिजन्यज्ञानस्य तथा सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञानस्य च ओघज्ञानं-सामान्यज्ञानमिति यावत् ।। १४ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–वह मतिज्ञान इन्द्रियों और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से उत्पन्न होता है। अर्थात्–वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और छठे मन की सहायता से उत्पन्न होता है ।। १४ ।।

---

१. **साध्य**—वस्तु-पदार्थ जो सिद्ध किया जाय, उसे **'साध्य'** कहते हैं। या अनुमान का जो विषय हो, उसे भी **'साध्य'** कहते हैं। जैसे पर्वत में वह्नि-अग्नि।

२. **साधन**—साध्य वस्तु-पदार्थ के अविनाभावी चिह्न को **'साधन'** कहते हैं। जैसे वह्नि-अग्नि का साधन धूम-धूमाड़ा है।

卐 विवेचन 卐

पूर्व कथित यह पाँच प्रकार का मतिज्ञान दो तरह का होता है। एक इन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान और दूसरा अनिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान। इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) **स्पर्शेन्द्रिय**—स्पर्शन (चर्म, त्वक्, त्वचा, चमड़ी) (२) **रसनेन्द्रिय**—रसन (रसना, जीभ) (३) **घ्राणेन्द्रिय**—घ्राण (नासिका, नाक) (४) **चक्षुरिन्द्रिय**—नेत्र (नयन, आँख) (५) **श्रोत्रेन्द्रिय**—कर्ण (कान)। इन पाँचों इन्द्रियों के विषय भी पाँच हैं, जिनके क्रमशः नाम इस प्रकार हैं—१-स्पर्शेन्द्रिय का विषय **'स्पर्श'** है। २-रसनेन्द्रिय का विषय **'रस'** है। ३-घ्राणेन्द्रिय का विषय **'गन्ध'** है। ४-चक्षुरिन्द्रिय का विषय **'रूप'** (वर्ण) है। ५-श्रोत्रेन्द्रिय का विषय **'शब्द'** है। इन पाँचों ही इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का जो ज्ञान होता है, उसे **'इन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान'** कहते हैं।

मन की प्रवृत्तियों को या मन के विचारों को अथवा समूह रूप ज्ञान को **'अनिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान'** कहा है।

चक्षु आदि बाह्य साधन हैं तथा मन अन्तरंग साधन है, यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद में कारण है। सारांश यह है कि—जब जीव-आत्मा को स्पर्श आदि विषयों का मतिज्ञान होता है, तब सबसे पहले वस्तु-पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। पश्चात् तत्काल इन्द्रियों के साथ जुड़े हुए ज्ञानतन्तु मन को और मन जीव-आत्मा को खबर देता है। इससे जीव-आत्मा में तद् विषय का मतिज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् इन्द्रियों और मन के सहयोग से ही मतिज्ञान जीवात्मा में उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

❀ **मतिज्ञानस्य भेदाः** ❀

अवग्रहेहापाय-धारणाः ॥ १५ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

तदेतन्मतिज्ञानं चतुर्विधं भवति। तद्यथा-अवग्रह, ईहापायो धारणा चेति। तत्र-(१) **अवग्रहः**-अव्यक्तं यथास्वं इन्द्रियद्वारास्वविषयीपदार्थानामालोचनावधारणमिति। अवग्रहोऽवधारणमालोचनं ग्रहणमित्यनर्थान्तरम्। बाह्यवस्तूनां सामान्याकृतेः परिचयः वाऽवधारणं अवग्रहः। (२) **ईहा**-अवगृहीते विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयचेष्टाविशेषजिज्ञासा इति। ईहा ऊहा तर्कः जिज्ञासा परीक्षा विचारणा चेत्यनर्थान्तरम्। (३) **अपायः**-अवगृहीते विषये गुण-दोषविचारणाऽध्यवसायाऽपनोदः सम्यगसम्यगिति। अपायोऽपगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम्। (४) **धारणा**-प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवधारणमवस्थानं चेति। धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमोऽवबोधश्चेत्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—अवग्रह (सामान्य), ईहा (बोध), अपाय (विचारणा) और धारणा (निर्णय) ये चार मतिज्ञान के भेद हैं ।। १५ ।।

卐 विवेचन 卐

पूर्वोक्त सूत्र में इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक यह दो प्रकार का जो मतिज्ञान कहा है, अब उसमें प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। उक्त अवग्रहादि प्रत्येक को पाँच इन्द्रियों और छठे मन के साथ गिनने से मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं। यथा--

(१) स्पर्शेन्द्रिय	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(२) रसनेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
(३) घ्राणेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
(४) चक्षुरिन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
(५) श्रोत्रेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
(६) मन	,,	,,	,,	,,

अवग्रहादि के लक्षण—

(१) **अवग्रह**--इन्द्रियों के द्वारा यथायोग्य विषयों का अव्यक्त रूप से आलोचनात्मक अवधारण-ग्रहण होता है, उसे **'अवग्रह'** कहते हैं। अर्थात्—इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध होते हुए 'कुछ है' ऐसा अव्यक्त बोध होता है। उस अव्यक्त बोध को ही **अवग्रह** कहा जाता है। अवग्रह, अवधारण, आलोचन और ग्रहण, ये सर्व एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। विशेष कल्पना रहित सिर्फ सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। इस ज्ञान से यह मालूम नहीं होता है कि यह स्पर्शादि किस चीज-वस्तु का है। इसलिए यह अवग्रह ज्ञान अव्यक्त ज्ञान है।

(२) **ईहा**—अवग्रह से ग्रहण किये हुए एकदेशविषयक ज्ञान को विशेष रूप से जानने के लिए अनुगम अर्थात् निश्चय करने की चेष्टा विशेष को ईहा कहते हैं। वास्तव में अवगृहीत विषय पर 'ईहा' की क्रिया होती है। अवगृहीत विषय के सम्बन्ध में अधिक विशेष जानने की स्पृहा का नाम ही ईहा है। अर्थात् अवगृहीत-विषय-प्रणिधान या विचारणा को ईहा कहते हैं। अर्थात् अवग्रह के द्वारा 'कुछ है' ऐसा बोध होने के बाद 'वह क्या है ?' उसका निर्णय करने के लिए होने वाली विचारणा को 'ईहा' कहा जाता है। ईहा, ऊहा, तर्क, जिज्ञासा, परीक्षा और विचारणा ये सर्व शब्द एक ही अर्थ के वाचक होने से समानार्थक हैं। इस ज्ञान से आत्मा में विचारशक्ति उत्पन्न होती है, जैसे कि 'रज्जुः सर्पो वा ?' क्या यह स्पर्श रज्जु यानी डोरी का है या सर्प का है ? जो सर्प होता तो इतनी जोर की ठोकर लगने पर वह फुंकार किये बिना नहीं रहता; इस विचारणा को ईहा कहते हैं।

(३) **अपाय**—अवग्रह और ईहा द्वारा गृहीत विषय का अधिक एकाग्रता से निर्णय-निश्चय करना, उसको 'अपाय' कहते हैं अर्थात् विचारणा के बाद यह अमुक वस्तु है, ऐसा निर्णय होना अपाय है। जैसे—वस्तु-पदार्थ के गुण, दोष या योग्यायोग्य की विचारणा से निर्णय-निश्चय हो कि यह सर्प का स्पर्श नहीं है, किन्तु रज्जु-डोरी का स्पर्श है; उसको ही अपाय कहते हैं। अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुत ये सभी शब्द एक अर्थ के वाचक-समानार्थक हैं।

(४) **धारणा**—अपने वस्तु-पदार्थ का जो ज्ञान-बोध, तद् विषयक चिरस्थिति या अवधारण को **धारणा** कहते हैं। अर्थात्—अपने योग्य पदार्थ का जो बोध हुआ है, उस बोध का अधिक काल तक स्थिर रहना, इसे धारणा कहा जाता है। अवधारणा गृहीत ज्ञान कालान्तर में नष्ट हो जाता है, किन्तु ऐसा है कि पुनः योग्य निमित्त मिलने पर निश्चित विषय का स्मरण हो जाय, ऐसी निश्चय की सततधारा एवं तद्जन्यसंस्कार और संस्कारजन्य स्मृति-स्मरण वही धारणा है।

उपर्युक्त चारों भेदों का जो क्रम है, वह सहेतुक है। कारण कि सूत्रक्रम से उसकी उत्पत्ति है और उसी का वह सूचक भी है। अर्थात्—अवग्रहादि क्रमशः प्रवर्तित होते हैं। फिर भी कमलदलशत-पत्रभेद के समान अति शीघ्रता से प्रवर्तता होने से हमें उसकी अनुभूति नहीं होती। हमें तो ऐसा ज्ञात होता है जैसे सीधा ही अपाय हो रहा हो। अपाय के पश्चात् धारणा होती है। धारणा के भी तीन भेद हैं। १. अविच्युति २. वासना ३. स्मृति। (१) **अविच्युति**—उपयोग से च्युत न होना, अर्थात् प्रवाहित हो उपयुक्त होना ही अविच्युति है। अर्थात्—निर्णय के पश्चात् वस्तु का उपयोग उपयुक्त हो यही अविच्युति है। (२) **वासना**—अविच्युति से आत्मा में पड़े हुए संस्कार वासना हैं। यही संस्कार वासना धारणा के नाम से ख्यात हैं, जो संख्यात, असंख्यात काल पर्यन्त भवान्तर में भी रह सकते हैं एवं अनुभव किये जा सकते हैं। (३) **स्मृति**—मतिज्ञान के दूसरे प्रकार का नाम स्मृति है। इससे इन्द्रियज्ञान का विषय स्मृति में आता है। मनोवैज्ञानिक पाश्चात्य दार्शनिक इसे Recollection अथवा Recognition भी कहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक Hobbe के अनुसार तो स्मरण का विषय अथवा Idea मात्र मरणोन्मुख इन्द्रियज्ञान Nothing But Decaying Sense ज्ञात होता है। ये तथ्य जैनदर्शन में हजारों वर्ष पूर्व स्मृति ज्ञान विषय में पूर्ण वैज्ञानिकता से परिभाषित एवं विश्लेषित किये गये हैं, जैसे इन वैज्ञानिकों ने उसी की हूबहू नकल की हो ऐसा लगता है। इससे ज्ञात होता है कि हमारा दर्शन कितना समृद्ध एवं कितना श्रेष्ठ है। अब देखिये—जैन तत्त्वार्थ में स्मृति का कितना स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। आत्मा में यह संस्कार दृढ़ होने के पश्चात् कालान्तर में ऐसे किसी भी पदार्थ के दर्शनादिक से पूर्व के संस्कार जागृत होने पर यथा 'यह वही है जो मैंने पूर्व में प्राप्त किया था या देखा था या मेरी अनुभूति में आया था' इस प्रकार के रूप का जो ज्ञान होता है उसे स्मृति ज्ञान कहते हैं। जातिस्मरण ज्ञान का समावेश इसी स्मृति में हुआ करता है तथा इसी स्मृतिज्ञान के कारण वासना (संस्कार) स्मृति में होती है। जो संस्कार आत्मा में नहीं पड़े होंगे, उनका कभी स्मरण भी नहीं होगा। वासना (संस्कार) उपयोगात्मक अविच्युति धारणा से उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

❀ अवग्रहादीनाम् भेदाः ❀

बहु-बहुविध-क्षिप्र-निश्रिताऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।। १६ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

पूर्वसूत्रे कथिता अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागाः सन्ति । एषां बह्वादीनामर्थानाम् सम्प्रतिपक्षाणां भवन्त्येकशः । बहु, बहुविधं (अनेकप्रकारकं), क्षिप्रं (शीघ्रतया), निश्रितं (चिह्नसहितं), असंदिग्धं (सन्देहरहितं), ध्रुवं (निश्चितं), इति षट्; तथा तेषां प्रतिपक्षरूपं अर्थात् अबहु (किञ्चित्), अबहुविधं (अल्पप्रकारकं), अक्षिप्रं (दीर्घकालिकं), अनिश्रितं (चिह्नरहितं), सन्दिग्धं (सन्देहसहितं), अध्रुवं (अनिश्चितं), इति षट् च मिलित्वा द्वादशविधं अवग्रहादिकं भवति । अर्थात्– (१) बह्वगृह्णाति, (२) अल्पमवगृह्णाति, (३) बहुविधमवगृह्णाति (४) अबहुविधमवगृह्णाति, (५) क्षिप्रमवगृह्णाति, (६) अक्षिप्रमवगृह्णाति, (७) निश्रितमवगृह्णाति, (८) अनिश्रितमवगृह्णाति, (९) असंदिग्धमवगृह्णाति (१०) संदिग्धमवगृह्णाति, (११) ध्रुवमवगृह्णाति, (१२) अध्रुवमवगृह्णाति चेति । एवमीहाऽपाय-धारणानामपि ज्ञेयम् ।। १६ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–बहु, बहुविध, क्षिप्र, निश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव ये छह तथा सेतर अर्थात् इनसे विपरीत क्रमशः अबहु (अल्प), अबहुविध (एकविध), अक्षिप्र (चिरेण), अनिश्रित, संदिग्ध और अध्रुव; ये छह मिलकर कुल बारह प्रकार के अवग्रहादि रूप मतिज्ञान के प्रभेद हैं ।। १६ ।।

卐 विवेचन 卐

स्पर्शनेन्द्रियादि पाँच इन्द्रिय और मन इन छह साधनों द्वारा उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान के अवग्रहादि बारह भेद होते हैं । जीव-आत्मा के क्षयोपशम और विषय की विविधता से अवग्रहादिक के बारह-बारह भेद होते हैं । अर्थात् अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा इनमें से प्रत्येक के बारह-बारह भेद होते हैं ।

(१-२) **बहुग्राही-अबहुग्राही:**—बहु का अर्थ है अनेक और अबहु का अर्थ है अल्प-एक, इनको जानना । जैसे—दो या इससे भी अधिक-विशेष शब्दों को या पुस्तकों को जानते हुए अवग्रहादि चारों क्रमभावी मतिज्ञान अनुक्रम से **बहुग्राही** अवग्रह, बहुग्राही ईहा, बहुग्राही अपाय, बहुग्राही धारणा कहलाते हैं तथा अल्प-एक शब्द को या एक पुस्तक को जानते हुए पूर्वोक्त अवग्रहादि चारों भेद **अल्पग्राही** कहलाते हैं । अर्थात्—कोई व्यक्ति तत, वितत, सुषिर, घन इत्यादि अनेक शब्दों को एक ही साथ जान सके, उसका अवग्रहादि अनेक शब्दों का होता है तथा जो व्यक्ति एकाध-दो शब्दों

को जान सके, उसका अवग्रहादि एकाध दो शब्द का ही होता है । इस तरह आगे भी क्षिप्रादि भेदों में जानना चाहिए ।

(३-४) **बहुविधग्राही-अबहुविधग्राहीः**—बहुविधग्राही का अर्थ अनेक प्रकार से और अबहुविध ग्राही का अर्थ एक प्रकार से जानना । जैसे—रूप, रंग, आकृति-आकार इत्यादि विविधता वाले पुस्तकादि को जानते हुए उक्त चारों अवग्रहादि ज्ञान अनुक्रम से **बहुविधग्राही** कहलाते हैं । इसी तरह ईहा, अपाय और धारणा भी बहुविधग्राही कहे जाते हैं एवं एक प्रकार से पुस्तकादि को जानने वाले का ज्ञान उक्त बहुविधग्राही चारों भेद के समान **अबहुविधग्राही** अर्थात्—**एकविधग्राही** कहा जायेगा । अर्थात्—कोई तत शब्द के अनेक भेदों को जान सके एवं वितत शब्द के भी अनेक भेदों को जान सके । ऐसे अनेक प्रकारों को जान सकता है । कोई एकाध दो प्रकार को ही जान सकते हैं । यहाँ पर व्यक्तिगत बहु तथा अल्प का अर्थ संख्यावाची है और बहुविध या एकविध का अर्थ उसकी विविधता का अवबोधक है ।

(५-६) **क्षिप्रग्राही-अक्षिप्रग्राहीः**—क्षिप्र का अर्थ है शीघ्र यानी जल्दी और अक्षिप्र का अर्थ है धीरे यानी विलम्ब से । पूर्वोक्त अवग्रहादि चारों भेद जब जल्दी-शीघ्रग्राही होते हैं तब उनको शीघ्रग्राही कहते हैं तथा जो धीरे-विलम्ब से होता है तब उनको **अक्षिप्रग्राही** कहते हैं ।

(७-८) **निश्रितग्राही-अनिश्रितग्राही**—निश्रित का अर्थ है चिह्न यानी निशानी युक्त तथा अनिश्रित का अर्थ है चिह्न यानी निशानी रहित । जैसे—पूर्व में अनुभव द्वारा शीतल, कोमल और सुकुमारादि स्पर्श रूप लिङ्गादिक से वर्त्तमान में जुही के पुष्प-फूल को जानने वाले को पूर्वोक्त चारों ज्ञान क्रमशः निश्रितग्राही अवग्रहादि रूप हैं तथा लिङ्ग के बिना पुष्प-फूलों को जानने वाले का ज्ञान क्रमशः अनिश्रितग्राही-अलिङ्गग्राही अवग्रहादि है । अर्थात्—कोई व्यक्ति अमुक प्रकार के चिह्नों से यह अमुक प्रकार की वस्तु-पदार्थ है इस तरह जान लेता है तथा कोई व्यक्ति चिह्नों के बिना भी जान लेता है । जैसे—कोई व्यक्ति जिनमूर्ति के वृषभलाञ्छन को देखकर कहता है कि—यह मूर्त्ति श्री ऋषभदेव भगवान की है तथा कोई व्यक्ति वृषभलाञ्छन देखे बिना भी कहता है कि—यह मूर्त्ति श्री आदिनाथ-ऋषभदेव भगवान की है ।

(९-१०) **असन्दिग्धग्राही-सन्दिग्धग्राहीः**—असन्दिग्ध का अर्थ है सन्देहरहित—निश्चय और सन्दिग्ध का अर्थ है सन्देहसहित—अनिश्चय जैसे—यह स्पर्श चन्दन का है, पुष्प-फूल का नहीं । इस तरह स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले के उपर्युक्त चारों ज्ञान असन्दिग्ध-निश्चयग्राही अवग्रहादि हैं तथा चन्दन और पुष्प-फूल दोनों का स्पर्श शीतल होता है, इसलिए यह चन्दन का स्पर्श है या पुष्प-फूल का है ? इस तरह अनुपलब्धज्ञान सन्देहयुक्त होता है । इसलिये उसको सन्दिग्ध-अनिश्चयग्राही अवग्रहादि ज्ञान कहते हैं ।※

※ "बहु-बहुविध-क्षिप्र-निश्रिताऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१-१६॥" इस सूत्र में **'असंदिग्ध'** के स्थान में **'अनुक्त'** ऐसा पाठ भी देखने में आता है । 'बिना कही हुई' को **'अनुक्त'** कहते हैं और कही हुई को **'उक्त'** कहते हैं । जैसे—किसी भी वक्ता के प्रारम्भ के एकाध शब्द को सुनकर या अस्पष्ट अपूर्ण-अधूरे शब्द को सुनकर, उसके कहने के सम्पूर्ण अभिप्राय को जान सके, उसको **अनुक्तग्राही** कहते हैं तथा उससे विपरीत अर्थात्—वक्ता के सम्पूर्ण बोलने पर ही उसका अभिप्राय समझ सके ऐसे ज्ञान को **उक्तग्राही** कहते हैं ।

(११-१२) **ध्रुव-अध्रुव**—ध्रुव का अर्थ है **निश्चय** और अध्रुव का अर्थ है **अनिश्चय**। जैसे—इन्द्रियों और मन आदि की साधन-सामग्री समान होते हुए भी एक व्यक्ति विषय को अवश्य जानता है और दूसरा व्यक्ति कदाचिद् जानता है तथा कदाचिद् नहीं भी जानता है। अवश्य जानने वाले व्यक्ति के पूर्वोक्त अवग्रहादि चारों ज्ञान **ध्रुवग्राही** हैं तथा इन्द्रिय और मन आदि की साधन-सामग्री होते हुए भी क्षयोपशम की मन्दता से किसी समय पर ग्रहण करता है तथा किसी समय ग्रहण नहीं भी करता है। इसलिये ऐसे पूर्वोक्त चारों ज्ञान **अध्रुवग्राही** कहलाते हैं। इन बारह भेदों में से बहु, अल्प, बहुविध और एकविध ये चारों भेद विषय की विविधता से होते हैं। शेष अठारह भेद क्षयोपशम की तारतम्यता से होते हैं। मतिज्ञान के २८८ भेद होते हैं। जैसे—पाँच इन्द्रिय और मन इन छह को अवग्रहादि चार भेदों युक्त गिनने से चौबीस भेद होते हैं। उन चौबीस को बहु आदि बारह भेदों सहित गिनने से २८८ भेद होते है ॥१६॥

❀ अवग्रहादीनां विषयः ❀

अर्थस्य ॥ १७ ॥

✻ सुबोधिका टीका ✻

अर्थस्य अर्थाद्-स्पर्शनादिविषयस्य अवग्रहादयो मतिज्ञानस्य भेदाः भवन्ति। अवग्रहादयश्चत्त्वारो भेदाः अर्थग्राहीरूपाः भवन्ति एव ॥ १७ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ये चारों भेद अर्थग्राही होते हैं। अर्थात्—अवग्रहादि मतिज्ञान **अर्थ** अर्थात् वस्तु-पदार्थ को ग्रहण करते हैं। वस्तु-पदार्थ का ज्ञान अवग्रहादि चार प्रकार से होता है ॥ १७ ॥

卐 विवेचन 卐

शास्त्र में द्रव्य और पर्याय को वस्तु कहते हैं। इसका अन्य नाम अर्थ भी है। स्पर्शादि गुणरूप अर्थ के और स्पर्शादि गुण सहित द्रव्य रूप अर्थ के अवग्रहादि होते हैं। **प्रश्न—इन्द्रिय और मनोजन्य अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा का ज्ञान क्या द्रव्यरूप वस्तु-पदार्थग्राही है या पर्यायरूप वस्तु-पदार्थग्राही है ?**

उत्तर—मुख्यतया अवग्रहादि ज्ञान **पर्यायग्राही** हैं, सम्पूर्ण द्रव्यग्राही नहीं हैं। जीव-आत्मा द्रव्य को पर्याय द्वारा जानते हैं। कारण कि—पाँचों इन्द्रियों और मन का मुख्य विषय पर्यायग्राही है तथा पर्याय द्रव्य का एक अंश ही है। जब जीव-आत्मा अवग्रहादि ज्ञान द्वारा पाँचों इन्द्रियों और मन की सहायता से अपने-अपने विषय रूप पर्याय को जानता है, तब वह तद्-तद् पर्याय रूप से द्रव्य को भी अंशतः जानता है। कारण यह है कि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रह सकती और द्रव्य पर्याय से रहित नहीं होता है। यद्यपि इन्द्रियों और मन का विषय पर्याय रूप है, तो भी पर्याय द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्याय के ज्ञान के साथ द्रव्य का भी ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे—नेत्र से रूप का ज्ञान होने के साथ ही 'यह अमुक द्रव्य है' ऐसे द्रव्य का भी बोध अवश्य हो जाता है। नेत्र का विषय रूप, स्थान, आकृति-आकारादि है। यह पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय है। जीव-आत्मा द्वारा

नेत्र आम्रफल को ग्रहण करता है। उसके रूप, आकृति-आकार विषयों को जानता है और वे आम्रफल से भिन्न नहीं हैं। इसलिए स्थूलदृष्टि से यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण रूप से आम्रफल देखा, किन्तु उस आम्रफल का जैसे—केरी की अवस्था में रूप और आकृति के बिना उसकी स्पर्श, रस और गन्ध इत्यादि अनेक पर्यायों का ज्ञान नेत्रों से नहीं हो सकता है; इसी तरह स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय वस्तु-पदार्थ की भिन्न-भिन्न पर्यायों को जानती हैं। जैसे—स्पर्शनेन्द्रिय खाद्य और पेय पदार्थ के उष्णशीतादि स्पर्श को, रसनेन्द्रिय कटु-मधुरादि रस को तथा घ्राणेन्द्रिय सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि गन्ध को ही जानती हैं। किसी भी एक इन्द्रिय द्वारा वस्तु-पदार्थ की सम्पूर्ण पर्यायों का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी भाषात्मक पुद्गलों की ध्वनि रूप पर्याय को ग्रहण करती है, किन्तु सम्पूर्ण अंशों की विचारणा एक साथ नहीं होती है तथा मन भी वस्तु-पदार्थ के किसी एक अंश का विचारक है किन्तु सम्पूर्ण अंशों की विचारणा एक साथ नहीं होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पाँचों इन्द्रियों और मनोजन्य अवग्रहादि चारों भेद मुख्य रूप से पर्याय विषयग्राही हैं। इसलिए इसी पर्याय द्वारा द्रव्य को जानते हैं। अवग्रहादि द्रव्य रूप अर्थ के भी होते हैं, ऐसा सामान्य से--स्थूलदृष्टि से कह सकते हैं, किन्तु तात्त्विकदृष्टि से तो गुण-पर्याय के ही अवग्रहादि होते हैं। इस प्रकार समझना चाहिए। पूर्व सूत्र में वस्तु-पदार्थ की विशेषता विशेष रूप में बतायी है और इधर प्रस्तुत सूत्र में सामान्य रूप से वर्णन किया है ॥१७॥

❀ अवग्रहानामवान्तरभेदः ❀

व्यञ्जनस्याऽवग्रहः ॥ १८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

व्यञ्जनस्य अर्थाद् अव्यक्तस्य तु अवग्रह एव भवति। तदित्थं व्यञ्जनस्य अर्थस्य च द्विविधोऽवग्रहा बोधव्या। ते च ईहादयः अर्थेषु एव भवन्ति ॥ १८ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—व्यञ्जन (अव्यक्त शब्दादि का) अवग्राही है। अर्थात्—व्यञ्जन पदार्थ का अवग्रह ही होता है। ईहा आदि शेष तीन अर्थ (व्यक्त वस्तु-पदार्थ) के ही होते हैं ॥ १८ ॥

卐 विवेचन 卐

व्यञ्जन अवग्रह का (अर्थावग्रह का) ही विषय बनता है, ईहा इत्यादि का नहीं। उसका कारण यह है कि—**ईहा इत्यादि के ज्ञानव्यापार में इन्द्रिय-विषय का संयोग अपेक्षित नहीं है। उसमें तो मुख्यपने मानसिक एकाग्रता अपेक्षित है।** अव्यक्त ज्ञान में ही यह संयोग अपेक्षित है। जैसे—लंगड़े मनुष्य को चलने के लिए लकड़ी के सहारे की आवश्यकता रहती है, वैसे जीव-आत्मा की आच्छादित रही हुई चेतना-शक्ति के लिए सहारे की अपेक्षा रहती है। इसी कारण से बाह्य साधन रूप इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है। उपकरणेन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध-संयोग के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए परस्पर सम्बन्ध-संयोग हो जाय तो ही अर्थ का ज्ञान होता है। उपकरणेन्द्रिय और विषय के परस्पर सम्बन्ध-संयोग को ही **व्यञ्जन** कहने में आता है। अर्थात्

जिनसे अर्थ का ज्ञान हो जाय, वही व्यंजन है। अवग्रह तो दोनों ही प्रकार के पदार्थ का हुआ करता है, व्यंजन का भी और अर्थ का भी; जिनको क्रम से **व्यञ्जनावग्रह** और **अर्थावग्रह** कहते हैं। उपकरणेन्द्रिय और विषय के परस्पर सम्बन्ध-संयोग होते ही जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, उसे **व्यंजनावग्रह** कहते हैं तथा व्यंजनावग्रह के पश्चात् 'कुछ है' ऐसा सामान्य ज्ञान रूप **अर्थावग्रह** होता है।

सारांश यह है कि इन्द्रियों के साथ ग्राह्य विषय का सम्बन्ध-संयोग हुए बिना ज्ञानधारा का आविर्भाव होना पटुक्रम है। इसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और अन्तिम अंश स्मृति रूप धारणा है। जीव-आत्मा के मन्दक्रम से ग्राह्य विषय का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध-संयोग होने के बाद, ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है; जिसका पहला अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततर और व्यंजनावग्रह ज्ञान है और दूसरा अंश अर्थावग्रह तथा अन्तिम अंश स्मृतिरूप धारणा है।

इन्द्रिय और विषय सम्बन्ध-संयोग की सापेक्षता से मन्दक्रम की ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। इस बात को स्पष्टता से समझाने के लिए सकोरे का उदाहरण–दृष्टान्त इस प्रकार है। जैसे—भट्टी में से तत्काल बाहर निकले हुए अतिरुक्ष **सकोरे** में जल की एक बूंद डालने के साथ तत्काल वह सकोरा बूंद सोख लेता है-चूस लेता है, जिससे उसमें जल की बूंद देखने में भी नहीं आती है। इस तरह उसमें कितना ही जल (पानी की बूंदें) डालते रहो, वह सकोरा सोखता ही जायगा; किन्तु अन्त में वह भीग कर उन जल की बूंदों को सोखने में जब असमर्थ होगा तब वे जलबिन्दु समूह के रूप में एकत्र होकर दिखाई देने लगेंगे। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि—प्रारम्भ में जो सबसे पहली पानी की बूंद सकोरे में डाली गई थी, वह भी उसमें मौजूद थी, तो भी उस जलबूंद का इस प्रकार से शोषण हुआ कि वह नेत्रों से दिखाई भी नहीं देती। जब क्रमशः जल-पानी का प्रमाण वृद्धि को प्राप्त हुआ तथा सकोरे की सोखने की शक्ति कम हुई तब उसमें आर्द्रता यानी गीलापन दिखाई देने लगा। तत्पश्चात् जल का शोषण नहीं हुआ, किन्तु पानी एकत्र होकर दिखाई देने लगा। जब तक सकोरा पानी चूसता है तब तक उसमें पानी दिखने में नही आता, तो भी उसमें पानी नहीं है, ऐसा नहीं कहा जाता। कारण कि उसमें पानी है, किन्तु वह अव्यक्त है। सकोरा भीग जाने के बाद पानी व्यक्त होता है। उसी तरह प्रस्तुत व्यंजनावग्रह में ज्ञान अव्यक्त होता है और अर्थावग्रह में सामान्य रूप से व्यक्त होता है। जिस तरह मिट्टी के बनाये हुए किसी सकोरे आदि बर्तन के ऊपर पानी की बूंद पड़ने से पहले तो वह व्यक्त नहीं होती है, किन्तु पीछे से वह धीरे-धीरे क्रमशः पड़ते-पड़ते व्यक्त हो जाती है; उसी तरह कहीं-कहीं कानों पर पड़ा हुआ शब्द आदि भी पहले तो अव्यक्त होता है, बाद में व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार अव्यक्त वस्तु-पदार्थ को व्यंजन कहते हैं और व्यक्त को अर्थ कहते हैं। व्यक्त के अवग्रहादि चारों होते हैं तथा अव्यक्त का तो अवग्रह ही होता है। इस विषय के सम्बन्ध में पटुक्रम शीघ्रगामी धारा के लिए दर्पण का भी दृष्टान्त आता है। जैसे—आईने-दर्पण के सामने आई हुई वस्तु-पदार्थ का प्रतिबिम्ब तत्काल दिखाई देता है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिम्बत वस्तु-पदार्थ के स्पर्श रूप साक्षात् संयोग की आवश्यकता नहीं रहती है, परन्तु प्रतिबिम्बग्राही दर्पण और प्रतिबिम्बित वस्तु-पदार्थ का संयोग स्थान संनिधान-सामीप्य अवश्य है इसलिए उसके सामने होते ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। वैसे ही नेत्र के सामने आई हुई वस्तु-पदार्थ सामान्य रूप से तत्काल दिखाई देती है। इसके लिए वस्तु-पदार्थ का और नेत्र का संयोग सापेक्ष नहीं है। जैसे कान और शब्द के संयोग की सापेक्षता है वैसा नहीं है, तो भी दर्पण के समान नेत्र और वस्तु-पदार्थ की

सिर्फ योग्य निकटता होनी चाहिए। इसीलिए पटुक्रम की धारा में सबसे पूर्व अर्थावग्रह मान्य है तथा मन्दक्रम धारा में व्यंजनावग्रह का स्थान है, किन्तु पटुक्रम धारा में व्यंजनावग्रह नहीं है। यद्यपि अपाय की दृष्टि से अर्थावग्रह भी अव्यक्त ज्ञान है, किन्तु व्यंजनावग्रह की दृष्टि से अर्थावग्रह व्यक्त ज्ञान है। व्यंजनावग्रह में तो ज्ञान की अंश मात्र भी अभिव्यक्ति नहीं होती। अर्थावग्रह में 'कुछ है' ऐसी सामान्य ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ पर इतना ध्यान अवश्य रखना है कि वस्तु-पदार्थ का व्यञ्जनावग्रह हो जाय तो ही अर्थावग्रह होता है, ऐसा नियम है; किन्तु व्यंजनावग्रह हो जाय तो अर्थावग्रह होता ही है, ऐसा नियम नहीं है ॥१८॥

❀ व्यंजनावग्रहस्य विशेषता ❀

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

चक्षुषा मनसा च व्यञ्जनस्य अर्थाद् द्रव्यस्य अवग्रहो न जायते, किन्तु अवशिष्टचै: चतुर्भिरिन्द्रियैरेव अवग्रहो भवति। अनेन प्रकारेण मतिज्ञानस्य द्वि-चतुरष्टाविंशतिभेदानां बह्वादिषड्भिः सह गुणनेन अष्टष्टचधिकमेकशतं भेदाः जायन्ते। तथा अष्टाविंशतेश्च द्वादशसङ्ख्यागुणनेन षट् त्रिंशदधिकशतत्रयं (३३६) भेदाः श्रुतनिश्रितमतिज्ञानस्य भेदाः प्रभवन्ति ॥ १९ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं होता अर्थात् नेत्र और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है ॥ १९ ॥

卐 विवेचन 卐

नेत्र और मन के द्वारा होने वाले मतिज्ञान में व्यंजनावग्रह के बिना सीधा ही अर्थावग्रह होता है। कारण कि—वहाँ पर उपकरणेन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध-संयोग की आवश्यकता नहीं रहती है। नेत्र और मन दोनों केवल योग्य सन्निधान से या अवधान-स्मरण मात्र से ही अपने ग्राह्य विषय-पदार्थ को जान लेते हैं। स्पर्शनेन्द्रियादि चार इन्द्रियाँ तो उनके साथ जब अपने विषय का सम्बन्ध-संयोग हो जाय तभी उसे जान सकती हैं। समीप या दूर-दूरतर रहे हुए मन्दिरों, मूर्त्तियों, तीर्थों, पर्वतों, समुद्रों, नदियों, वृक्षों, मुकामों तथा प्राणियों आदि को तो चक्षु-नेत्र ग्रहण करता है-देखता है तथा हजारों कोस दूरवर्ती-सुदूरवर्ती वस्तु-पदार्थ का चिन्तन तो मन कर सकता है। इसलिए नेत्र और मन को अप्राप्यकारी कहा है और स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय इन चारों को प्राप्यकारी कहा है। कारण कि—ये चार इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय-पदार्थ को ग्रहण करती हैं। जब तक पानी आदि का स्पर्श शरीर के साथ न हो, गुड़-शक्कर आदि रसना-जीभ पर न रखी जाय, पुष्प-फूल-अत्तर आदि के रजकरण

नासिका-नाक में प्रवेश न करें तथा शब्द कान के भीतर प्रवेश न करे; तब तक उन-उन विषयों-पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है।

सारांश यह है कि मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। किस तरह ? सो कहते हैं कि—निमित्त कारण की अपेक्षा मतिज्ञान के दो भेद हैं। एक इन्द्रियनिमित्तक और दूसरा अनिन्द्रियनिमित्तक। पाँच इन्द्रियों और छठे मन इन छह को अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा इन चारों के साथ गिनने से चौबीस भेद होते हैं और इन्हीं में व्यंजनावग्रह के चार भेद मिलाने से अट्ठाईस भेद होते हैं। इन अट्ठाईस भेदों को बहु आदि बारह भेदों के साथ गिनने से तीन सौ छत्तीस (३३६) भेद होते हैं। [२×४=८, ४×५=२०, ८+२०=२८, २८×१२=३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं]

❀ श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेदों का यन्त्र ❀

卐	मन	चक्षु (आँख)	स्पर्शन (त्वचा)	रसना (जीभ)	घ्राण (नाक)	श्रोत्र (कान)	कुल भेद
[१] बहु	४	४	५	५	५	५	२८
[२] अबहु	४	४	५	५	५	५	२८
[३] बहुविध	४	४	५	५	५	५	२८
[४] अबहुविध	४	४	५	५	५	५	२८
[५] क्षिप्र	४	४	५	५	५	५	२८
[६] अक्षिप्र	४	४	५	५	५	५	२८
[७] निश्रित	४	४	५	५	५	५	२८
[८] अनिश्रित	४	४	५	५	५	५	२८
[९] असंदिग्ध	४	४	५	५	५	५	२८
[१०] संदिग्ध	४	४	५	५	५	५	२८
[११] ध्रुव	४	४	५	५	५	५	२८
[१०] अध्रुव	४	४	५	५	५	५	२८
							३३६ ४
							३४०

इनमें अश्रुतनिश्रितमतिज्ञान के औत्पातिकी आदि चार भेद उमेरते हुए ३४० भेद मतिज्ञान के होते हैं।

आगम ग्रन्थों में मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित इस तरह दो भेद कहे हैं। पर के उपदेश-प्रेरणा से या आगमग्रन्थादिक से जो कुछ भी श्रवण करने में या जानने में आ जाय वह **श्रुत** है। इस प्रकार के श्रुत से संस्कारित हुआ **मतिज्ञान श्रुतनिश्रित** कहा जाता है तथा पूर्व कभी भी जानकारी न होने पर विशिष्ट प्रकार के मतिज्ञान के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई ऐसी मति को **अश्रुतनिश्रित** कहते हैं।

मतिज्ञान के पूर्व कहे हुए ३३६ भेद श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के हैं तथा अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भी चार भेद हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) **औत्पातिकी**, (२) **वैनयिकी**, (३) **कार्मिकी** और (४) **पारिणामिकी**।

(१) **औत्पातिकी**—किसी कार्य में विशिष्ट प्रसंग उपस्थित होने पर उस प्रसंग को पार पाड़ने में तत्काल एकाएक उत्पन्न हुई मति बुद्धि को '**औत्पातिकी**' कहते हैं। जैसे—श्री अभयकुमार मन्त्रीश्वर की तथा रोहक आदि की औत्पातिकी मति-बुद्धि थी।

(२) **वैनयिकी**—गुरु आदि की विनय-वेयावच्च सेवा-भक्ति आदि करने से प्राप्त हुई मति-बुद्धि को '**वैनयिकी**' कहते हैं। जैसे कि—निमित्तज्ञ शिष्य आदि की मति-बुद्धि '**वैनयिकी**' है।

(३) **कार्मिकी**—काम करते-करते-अभ्यास करते-करते प्राप्त हुई मति-बुद्धि को '**कार्मिकी**' कहते हैं। जैसे—चोर तथा खेडूत आदि की मति-बुद्धि '**कार्मिकी**' है।

(४) **पारिणामिकी**—समय जाते हुए अनुभव से प्राप्त होने वाली मति-बुद्धि को '**पारिणामिकी**' कहते हैं। जैसे—श्री वज्रस्वामी महाराज आदि की मति-बुद्धि पारिणामिकी थी।

पूर्वोक्त श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेदों में अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद होते हैं। वास्तविकरीति से मतिज्ञान के क्षयोपशम की विचित्रता के तारतम्यत्व भाव से असंख्य भेद होते हैं ॥१६॥

❀ श्रुतज्ञानस्य स्वरूपं भेदाश्च ❀

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति। श्रुतं आप्तवचनादिकं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्। तच्च द्विविधं अङ्गबाह्यं अङ्गप्रविष्टं चेति। अनयोः प्रथमस्य अनेके भेदाः, द्वितीयस्य द्वादशभेदाः सन्ति। अङ्गबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा—सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्युत्सर्गः, प्रत्याख्यानमिति षडावश्यकम्। तथा दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, दशाश्रुतस्कन्धः, कल्प-व्यवहारौ, निशीथसूत्रं चेत्यादि महर्षि-भाषिताङ्गबाह्यश्रुतेत्यनेकविधं ज्ञेयम्। अङ्गप्रविष्टश्रुतस्य द्वादशभेदाः सन्ति। तथाहि—

[१] आचाराङ्गं, [२] सूत्रकृताङ्गं, [३] स्थानाङ्गं, [४] समवायाङ्गं, [५] व्याख्याप्रज्ञप्त्यङ्गं (भगवत्यङ्गं, पञ्चमाङ्गं), [६] ज्ञाताधर्मकथाङ्गं, [७] उपासकदशाङ्गं, [८] अन्तकृद्दशाङ्गं, [९] अनुत्तरौपपातिकदशाङ्गं, [१०] प्रश्नव्याकरणाङ्गं, [११] विपाकाङ्गं, [१२] दृष्टिवादाङ्गं चेति द्वादशविधान्यङ्गसूत्राणि ।

अत्राह–मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः परस्परं को भेदः ? इति दर्श्यते । उत्पन्नो भवन् विनाशमलभमानः एतादृशो यः पदार्थः तद्ग्राहि वर्त्तमानकालविषयकं मतिज्ञानं भवति । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयकं अर्थात् यः पदार्थः उत्पन्नोऽस्ति, एवं यश्च उत्पद्यविनाशं प्राप्तः तथा यः उत्पत्स्यते इति त्रयाणां ग्रहणं करोति ।

अधुना अङ्गबाह्ये अङ्गप्रविष्टे च परस्परं को भेदः ? इति दर्श्यते । वक्तृणां भेदेन इदं द्विविधम् । तद्यथा–सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना परमर्षिणा अर्हँ-अरिहन्तेन भगवता परमशुभ-तीर्थप्रवर्त्तनरूपफलदायक तीर्थङ्करनामकर्मणः प्रभावेन यद् कथितं तथाऽतिशयोवच्च एवमुत्तमातिशयवद् वाणी बुद्धिमद्भिः भगवतां शिष्यैः गणधरैः यद् संग्रथितं सन्निबद्धं तद् अङ्गप्रविष्टं भवति । गणधरानन्तरं ये अत्यन्तविशुद्धागमज्ञानवन्तः, परमप्रकृष्टवाणीबुद्धिशक्तिमन्तः आचार्याः कालस्य संघयणस्य आयुषश्च दोषेण ये अल्पशक्तिमन्तः शिष्याः तेषां उपकाराय यद् रचितवन्तः तद् अङ्गबाह्यमिति । सर्वज्ञप्रणीतत्त्वेन ज्ञेयपदार्थानामानन्तेन च मतिज्ञानापेक्षया श्रुतज्ञानं महद्विषयकं भवति । श्रुतज्ञानस्य महाविषयकत्वेन तद् तद् अधिकाराश्रयणेन च प्रकरणसमाप्त्यपेक्षया अङ्गं उपाङ्गस्य भेदोऽस्ति अङ्गोपाङ्गयोः रचना न स्याद् तदा समुद्रसंतरणमिव सिद्धान्तस्य ज्ञानं दुःसाध्यं स्यात् । अतः पूर्वं, वस्तु, प्राभृतं, प्राभृतप्राभृतं, अध्ययनं, उद्देशश्च कृता सन्ति ।

पुनः अत्र शिष्यः शङ्कां करोति–यत् मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं एकविषयं अस्ति, तेन द्वयोः विषयः एक एव भवति । तदा गुरोः प्रत्युत्तरं ददाति । यत् पूर्वोक्तकथनानुसारं मतिज्ञानं वर्त्तमानकालविषयकं भवति । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयकं भवति । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयकं इत्यनयोः भेदः । एवमेव मतिज्ञानापेक्षया श्रुतज्ञानं विशुद्धतरं इत्यपि तस्माद् भेदः । पुनश्च मतिज्ञानं इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकं, तथा आत्मनः ज्ञस्वभाव्यात् पारिणामिकं भवति । श्रुतज्ञानं तु मतिपूर्वकं आप्तपुरुषाणां सदुपदेशाद् भवतीत्यर्थः ।। २० ।।

❀ **सूत्रार्थ**–श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं–अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान के बारह भेद हैं ।। २० ।।

卐 विवेचन 卐

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। श्रुत, आप्त वचन, आगम, उपदेश, एतिह्य, आम्नाय, प्रवचन तथा जिनवचन ये सर्व एकार्थ वाचक शब्द हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंग-प्रविष्ट। इनमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं तथा अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं। **प्रश्न--अंगबाह्य श्रुतज्ञान के अनेक भेद कौन से हैं?** **उत्तर**--अंगबाह्यश्रुतज्ञान के अनेक भेद इस प्रकार हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायव्युत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान; ये षड़ावश्यक अंगबाह्य हैं। तदुपरान्त-दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार तथा निशीथ इत्यादि शास्त्र भी अंगबाह्य आगम सूत्र हैं।

प्रश्न--अंगप्रविष्टश्रुतज्ञान के बारह भेदों के क्या नाम हैं?

उत्तर--अंगप्रविष्टश्रुतज्ञान के बारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं--(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति-पंचमांग (भगवती), (६) ज्ञाता-धर्मकथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अन्तकृतदशांग, (९) अनुत्तरोपपातिकदशांग, (१०) प्रश्न-व्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

प्रश्न--मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में क्या विशिष्टता है?

उत्तर--मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान कहा जाता है। श्रुतज्ञान का विषय प्राप्त करने से पहले मतिज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। श्रुतज्ञान की पूर्णता के लिए मतिज्ञान सहायक है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का बाह्यकारण है। वास्तविक कारण तो क्षयोपशम है। किसी भी विषय-पदार्थ का मतिज्ञान होते हुए भी क्षयोपशम के अभाव से तद् विषयक श्रुतज्ञान नहीं भी होता है। जैसे मतिज्ञान का कारण मति-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, वैसे श्रुतज्ञान का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। इसलिए दोनों का भेद यथार्थ समझ में नहीं आता। मतिज्ञान वर्त्तमानकाल विषयी है और श्रुतज्ञान त्रिकालविषयी है। इसके अलावा दूसरा अन्तर यह भी है कि—मतिज्ञान का शब्दोल्लेख नहीं होता है और श्रुतज्ञान का शब्दोल्लेख होता है। पुनः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों में पाँचों इन्द्रियों और मन की अपेक्षा होते हुए भी मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का विषय विशेष है। इतना ही नहीं, किन्तु स्पष्टता यानो स्पष्टीकरण भी अधिक है। कारण कि—श्रुतज्ञान में मनोव्यापार की मुख्यता होने से जोव-आत्मा के विचार-विमर्श के अंश अधिक और स्पष्ट होते हैं। ये दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं।

प्रश्न—श्रुतज्ञान के दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद किस तरह से होते हैं?

उत्तर—श्रुतज्ञान अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट रूप से दो प्रकार का है तथा इसमें अंगबाह्य सूत्र के उत्कालिक और कालिक इत्यादि अनेक प्रकार यानी अनेक भेद हैं। एवं अंगप्रविष्ट सूत्र के आचा-रांगादि बारह भेद हैं।

प्रश्न—अंगबाह्य सूत्र की और अंगप्रविष्ट सूत्र की विशिष्टता यानी विशेषता किस अपेक्षा से है ?

उत्तर—इन दोनों की विशिष्टता-विशेषता वक्ता की अपेक्षा से है। अर्थात्—श्रुतज्ञान के दो भेद वक्ता के भेद की अपेक्षा से जानना। जिस ज्ञान को सर्वज्ञ विभु श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने अर्थ रूप से प्ररूपा अर्थात् प्रकाशित किया और श्रुतकेवली श्रीगणधर महाराजाओं ने ग्रहण करके सूत्र रूप से रचना की, उसे ही **अंगप्रविष्ट** कहते हैं तथा उसी के अनुसार शिष्यादिकों को सुगमता-सरलता से अवबोध-जानकारी कराने के लिए एवं सर्व साधारण जीवों के हितार्थ अन्य ज्ञानी आचार्य भगवन्तों ने और पूर्वधर महर्षियों ने विविध अनेक विषयों पर अनेक शास्त्रों की रचना की है, उनको **अंगबाह्य** कहते हैं ॥ २० ॥

❀ अवधिज्ञानस्य भेदाः ❀

द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

प्रोक्तं श्रुतज्ञानम्। अथ किमिति अवधिज्ञानम् ? कथ्यतेऽत्र–अवधिज्ञानं द्विप्रकारकमस्ति। भवप्रत्ययः, क्षयोपशमनिमित्तश्चेति। भवस्य निमित्तार्थमवश्यं भवति तद् **भवप्रत्ययमवधिज्ञानं** ज्ञेयम्। तथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मणः क्षयोपशमाद् भवति तद् क्षयोपशममवधिज्ञानं ज्ञेयमिति ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ–अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भवप्रत्यय अवधिज्ञान और दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान ॥ २१ ॥

卐 विवेचन 卐

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक। प्रत्यय यानी निमित्त। जो भव के निमित्त से अवश्य होता है, उसको **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** कहते हैं तथा जो अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है, उसे **क्षयोपशम प्रत्यय** (निमित्त) अवधिज्ञान कहते हैं ॥२१॥

❀ भवप्रत्ययावधिज्ञानस्य स्वामी ❀

भवप्रत्ययो नारक-देवानाम् ॥ २२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तत्र नारकाणां देवानां च यथायोग्यं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति। भवप्रत्ययं भवहेतुकं भवनिमित्तमित्यनर्थान्तरम्। भवः कारणं यस्य सः भवप्रत्ययिकः। यतः देवतानां नारकाणां च भवोत्पत्तिः सैव तस्य अवधिज्ञानस्य कारणं भवति। यथा–पक्षीणां

जन्म आकाशगतेः (उड्डनस्य) कारणं भवति, किन्तु तदर्थं शिक्षायाः तपसो वा आवश्यकता न जायते । तथैव देवगत्यां समुत्पन्नानां देवानां देवीनां च एवं नरकगत्यां समुत्पन्नानां नारकजीवानां अवधिज्ञानं स्वयं प्राप्तं भवतीति ।। २२ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–नारक और देवों को **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** होता है। केवल नारकी जीवों को और देवताओं को अवधिज्ञान जन्मसिद्ध 'भवप्रत्यय' निमित्त से होता है ।। २२ ।।

卐 विवेचन 卐

पूर्व सूत्र में अवधिज्ञान जो दो प्रकार का कहा है, उनमें से नारक और देवों के जो यथायोग्य अवधिज्ञान होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है। अर्थात्—जो ज्ञान जन्म के साथ ही तत्काल उत्पन्न हो उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यहाँ पर प्रत्यय शब्द का अर्थ हेतु या निमित्त कारण है। इसलिए भवप्रत्यय, भवहेतुक या भवनिमित्त ये सब शब्द एकार्थवाचक हैं। क्योंकि—नारक और देवों के अवधिज्ञान में तो भव में उत्पन्न होना ही कारण माना है। जैसे—पक्षियों को उस भव में जन्म लेने से ही आकाश में गमन करना स्वभाव से आ ही जाता है। उसके लिए उसको शिक्षा और तप कारण नहीं है। उसी प्रकार जो जीव-आत्मा देवगति या नरकगति प्राप्त करता है, उसको अवधिज्ञान भी स्वयं प्राप्त हो ही जाता है। वहाँ पर शिक्षा और तप इन दोनों ही कारणों का अभाव है। इसके लिये यम-नियमादि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती है। जन्मसिद्ध अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है।

यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी कर्म के क्षयोपशम की आवश्यकता अवश्य है, तो भी देव का या नारक का भव मिलने पर अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अवश्य होता है। इसलिये क्षयोपशम की अपेक्षा से भव की प्रधानता होने से देवभव और नारकभव में होने वाला अवधिज्ञान **'भवप्रत्यय'** ही है।

प्रश्न—नारक और देवों के अवधिज्ञान के विषय में क्षेत्र की मर्यादा कितनी है ?

उत्तर—सातों नरकों में अवधिक्षेत्र इस प्रकार है—

(१) **पहले नरक में**—जघन्य से ३।। कोस और उत्कृष्ट से ४ कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(२) **दूसरे नरक में**—जघन्य से ३ कोस और उत्कृष्ट से ३।। कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(३) **तीसरे नरक में**—जघन्य से २।। कोस और उत्कृष्ट से ३ कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(४) **चौथे नरक में**—जघन्य से २ कोस और उत्कृष्ट से २।। कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(५) **पाँचवें नरक में**—जघन्य से १।। कोस और उत्कृष्ट से २ कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(६) **छठे नरक में**—जघन्य से १ कोस और उत्कृष्ट से १।। कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

(७) सातवें नरक में—जघन्य से आधा कोस और उत्कृष्ट से १ कोस अवधिक्षेत्र की मर्यादा है।

● **भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क देवों में अवधिक्षेत्र** इस प्रकार है—

❀ जिन देवों का अर्धसागरोपम से कम आयुष्य होता है, उनका उत्कृष्ट तिर्च्छालोक में संख्यात योजन का अवधिक्षेत्र है। उससे अधिक आयुष्य वाले देवों का असंख्यात योजन का अवधिक्षेत्र है।

❀ उत्कृष्ट ऊर्ध्वलोक में भवनपतिदेवों का अवधिक्षेत्र सौधर्मदेवलोक तक है तथा व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवों का अवधिक्षेत्र संख्यात योजन तक है।

❀ उत्कृष्ट अधोलोक में भुवनपतिदेवों का अवधिक्षेत्र तीसरे नरक वालुकाप्रभा तक है तथा व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवों का अवधिक्षेत्र संख्यात योजन तक है।

❀ ऊर्ध्व आदि तीनों में भवनपतिदेवों का तथा व्यन्तरदेवों का जघन्य अवधिक्षेत्र पच्चीस योजन का है एवं ज्योतिष्कदेवों का जघन्य अवधिक्षेत्र संख्यात योजन तक का है।

● **वैमानिक देवों में अवधिक्षेत्र** इस प्रकार है—

❀ सौधर्म देवलोक के देवों का तथा ईशान देवलोक के देवों का अवधिक्षेत्र नीचे पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्त तक और ऊपर में अपने विमान की ध्वजा तक एवं तिर्यग् असंख्य योजन तक है। अर्थात्—वहाँ तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं।

❀ सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक के देवों का अवधिज्ञान नीचे दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी के अन्त तक तथा ऊपर में अपने विमान की ध्वजा तक एवं तिर्यग्-तिर्च्छु असंख्य योजन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं।

इस तरह क्रमशः आगे बढ़ते हुए अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण रूप से लोकनाड़ी को अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों में क्षेत्र से अवधिज्ञान का विषय समान है, उन देवों में भी ऊपर-ऊपर के प्रस्तर तथा विमानों की अपेक्षा अधिक-अधिक अवधिज्ञान होता है। इसी तरह अवधिज्ञान की विशुद्धि भी ऊपर-ऊपर अधिक-अधिक होती है ॥ २२ ॥

❀ **क्षयोपशमप्रत्ययावधिज्ञानस्य स्वामी** ❀

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

अत्र यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः। क्षयोपशमनिमित्तमवधिज्ञानमस्ति। शेषाणामिति नारक-देवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां अवधिज्ञानं जायते। तद् षड्विधं भवति। तद्यथा–[१] अनुगामिकमवधिज्ञानं, [२] अननुगामिकमवधिज्ञानं, [३] वर्द्धमान-

कमवधिज्ञानं, [४] हीयमानकमवधिज्ञानं, [५] अनवस्थितमवधिज्ञानं, [६] अवस्थितमवधिज्ञानं चेति ।

तत्र-(१) **अनुगामिकमवधिज्ञानं** यथा-यस्य जीवस्य यस्मिन् क्षेत्रे क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति साकं सहवासी एव ज्ञानं तद् **'अनुगामिकमवधिज्ञानं'** कथ्यते । तस्योदाहरणम्-सूर्यस्य प्रकाशवत् ।

(२) **अननुगामिकमवधिज्ञानं** यथा-यस्य जीवस्य यस्मिन् क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ज्ञानं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति तद् **'अननुगामिकमवधिज्ञानं'** कथ्यते । गमनसमये साकं न आगच्छतीति तस्योदाहरणम्-प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत् ।

(३) **वर्द्धमानकमवधिज्ञानं** यथा-यदङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागादिषु उत्पन्नं ज्ञानं वर्द्धते एव तद् **'वर्द्धमानकमवधिज्ञानं'** कथ्यते । तस्योदाहरणम्-अधरोत्तरारणिसंघर्षणोत्पन्नाग्निज्वाला शुष्क पत्रादीन्धनसमूहाग्निवत् ।

(४) **हीयमानकमवधिज्ञानं** यथा-असंख्येयद्वीप-समुद्र-पृथिवी-विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमधो यदुत्पन्नं ज्ञानं क्रमशः संक्षिप्यमाणं न्यूनं प्रतिपतति । आ अङ्गुलासङ्ख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा भवति तद् **'हीयमानकमवधिज्ञानं'** कथ्यते । तस्योदाहरणम्--परिच्छिन्नेन्धनोपादानसन्ततिवह्निशिखावत् ।

(५) **अनवस्थितं (प्रतिपाती) अवधिज्ञानं** यथा-अनियमितं अर्थात् हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते इति, तद् **अनवस्थितं (प्रतिपाती) अवधिज्ञानं** कथ्यते । **तस्योदाहरणम्**-उत्पद्यते चेति पुनः पुनरूर्मिवत् ।

(६) **अवस्थितं (अप्रतिपाती) अवधिज्ञानं** यथा-निश्चितं, अर्थाद् यावति क्षेत्रे येन आकारेण उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्याकेवलज्ञानं प्राप्तेः आ भवक्षयाद् वा जन्मान्तर-स्थायि वा भवति तद् **'अवस्थितमवधिज्ञानं'** या **'अप्रतिपातीमवधिज्ञानं'** कथ्यते । तस्योदाहरणम्-लिङ्गवत् (चिह्नवत्) ।। २३ ।।

❀ **सूत्रार्थ**-यथोक्तनिमित्त अर्थात् क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान के छह भेद हैं । शेषाणाम्-अर्थात् तिर्यंग् और मनुष्यों में क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है-(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) अनवस्थित या प्रतिपाती तथा (६) अवस्थित या अप्रतिपाती । ये सब भेद मनुष्यों और तिर्यंचों में पाये जाते हैं ।। २३ ।।

卐 विवेचन 卐

इस सूत्र में '**यथोक्तनिमित्तक**' ऐसा शब्द जो दिया है, वह अवधिज्ञान के दूसरे भेद को बताने के लिये है। पूर्व सूत्र में भवप्रत्यय अवधिज्ञान का निर्देश करते हुए कहा था कि—जो ज्ञान जन्म के साथ तत्काल उत्पन्न होता है, उसको **भवप्रत्यय** अवधिज्ञान कहते हैं। इसके लिये अन्य यम-नियमादि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती। इधर शेष जीवों के शास्त्रोक्त क्षयोपशमरूप निमित्त से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को **गुणप्रत्यय** या **यथोक्तनिमित्तक** अर्थात् **क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान** कहते हैं। जो यम (पंचमहाव्रत) नियम और पच्चक्खाण आदि अनुष्ठान के बल से प्रकट होता है। देव और नरक गति के जीवों को पूर्वोक्त भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यंच गति के जीवों को यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

प्रश्न—जब चारों गति वाले जीव इस अवधिज्ञान को पा सकते हैं तो फिर एक को जन्म से हो जाता है और दूसरे को तपादिक अनुष्ठान करने पड़ते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—यह कर्म की विचित्रता अनुभवसिद्ध है। जैसे—आकाश में उड़ने की शक्ति पक्षी-जाति में जन्मसिद्ध है, किन्तु मनुष्य जाति में जन्मसिद्ध नहीं है। उनको तो किसी मन्त्र विद्या या वर्तमान विमानरूप एरोप्लेन इत्यादि का सहारा ले करके आकाश में गमन करना पड़ता है।

अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से इस क्षयोपशम गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं—(१) अनुगामी अवधिज्ञान, (२) अननुगामी अवधिज्ञान, (३) वर्धमान अवधिज्ञान, (४) हीयमान अवधिज्ञान, (५) अनवस्थित या प्रतिपाती अवधिज्ञान तथा (६) अवस्थित या अप्रतिपाती अवधिज्ञान।

(१) अनुगामी अवधिज्ञान—जिस जीव को जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो, उस स्थान से पुनः अन्य स्थान में गमन करने पर भी उसका वह अवधिज्ञान च्युत न हो। अर्थात्—वहाँ से गमन करने पर भी वह ज्ञान उसके साथ ही रहे, उसको '**अनुगामी या अनुगामिक अवधिज्ञान**' कहते हैं। जैसे—पूर्व दिशा में उदित होने वाले सूर्य का प्रकाश पूर्व दिशा के पदार्थों को प्रकाशित करता है और अन्य दिशा के पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही इधर भी फानस-बत्ती के दीपक की तरह साथ में आने वाले अनुगामी अवधिज्ञान का उपयोग प्रवर्त्तता है।

(२) अननुगामी अवधिज्ञान—जिस जीव का अवधिज्ञान प्राप्त स्थान से अन्य स्थान पर गमन करने पर च्युत हो जाय अर्थात् चला जाय, अपने विषय को जानने में समर्थ या उपयुक्त न हो सके, उसे **अननुगामी या अनानुगामिक अवधिज्ञान** कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति का नैमित्तिकज्ञान इस प्रकार का होता है कि वह अपने स्थान पर रहते हुए प्रश्न का उत्तर दे सकता है, किन्तु अन्यत्र स्थान में ठीक उत्तर नहीं दे सकता। इस तरह इस अवधिज्ञान के विषय में भी समझना। सारांश यह है कि—साथ में नहीं आने वाला यह अननुगामी अवधिज्ञान जिस स्थल में जीव को उत्पन्नहोता है उसी स्थल में उसका उपयोग प्रवर्त्तता है। किन्तु जीव के अन्यत्र स्थल में जाने पर यहाँ उसका उपयोग नहीं प्रवर्त्तता है। जैसे—इलेक्ट्रिक बलब का प्रकाश।

(३) वर्धमान अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग आदिक जितने विषय के प्रमाण को लेकर उत्पन्न होता है, उस प्रमाण से आगे बढ़ता ही चला जाय, उसको '**वर्धमान**

अवधिज्ञान' कहते हैं । अर्थात्--जो अवधिज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अपनी आत्मा के परिणामों की विशुद्धता द्वारा प्रति समय प्रवर्द्धित होता ही रहे, वह **वर्धमान अवधिज्ञान** कहा जाता है । जैसे—अग्नि का करण तृण-घास को पाकर वृद्धि को प्राप्त होता है । वैसे यह अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद प्रदीप्त अग्नि की तरह क्रमशः बढ़ता ही जाता है । सारांश यह है कि--नीचे और ऊपर अरणिकाष्ठ के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि की ज्वाला शुष्क पत्रादि तथा ईन्धन राशि का निमित्त पाकर आगे बढ़ती हुई जैसे चली जाती है, वैसे यह उत्पन्न हुआ वर्द्धमान अवधिज्ञान उससे अन्तरंग बाह्य निमित्त पाकर के सम्पूर्ण लोकपर्यन्त बढ़ता ही चला जाता है ।

(४) **हीयमान अवधिज्ञान**--जो अवधिज्ञान असंख्यात द्वीप, समुद्र, पृथिवी, विमान और तिर्यक्-तिरछा या ऊर्ध्व, अधोलोक के जितने क्षेत्र का प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है; वह क्रमशः उस प्रमाण से घटते-घटते अंगुल के असंख्यातवें भाग के प्रमाण तक क्षेत्र को विषय करने वाला रह जाय, उसको ही **'हीयमान अवधिज्ञान'** कहते हैं । अर्थात्—जो अवधिज्ञान असंख्यात द्वीप-समुद्रादि विषयी होकर पुनः परिणामों की मन्दता से ह्रास को प्राप्त होता है, उसको ही **हीयमान अवधिज्ञान** कहा जाता है । वर्षा के बन्द होने से जैसे नदी का प्रवाह धीरे-धीरे कम हो जाता है, वैसे इधर भी उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान पुनः परिणामों की मन्दता से क्रमशः घट जाता है । अथवा—जिस तरह किसी अग्नि का उपादान कारण यदि परिमित हो जाय, तो उस अग्नि की ज्वाला भी क्रमशः कम-कम हो जाती है । उसी तरह इस हीयमान अवधिज्ञान के विषय में समझना ।

(५) **अनवस्थित-प्रतिपाती अवधिज्ञान**—अनवस्थित यानी अनियत । जो ज्ञान जल की तरंगों के समान कभी वृद्धि कभी न्यून भाव को प्राप्त होता हो या कभी विनाश को भी प्राप्त हो, उसको ही **'अनवस्थित-प्रतिपाती अवधिज्ञान'** कहते हैं । अर्थात्—जो अवधिज्ञान एक रूप में न रहकर अनेक रूप धारण करे । या तो कभी उत्पन्न प्रमाण से कम, न्यून होता जाय, या तो कभी बढ़ता ही जाय, अथवा कभी छूट भी जाय और फिर कभी उत्पन्न भी हो जाय; वह **अनवस्थित-प्रतिपाती अवधिज्ञान** कहा जाता है । जैसे—समुद्र की लहरें वायुवेग का निमित्त पाकर विविध प्रकार से छोटी-मोटी या नष्ट-विनष्ट-उत्पन्न हुआ करती हैं, वैसे इस अनवस्थित-प्रतिपाती अवधिज्ञान के विषय में समझना । सारांश यह है कि आकाश में चमकती बिजली की तरह उत्पन्न होकर चला जाय, पुनः उत्पन्न हो जाय, कम हो जाय और बढ़ भी जाय; ऐसा अनियत यह अनवस्थित-प्रतिपाती अवधिज्ञान है ।

[६] **अवस्थित-अप्रतिपाती अवधिज्ञान**—जो ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् पंचम केवलज्ञान की प्राप्ति तक च्युत न हो, या आजन्म नहीं गिरे या जन्मान्तर में भी साथ ही रहे उसे **'अवस्थित-अप्रतिपाती अवधिज्ञान'** कहते हैं । जिस तरह इस जन्म में प्राप्त हुआ (पुल्लिङ्ग आदि तीन प्रकार के लिङ्गों में से कोई भी) लिङ्ग आमरण साथ रहा करता है, किन्तु कदाचित् जन्मान्तर में भी साथ जाता है; उसी तरह यह अवधिज्ञान भी पंचम केवलज्ञान प्राप्त होने तक, या इस जन्म के पूर्ण होने तक तदवस्थ रहा करता है । किन्तु कदाचित् जन्मातर को साथ भी चला जाता है । सारांश यह है कि इस अवस्थित अवधिज्ञान का ही दूसरा नाम अप्रतिपाती अवधिज्ञान है । अप्रतिपाती यानी नियत कायम रहने वाला । अर्थात्—यह अवधिज्ञान जीवन पर्यन्त रहे, किसी जीव के साथ भवान्तर में भी चला जाय, या किसी को पंचम केवलज्ञान उत्पन्न हो वहाँ तक भी रहे । जीव-आत्मा को

चरित्र में **'परमावधिज्ञान'** उत्पन्न होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में अवश्य ही पंचम केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसका समावेश इसी अवस्थित-अप्रतिपाती अवधिज्ञान में होता है।

विशेष—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त के दोनों ही स्थल समान रूप से होते हुए भी बाह्यकारण तथा उसके नियम के भेद से इस अवधिज्ञान के दो भेद कहे हैं। एक भवप्रत्यय अवधिज्ञान और दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान। इसके अलावा अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद भी बताये हैं और कहा है कि—**देशावधिज्ञान** देव, नारकी, तिर्यंच और सागार मनुष्य को ही होता है तथा परमावधिज्ञान और सर्वावधिज्ञान मुनियों के ही होते हैं। ऐसा उल्लेख दिगम्बरों के गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि ग्रन्थों में मिलता है ।। २३ ।।

❀ **मनःपर्ययज्ञानस्य भेदाः** ❀

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ।। २४ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्तमवधिज्ञानम् । अत्र मनःपर्ययज्ञानं कथयिष्यामः । मनःपर्ययज्ञानं द्विप्रकारकं भवति । तद्यथा—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानं विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं चेति । अर्थात्—मनःपर्ययज्ञानस्य ऋजुमतिः विपुलमतिश्चेति द्वौ भेदौ स्तः ।

❀ **सूत्रार्थ**—मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं। एक ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान और दूसरा विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान ।। २४ ।।

卐 विवेचन 卐

इस सूत्र में मनःपर्ययज्ञान के दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं। वे हैं ऋजुमति और विपुलमति। मनःपर्यय यानी मन के विचार। मनः पर्यय और मनःपर्यव ये दोनों शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। जिसके मन होता है, उसको **'संज्ञी'** कहा जाता है। वह व्यक्ति विश्व में किसी भी कार्य का या वस्तु-पदार्थ का मन से चिन्तन करता है, उसी समय चिन्तनीय वस्तु-पदार्थ के प्रकार-भेद के अनुसार चिन्तन कार्य की प्रवृत्ति में प्रवृत्तमान हुआ मन भी पृथग्-पृथग् यानी भिन्न-भिन्न आकृति-आकार वाला होता है। वे आकृतियाँ-आकार मन की पर्याय हैं। उन पर्यायों को प्रत्यक्ष-साक्षात् जानने वाले का ज्ञान, **'मनःपर्ययज्ञान'** या **'मनःपर्यवज्ञान'** कहलाता है। मनःपर्यय या मनःपर्यवज्ञान के बल से मन चिन्तित आकृतियों-आकारों को अवश्य जान लेता है; किन्तु चिन्तनीय ऐसी वस्तु-पदार्थ को नहीं जानता है। अर्थात्—मनःपर्ययज्ञान वाले मनःपर्ययज्ञान द्वारा ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के विचारों को जान सकते हैं। पीछे से चिन्तनीय वस्तु-पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा भी जान सकते हैं। जैसे—कुशल वैद्य-डॉक्टर आदि व्याधिग्रस्त व्यक्ति की मुखाकृति-चेहरा आदि को प्रत्यक्ष-साक्षात् देखकर देह-शरीर में रहे हुए रोग को अनुमान से जान लेते हैं, वैसे इधर भी मनःपर्ययज्ञानी मन की आकृतियों-आकारों को प्रत्यक्ष-साक्षात् देखता

है। बाद में अभ्यास की प्रबलता से अनुमान करता है कि इसने अमुक वस्तु-पदार्थ का चिन्तन किया है। क्योंकि उस समय चिन्तित वस्तु-पदार्थ का आकार-आकृति युक्त चेहरा अवश्य होता है।

जिसके मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ है, ऐसे उस साधु को यह एक अति विशिष्ट और क्षायोपशमिक प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त होता है; जिसके निमित्त से वह साधु मनुष्य-लोकवर्ती मनःपर्याप्ति के धारण करने वाले पंचेन्द्रिय प्राणी मात्र के त्रिकालवर्ती मनोगत विचारों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही जान सकता है। इधर विषयभेद की अपेक्षा से इस मनःपर्यय-मनःपर्यवज्ञान के दो भेद कहे हैं। उनमें जो सामान्य रूप से विषय को जाने उसको **'ऋजुमति मनःपर्यय-मनःपर्यवज्ञान'** कहते हैं तथा जो विशेष रूप से विषय को जाने उसको **'विपुलमति मनःपर्यय-मनःपर्यवज्ञान'** कहते हैं। अर्थात्—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानधारी केवल वर्त्तमानकालवर्त्ती जीव-आत्मा के द्वारा चिन्त्यमान पर्यायों को ही सामान्य रूप से जान सकते हैं। तथा विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान वाले व्यक्ति त्रिकालवर्त्ती मनुष्य के द्वारा चिन्तित, अचिन्तित और अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकार के वस्तु-पदार्थों के पर्यायों को विशेष रूप से जान सकता है। मनःपर्ययज्ञान के ये दोनों ही भेद अतीन्द्रिय हैं और दोनों का विषय-परिच्छेदन मनःपर्ययज्ञान को जानना भी समान ही है। फिर भी इन दोनों में विशेषता किस प्रकार की है? इसका प्रत्युत्तर अब आगे आने वाले सूत्र में कहते हैं ॥२४॥

❀ ऋजु-विपुलमत्योः विशेषतायाः हेतवः ❀

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

विशुद्धिकृतश्चाप्रतिपातकृतश्च अनयोः प्रतिविशेषः। तद्यथा—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानाद् विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं विशुद्धतरं वर्त्तते। तथाऽन्यदपि कारणमस्ति। ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानं उत्पन्नत्वादपि प्रतिपतति भूयः, किन्तु विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं तु न प्रतिपततीति। विशुद्धिः (शुद्धता), अप्रतिपातिः (आगतं सत् यन् न गच्छति) एतद् कारणद्वयात् तयोर्भेदोऽस्ति। अर्थाद्-ऋजुमतेर्विपुल-मतिः अतिशुद्धा भवति। अत्र इत्थं विज्ञेयं ऋजुमतिः आगच्छति गच्छति च, किन्तु विपुलमतिः आगच्छति चेद् न गच्छतीत्यर्थः।

❀ **सूत्रार्थ**—ऋजुमति और विपुलमति इन दोनों में विशेषता यह है कि—एक-दूसरे से विशुद्ध और पतन का अभाव है। अर्थात्—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान से विपुल-मतिमनःपर्ययज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपात (पुनः पतन का अभाव) है। इन दोनों कारणों से विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान से विशिष्ट हैं ॥ २५ ॥

卐 विवेचन 卐

ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान अविशुद्ध और प्रतिपाती है तथा विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान विशुद्ध और अप्रतिपाती है। ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान से विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपात इन दोनों कारणों से विशिष्ट है। कारण कि ऋजुमति का विषय अल्प है और विपुलमति का विषय उससे अत्यधिक है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान वाला जितने वस्तु-पदार्थ को जितनी भी सूक्ष्मता से जान सकता है, उन ही वस्तु-पदार्थ को विविध प्रकार से विशिष्ट गुण-पर्यायों के द्वारा अति अधिक सूक्ष्मता युक्त विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान वाले जान सकते हैं। जैसे—ऋजुमतिमनः-पर्ययज्ञान वाला जीव 'अमुक व्यक्ति ने घट यानी घड़े का विचार किया, ऐसा सामान्य रूप से जाने। तब विपुलमतिमनःपर्यय वाला जीव 'अमुक व्यक्ति ने राजस्थान-मरुधर-जोधपुर नगर के, अमुक कलर-रंग के, अमुक आकृति-आकार के, अमुक स्थल में रहे हुए उस ही घट-घड़े का विचार किया' इत्यादि विशेष रूप से जाने तथा ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान प्राप्त किया हुआ चला भी जाता है, किन्तु विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान प्राप्त करने के पश्चाद् नहीं ही जाता है। तदुपरान्त विपुलमति-मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होने के बाद अवश्यमेव पंचम केवलज्ञान उत्पन्न होता ही है। उसी मनुष्यभव में मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही होती है। इसीलिये यह विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान ऋजुमतिमनःपर्यय-ज्ञान से विशुद्ध और अप्रतिपाती अवश्य ही है।।२५।।

❀ अवधि-मनःपर्यययोः भेदस्य हेतवः ❀

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अवधि-मनःपर्ययज्ञानयोः विशुद्धिकृतः क्षेत्रकृतः स्वामिकृतो विषयकृतश्च अनयोर्विशेषो भवति। तद्यथा—अवधिज्ञानाद् मनःपर्ययज्ञानं विशुद्धतरं वर्त्तते। यदवधिज्ञानी यावन्ति रूपीणि द्रव्याणि जानीते तानि सर्वाणि तद् मनःपर्ययज्ञानी विशुद्धतराणि मनोरहस्यगतानि अवश्यमेव जानीते इति। विशुद्धिः (शुद्धता), क्षेत्रं (क्षेत्रप्रमाणं), स्वामि (अधिपतिः), तथाविषयः। एतैः चतुर्भिः प्रकारैः अवधिज्ञाने मनःपर्ययज्ञाने च विशेषता, अर्थात् भिन्नताऽस्ति। अवधितः मनःपर्ययः विशुद्धो भवति। मनःपर्ययज्ञाने न तिर्च्छं सार्द्धद्वयद्वीपपर्यन्तं तथा समुद्रद्वयप्रमाणं च, ऊर्ध्वं ज्योतिष्कपर्यन्तं, अधःसहस्रयोजनपर्यन्तं क्षेत्रं पश्यति; किन्तु अवधिज्ञानेन असङ्ख्यलोकं पश्यति। अर्थात्—मनःपर्ययज्ञानस्य क्षेत्रादवधिज्ञानस्य क्षेत्रं विशालमस्ति। अवधिज्ञानस्य क्षेत्रं अङ्गुलस्यासङ्ख्यातमाविभागाद् आरभ्य सम्पूर्णं लोकपर्यन्तं भवति। मनःपर्ययज्ञानस्य क्षेत्रमात्रं सार्द्धद्वयद्वीपपर्यन्तं-समुद्रद्वयप्रमाणं च मनुष्यक्षेत्रे स्थितसंज्ञीपञ्चेन्द्रियेषु मनुष्य-तिर्यञ्च-देवानां जीवानां मनसां विचारान् जानीते एव। क्षेत्रकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। किञ्चान्यत्-स्वामिकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। अवधिज्ञानं संयतस्य साधोः असंयतस्य

जीवस्य संयतासंयतयोः श्रावकस्य चापि । तथा सर्वगतिषु जीवानां भवति । मनः-पर्ययज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्यैव भवति, नान्यस्यैव ।

अर्थात्—मनःपर्ययज्ञानस्य स्वामी श्रमणः संयत एव । अवधिज्ञानस्य स्वामी संयतोऽसंयतो वा चतुर्गतिमानं भवितुं शक्नोति । मनःपर्यायेण संज्ञिनां मनसि परिणतमपि द्रव्यं-ज्ञातुं शक्नोति । अवधिना तु समस्तरूपी-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवद् द्रव्यं दृश्यते । पुनः अवधिज्ञानेन मनःपर्ययज्ञानस्य विषय-निबन्धः अनन्तभागे कथितोऽस्ति । अवधि-ज्ञानापेक्षया मनःपर्ययज्ञानं विशेषशुद्धं भवति । यावन्ति रूपीद्रव्याणि अवधिज्ञानी जानाति तेषां अनन्तभागे मनसा परिणतं द्रव्यं मनःपर्ययज्ञानी शुद्धरूपेण विजानाति । अवधिज्ञानस्य विषयः अङ्गुल्याऽसङ्ख्यातभागमारभ्य सकललोकक्षेत्रपर्यन्तं भवति । तथा मनःपर्ययज्ञानवतां विषयः सार्द्धद्वयद्वीपपर्यन्तमेव वर्त्तते । अवधिज्ञानं संयतानां असंयतानां च चतुर्गतिमतां जीवानां भवति । मनःपर्ययज्ञानं तु संयतस्य अर्थात् चारित्रवतः एव मनुष्यस्य भवति । सर्वरूपीद्रव्यस्य तथा तस्य कतिपयपर्यायाणां च ज्ञानं अवधिज्ञानस्य विषयो भवति । तथा मनःपर्ययज्ञानस्य विषयः सर्वरूपीद्रव्यस्य अनन्ततमभागस्य द्रव्यस्य अर्थाद् मनोद्रव्यं तस्य पर्यायं च ज्ञातुं योग्यमस्ति ।। २६ ।।

ॐ **सूत्रार्थ**—अवधिज्ञान में और मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इन चार कारणों से विशेषता-भिन्नता है ।। २६ ।।

卐 विवेचन 卐

अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान प्रमाणपने अपूर्ण रूप से समान होते हुए भी विशेष रूप से भिन्न हैं । कारण कि—इन दोनों ज्ञानों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामीकृत और विषयकृत भेद है । जिसके द्वारा विशेष रूप में अधिकतर पर्यायों का परिज्ञान हो सके, ऐसी निर्मलता-विमलता को **'विशुद्धि'** कहते हैं । **'क्षेत्र'** आकाश का नाम है । जिनको वह ज्ञान हो उनको उस विवक्षित ज्ञान का **स्वामी** समझना तथा ज्ञान के द्वारा जो वस्तु-पदार्थ जाना जाय, उसको ही **विषय** कहा जाता है । इन चारों ही कारणों की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर है ।

(१) **विशुद्धि**—अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान की विशुद्धि विशेष रूप में अधिक होती है । जितने रूपी द्रव्यों को अवधिज्ञानी जान सकता है, उन द्रव्यों को ही मनःपर्ययज्ञानी विशेष अधिक स्पष्ट रूप में मनोगत होने पर भी जान सकता है । अर्थात्—अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान अपने विषय पदार्थ को अत्यन्त ही स्पष्ट रूप से जानता है, इसलिए यह मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है । यह विशुद्धि की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर है ।

(२) **क्षेत्र**—मनःपर्ययज्ञान के क्षेत्र से अवधिज्ञान का क्षेत्र विशाल है । अवधिज्ञानी का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । अर्थात्—सूक्ष्म निगोदिया जीव लब्धि-

अपर्याप्तक के उत्पन्न होने से तीसरे समय में जो अपने शरीर की जघन्य अवगाहना होती है, इसका जितना प्रमाण होता है, उतना प्रमाण ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का भी होता है। इसके ऊपर क्रम से बढ़ता हुआ अवधिज्ञान का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकपर्यन्त होता है। मनःपर्ययज्ञान के विषय में ऐसा नहीं होता। कारण कि, उसका क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण का ही है। जब अवधिज्ञानी अंगुल के असंख्यातवें भाग से यावत् सम्पूर्ण लोक प्रमाण देखता है, तब मनःपर्ययज्ञानी मनुष्योत्तर पर्वत पर्यन्त देखता है। अर्थात्—मनःपर्ययज्ञानी मात्र ढाई द्वीप और दो समुद्र प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन के विचारों को जान सकता है। इससे आगे के नहीं तथा न इससे आगे रहे हुए जीवों के मनोगत भावों को जानता है। यह क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर है।

(३) **स्वामी**—अवधिज्ञान के स्वामी चार गति के जीव हैं। अर्थात्—अवधिज्ञान चारों गति में रहे हुए सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों को उत्पन्न हो सकता है। संयमी साधु और असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक भी अवधिज्ञान प्राप्त कर सकता है, इतना ही नहीं किन्तु चारों ही गति वाले जीवों को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है। मनःपर्ययज्ञान तो संयमी मनुष्य को ही हो सकता है, अन्य को नहीं हो सकता। अर्थात्—मनःपर्ययज्ञान मनुष्यगति में सातवें अप्रमत्तगुणस्थाने रहे हुए संयमी जीवों को ही उत्पन्न होता है तथा छठे प्रमत्तगुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। यह स्वामी की अपेक्षा से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर है।

(४) **विषय**—अवधिज्ञान का विषय सर्व रूपी द्रव्य और उसकी अल्प पर्यायें हैं। इसमें मन की स्थूल पर्यायों का भी समावेश होता है। अवधिज्ञान सर्व रूपी द्रव्यों को और कतिपय असम्पूर्ण पर्यायों को जानता है, किन्तु अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग मनःपर्ययज्ञान का विषय है। अर्थात्—मनःपर्ययज्ञान का विषय मात्र मनोवर्गणा के पुद्गलों और उसकी पर्यायों के होने से अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग प्रमाण है। इसलिए अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान का विषय अतिशय सूक्ष्म है। इस तरह विषय की अपेक्षा से भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर है।

जैसे अवधिज्ञान चारों गति के जीवों को उत्पन्न हो सकता है, वैसे मनःपर्ययज्ञान नहीं होता है। वह तो संयमी मनुष्य को ही होता है, उसमें भी ऋद्धिप्राप्त को ही होता है तथा ऋद्धिप्राप्तों में भी सबको नहीं किन्तु किसी-किसी व्यक्ति को ही होता है।

प्रश्न—मनःपर्ययज्ञान न्यूनविषयी होते हुए भी उसको अवधिज्ञान से विशुद्धतर मानने का क्या कारण है?

उत्तर—यह कारण विषय की न्यूनाधिकता से नहीं है, किन्तु विषयगत रही हुई सूक्ष्मता के जानने पर है। जैसे—एक व्यक्ति-मनुष्य अनेक शास्त्रों को पढ़ने वाला होता है और दूसरा व्यक्ति-मनुष्य एक ही शास्त्र को पढ़ने वाला होता है, किन्तु एक शास्त्र को पढ़ा हुआ मनुष्य यदि अपने विषय का सूक्ष्मता के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करता है, तो उस अनेक शास्त्रों के पढ़ने वाले व्यक्ति से एक शास्त्र को पढ़ने वाले व्यक्ति का ज्ञान विशेष विशुद्ध कहा जाता है। इसी तरह इधर अल्प-विषयी होने पर भी वह सूक्ष्म भावों को जानता है, इसलिये अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान को विशुद्धतर कहा है।

प्रश्न—अवधिज्ञान का विषय मन को पर्यायें भी होती हैं, तो क्या उससे मन के विचारों को भी जान सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, जान सकते हैं। विशुद्ध अवधिज्ञान से मन के विचार भी अवधिज्ञानी जान सकते हैं। सर्वज्ञ विभु के द्रव्य मन से दिये हुए प्रत्युत्तरों को अनुत्तरदेव अवधिज्ञान से ही जान सकते हैं।

प्रश्न—विशुद्ध अवधिज्ञान से भी जब मन के विचारों को जान सकते हैं, तो फिर अवधि और मनःपर्ययज्ञान इन दोनों में विशुद्धि की दृष्टि से भेद कहाँ रहा ?

उत्तर—विशुद्ध अवधिज्ञानी मन के विचारों को मनःपर्ययज्ञानी जितनी सूक्ष्मता से जान सकता है उतनी सूक्ष्मता से नहीं जान सकता। कारण कि—जब अवधिज्ञानी रूपी सर्व द्रव्यों को और अल्प पर्यायों को (विशेष रूप में असंख्य पर्यायों को) जान सकता है, तब मनःपर्ययज्ञानी मात्र मनोवर्गणा के पुद्गलों को ही जान सकता है। उसमें भी मात्र ढाई द्वीप और दो समुद्र प्रमाण मनुष्यक्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के विचार करने के लिये प्रवृत्ति में लिये हुए मनोवर्गणा के पुद्गलों को ही जान सकते हैं।

सारांश यह है कि—क्षेत्र, स्वामी और विषय के सम्बन्ध में अवधिज्ञान की अधिक विशेषता होते हुए भी विशुद्धि के सम्बन्ध में वह अत्यन्त पीछे पड़ जाता है। इसलिये अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान का अधिक महत्त्व है। अर्थात्—अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान में क्षेत्रादिक की न्यूनता-अल्पता होते हुए भी विशुद्धि अधिक होने से उसका (मनःपर्ययज्ञान का) महत्त्व बढ़ जाता है। ॥२६॥

[मनःपर्ययज्ञान के पश्चात् क्रम प्राप्त पंचम केवलज्ञान का निरूपण करना चाहिए। किन्तु इसका विशेष रूप से वर्णन इस तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के दसवें अध्याय में किया गया है।]

❀ पञ्चज्ञानानां ग्राह्यविषयः ❀

❀ मति-श्रुतयोः विषयः ❀

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

एषां मतिज्ञानादीनां कः कस्य विषयनिबन्धः ? इति। कथ्यतेऽत्र—मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य च विषयभूतानां कतिचित् पर्यायवतां सर्वद्रव्याणां ज्ञानं कर्त्तव्यमस्ति। इदमस्य तात्पर्यं यत् ते सर्वाणि द्रव्याणि जानन्ति, किन्तु तेषां सर्वपर्यायान् न जानन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्वद्रव्यों में है, किन्तु उनकी परिपूर्ण पर्यायों में नहीं है। अर्थात्—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों की प्रवृत्ति

परिमित पर्यायों से युक्त सर्व द्रव्यों में होती है। इन दोनों ज्ञानों के द्वारा जीव-आत्मा समस्त द्रव्यों को तो जान सकता है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता है ।। २७ ।।

卐 विवेचन 卐

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और उनकी अल्प पर्यायें है। इसलिए श्रुतागम के अनुसार ये दोनों ज्ञान सर्व द्रव्यों को और उनकी अल्प पर्यायों को ही जान सकते हैं, समस्त पर्यायों को नहीं। **सारांश** यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान द्वारा विश्व में विद्यमान रूपी और अरूपी सर्व द्रव्यों को जान सकते हैं, किन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं। इनके द्वारा द्रव्यों की परिमित पर्यायें ही जानी जा सकती हैं। क्योंकि इस विश्व में अति विशेष रूप से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पूज्य श्री गणधरादि को या चौदह पूर्वधारी महापुरुषों को ही होता है। उनके ज्ञान का मूल सर्वज्ञविभु श्री तीर्थंकर भगवन्त हैं। वे ही श्री तीर्थंकर भगवन्त अर्थ रूप से जितना धर्मोपदेश देते हैं अर्थात् शब्द सुनाते हैं, उसका अनन्तवाँ भाग ही श्री गणधर भगवन्त द्वादशांगी में शब्दों द्वारा सूत्र में गूंथते हैं। इससे इस द्वादशांगी के अभ्यासी ऐसे पूर्वधर महापुरुष भी समस्त द्रव्यों की अनन्तवें भाग पर्यायों को ही जान सकते हैं। ऐसे चौदह पूर्वधर भी जो भाव-पर्याय द्वादशांगी में नहीं आये हैं और जिनके लिये शब्द भी नहीं हैं, उन्हें नहीं जान सकते। वे जितना जानते हैं, उनसे अनन्तगुणा अधिक भावों को नहीं जानते हैं। इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय समस्त द्रव्य हैं, किन्तु उनकी समस्त पर्यायें नहीं हैं ।।२७।।

❀ अवधिज्ञानस्य विषयः ❀

रूपिष्ववधेः ।। २८ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

रूपिषु पुद्गलेषु पुद्गलसम्बन्धिजीवेषु च अवधेर्विषयनिबन्धो भवति। स्वयोग्य-पर्यायेषु अल्पेषु पर्यायेषु न तु अनन्तेषु पर्यायेष्ववधिः प्रवर्तते ।। २८ ।।

❀ **सूत्रार्थ**—अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य ही है अर्थात्—अवधिज्ञान की प्रवृत्ति केवल रूपी द्रव्य में ही है ।। २८ ।।

卐 विवेचन 卐

तृतीय अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य का होते हुए भी उसकी समस्त पर्यायों से युक्त नहीं है। कारण कि, चाहे अवधिज्ञानी अतिविशुद्ध अवधिज्ञान को धारण करने वाला हो, तो भी वह उसके द्वारा रूपी द्रव्यों को ही जान सकता है, अरूपी को नहीं तथा रूपी द्रव्यों की भी सब पर्यायों को नहीं जान सकता है। ।।२८।।

❀ मनःपर्यज्ञानस्य विषयः ❀

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २९ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तेषां रूपिद्रव्याणां अनन्ततमे भागे मनसा परिणत-मनोद्रव्याणि ज्ञातुं मनःपर्यय-ज्ञानस्य विषयोऽस्ति। अवधिज्ञानविषयस्य अनन्तभागं मनःपर्ययज्ञानी जानीते। तथा रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति ।।२९।।

❀ **सूत्रार्थ**–अवधिज्ञानी से अनन्तवें भाग को ही मनःपर्ययज्ञानी जानते हैं। अर्थात्–मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवाँ भाग है ।। २९ ।।

卐 विवेचन 卐

जितना रूपी द्रव्यों को अवधिज्ञानी जान सकता है, उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है। अर्थात्—जितना विषय अवधिज्ञान का है, उसका अनन्तवाँ भाग मनःपर्ययज्ञान का विषय है। कारण कि—मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनन्तैकभाग प्रमाण रूपी द्रव्य है। किन्तु वह भी असर्व-न्यून पर्याय होने से अपने विषय की सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता है। ऐसा होते हुए भी फिर वह अधिकतर सूक्ष्म विषय को विशेष रूप से जानता है। इसलिए मनःपर्ययज्ञान प्रशस्त है। सारांश यह है कि—मनःपर्ययज्ञानी आये हुए रूपी द्रव्यों को तथा मनुष्य क्षेत्रवर्ती अवधिज्ञान की अपेक्षा से अतिशय विशुद्ध-सूक्ष्मतर तथा अनेक पर्यायों से उन रूपी द्रव्यों को जान सकता है ।।२९।।

❀ केवलज्ञानस्य विषयः ❀

सर्वद्रव्य-पर्यायेषु ।। ३० ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

सर्वद्रव्येषु तथा सर्वपर्यायेषु केवलज्ञानस्य विषयो भवति। अर्थात् विश्वे विद्य-मानानि सर्वद्रव्याणि तथा तेषां सर्वपर्यायाणि च केवलज्ञानस्य विषयः, स च सर्वभाव-ग्राहकस्तथा समस्तलोकालोकविषयकश्च। अस्मात् किमपि अन्यद् ज्ञानं श्रेष्ठं न भवति। न च केवलज्ञानविषयात् परं यत्किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति। केवलं निरपेक्षं परिपूर्णं समस्त-भावज्ञापकं समग्रमसाधारणं विशुद्धं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः ।। ३० ।।

❀ **सूत्रार्थ**–केवलज्ञानी सर्व द्रव्यों को उनकी सर्व पर्यायों सहित जानते हैं। अर्थात्–समस्त द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानना तथा देखना यह केवलज्ञान का विषय है ।। ३० ।।

卐 विवेचन 卐

केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों में है। जीव-पुद्गलादिक समस्त मूल द्रव्य तथा उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें इस ज्ञान का विषय हैं। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विशिष्ट तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप विश्व के सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह सम्पूर्ण लोक और अलोक को भी विषय किया करता है। न तो इस ज्ञान से उत्कृष्ट कोई ज्ञान है और न तो ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय है कि जो इस केवलज्ञान का विषय न बना हो। यह केवलज्ञान ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से जीव-आत्मा में प्रकट होता है। इसलिए यह ज्ञान क्षायिक कहा जाता है। अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान इस केवलज्ञान के साथ नहीं रह सकता।

❀ यह ज्ञान एकाकी ही रहता है। इसीलिए इसको **'केवल'** कहते हैं।

❀ इस केवलज्ञान को इन्द्रिय, मन और आलोक-प्रकाश इत्यादि किसी भी बाह्य अवलम्बन या सहायक की अपेक्षा नहीं रहती है, इसीलिए इसको **'निरपेक्ष'** कहा जाता है।

❀ यह केवलज्ञान विश्व के समस्त द्रव्य-भावों का परिच्छेदक है, इसलिए इसको **'परिपूर्ण'** कहते हैं।

❀ यह केवलज्ञान विश्व के सर्व पदार्थों का ज्ञापक है, इसी से ही समस्त तत्त्वों का ज्ञान बोध होता है। इसीलिए इसको **'सर्वभावज्ञापक'** कहते हैं।

❀ जिस तरह यह केवलज्ञान एक जीव-आत्म पदार्थ को जानता है, उसी तरह सम्पूर्ण पर-पदार्थों को भी जानता है, इसीलिए इसको **'समग्र'** कहा जाता है।

❀ इस केवलज्ञान की किसी भी प्रकार से मतिज्ञानादिक क्षायोपशमिक ज्ञान से तुलना नहीं हो सकती है। इसलिए इसको **'असाधारण'** कहते हैं।

❀ यह केवलज्ञान, ज्ञानावरण आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाली कर्ममलदोषरूप अशुद्धियों से सर्वथा रहित है। इसलिए इसको **'विशुद्ध'** कहा जाता है।

❀ इस केवलज्ञान से लोक और अलोक का कोई भी अंश अपरिच्छिन्न नहीं है। इसलिए इसको **'लोकाऽलोकविषय'** कहते हैं।

❀ अगुरुलघुगुण के निमित्त से इस केवलज्ञान की अनन्तपर्यायों का परिणमन होता है। इसलिए इसको **'अनन्तपर्याय'** कहा जाता है। अथवा—इस केवलज्ञान पर्याय की ज्ञेय स्वरूप पर्यायें अनन्त हैं। इसलिए भी इसको **'अनन्तपर्याय'** कहते हैं। यद्वा—इस केवलज्ञान के अविभागपरिच्छेद अनन्त हैं। इसलिए भी इसको **'अनन्तपर्याय'** कहते हैं।

उक्त कथनों का सार यह है कि—यह पंचम केवलज्ञान अनन्त शक्ति और सम्पूर्ण योग्यता को धारण करने वाला होने से विश्वभर में **सर्वथा अप्रतिम** है। इस केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं। सारे विश्व में ऐसी कोई वस्तु-पदार्थ या कोई भाव-पर्याय नहीं है जिसे

यह केवलज्ञान न जान सके। जैसे—आरसो-दर्पण में वस्तु-पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही निर्मल आत्मा में तीन काल के समस्त वस्तु-पदार्थों का तथा सर्व भावों का भी ज्ञानीगम्य प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे केवली भगवन्त हाथ में रहे हुए आँवले की भाँति विश्वभर के सर्व द्रव्यों और तीन काल की उनकी सभी पर्यायों को जान सकते हैं तथा देख भी सकते हैं। इसी कारण से केवली भगवन्तों को **'सर्वज्ञ'** कहने में आता है। ।।३०।।

❀ एषां मतिज्ञानादीनां युगपदेकस्मिन् जीवे कति भवन्ति ? ❀

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

एषां मतिज्ञानादीनां युगपदेकस्मिन् जीवे कति भवन्ति ? इति। कथ्यतेऽत्र—एतेषु ज्ञानेषु मत्यादीनामारभ्य चतुःसङ्ख्याकमनःपर्ययज्ञान पर्यन्तं सहैव एकस्मिन् जीवे भवति। कस्यापि एकं, कस्यापि द्वे, कस्यापि त्रीणि, कस्यापि चत्वारि ज्ञानानि च भवन्ति। तस्य स्पष्टीकरणमाह—

यस्य एकमेव ज्ञानं भवति, तस्य मतिज्ञानं अथवा केवलज्ञानं भवति। यस्य द्वे ज्ञाने भवतः तस्य मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च जायते। यतः श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकमेव जायते। अतः यत्र श्रुतज्ञानं तत्र मतिज्ञानं भवत्येव, किन्तु यत्र मतिज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानं भवत्येव इति निश्चयो नास्ति। ज्ञानत्रयवतां मतिः श्रुतमवधिश्च अथवा मतिःश्रुतं मनःपर्ययज्ञानं च भवति। पञ्चज्ञानानि सहैव एकस्मिन् काले न भवन्ति। यतः यस्य केवलज्ञानं भवति तस्य अन्यत् किमपि ज्ञानं न तिष्ठति। अत्र कतिचिद् आचार्याः कथयन्ति—केवलज्ञानस्य स्थितिकालेऽपि अन्यानि मत्यादीनि चत्त्वारि ज्ञानानि अवश्यं तिष्ठन्ति, किन्तु यथा सूर्यस्य प्रभायां (तेजसि) तारादीनां तेजांसि विलीयन्ते (अन्तर्भवन्ति) तथैव केवलज्ञानस्य प्रभायां अन्य ज्ञानस्य प्रभाः निस्तेजकाः भवन्ति।

अन्ये च आचार्याः कथयन्ति—यत् एतानि चत्त्वारि ज्ञानानि क्षयोपशमभावेन भवन्ति, किन्तु केवलिनः सः क्षयोपशमः भावः न भवति! केवलिनः केवलं क्षायिक-भाव एव वर्त्तते। अन्यं नास्ति एव। एतेषां चतुर्ज्ञानानां क्रमशः उपयोगो भवति, न तु युगपत्। केवलज्ञानस्य उपयोगः निरपेक्षः। आत्मनः एतद् स्वभावे नैव ज्ञान-दर्शनयोः समये-समये उपयोगः केवलिनां निरन्तरं भवति। किञ्चान्यत्-क्षयोपशमजानि पूर्वाणि चत्वारि ज्ञानानि क्षयादेव पञ्चमं केवलज्ञानम्। तस्माद् न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि भवन्तीति ।। ३१ ।।

❀ **सूत्रार्थ**--एक जीव के एक समय में प्रारम्भ के एक से लेकर चार ज्ञान [मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान] तक अनियत रूप से हो सकते हैं ।। ३१ ।।

卐 विवेचन 卐

ज्ञान के जो पूर्वोक्त मत्यादिक पाँच भेद कहे हैं, उनमें से एक जीव-आत्मा के एक समय में युगपत् एक, दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं। किन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ में नहीं होते हैं। किसी जीव-आत्मा को मतिज्ञानादिक में से एक ही ज्ञान हो सकता है। जैसे—**मतिज्ञान** या **केवलज्ञान**। किसी जीव आत्मा को मतिज्ञानादिक में से दो ज्ञान हो सकते हैं। जैसे—**मतिज्ञान और श्रुतज्ञान**। किसी जीव-आत्मा को मतिज्ञानादिक में से तीन ज्ञान हो सकते हैं। जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। किसी जीव-आत्मा को मतिज्ञानादिक में से चार ज्ञान भी हो सकते हैं। जैसे—**मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान**।

परिपूर्ण अवस्था में जीव-आत्मा को अन्य अपूर्ण ज्ञान नहीं होते हैं। इसलिए उनके एक केवलज्ञान ही कहा है। उक्त पाँच ज्ञानों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान नियमतः सहचारी हैं। श्रुतज्ञान का तो मतिज्ञान के साथ सहभाव नियत है। कारण कि—वह श्रुतज्ञान, मतिज्ञान-पूर्वक ही होता है। किन्तु जिस जीव-आत्मा को मतिज्ञान है, उसको श्रुतज्ञान हो या न भी हो? शेष अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनों ज्ञानों में सहचारिता नहीं है तथा मत्यादि चारों ज्ञान जो अपूर्णभावी हैं, उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान तो प्रत्येक जीव-आत्मा को अवश्य होते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान किसी को होते हैं तथा नहीं भी होते हैं। जिसको होते हैं उसके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों अवश्य रहते हैं। अकेला अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान मति-श्रुतज्ञान के बिना नहीं होता है। सम्पूर्ण भावी होने से केवलज्ञान की किसी ज्ञान के साथ सहचारिता नहीं है। क्योंकि—इसका अपूर्णता के साथ विरोध भाव है। जीव-आत्मा को एक साथ दो, तीन या चार ज्ञान की जो सम्भवता है वह उसकी शक्ति की अपेक्षा से है, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं है।

प्रश्न—पूर्व के चार मत्यादि ज्ञानों के साथ पंचम केवलज्ञान का सहभाव है या नहीं?

उत्तर—जीव-आत्मा की शक्ति और प्रवृत्ति का अर्थ यह होता है कि जो जीव-आत्मा पूर्वोक्त दो, तीन या चार ज्ञान वाला है, वह जिस समय मतिज्ञान द्वारा किसी एक वस्तु-पदार्थ को जानने के लिए प्रवृत्तमान होता है, उस समय उसके अन्य शेष ज्ञान का आविर्भाव होता है, तो भी उसकी उपयोगिता नहीं होती है। जीव-आत्मा को मत्यादि चारों ज्ञान की शक्ति भले एक समय की होती है तो भी जीव-आत्मा के उपयोग में प्रवृत्ति रूप से चारों ज्ञान नहीं होते हैं। कारण कि, एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है। दो या तीन ज्ञान का उपयोग एक समय में एक साथ नहीं हो सकता है। मतिज्ञान या अवधिज्ञान की शक्ति प्राप्त होते हुए भी श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति में उसकी उपयोगिता शक्ति प्रकट नहीं होती है।

सारांश यह है कि—एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है। उस समय दूसरे ज्ञान निष्क्रिय रहते हैं। (१) केवलज्ञान के विषय में दो मत हैं। कितनेक आचार्यों का ऐसा मन्तव्य है कि—जीव-आत्मा में केवलज्ञान हो जाने पर भी इन चारों मतिज्ञानादिक का अभाव नहीं हो जाता।

अर्थात्—केवलज्ञान के समय भी मत्यादि चारों ज्ञानों की शक्ति आत्मा में रहती है, किन्तु ये ज्ञान केवलज्ञान से अभिभूत हो जाते हैं। इसलिए उस अवस्था में कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहते हैं। जैसे—बादल से रहित आकाश में अर्क यानी सूर्य का उदय होने पर अन्य तेजो द्रव्य-अग्नि, रत्न चन्द्रमा, नक्षत्र एवं तारा इत्यादि का प्रकाश उसमें आच्छादित हो जाता है और वे अपना कार्य करने में भी अकिञ्चित्कर हो जाते हैं; वैसे ही मत्यादि चारों ज्ञान पंचम केवलज्ञान के उदित होने पर निष्क्रिय हो जाते हैं। केवलज्ञान के सद्भाव में उनका अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु आत्मा में अनीन्द्रिय-जन्य आत्मज्ञान प्रकट हो जाने से इन्द्रिय उपलब्ध मत्यादि ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है। कारण कि—अवधिज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान केवल रूपी द्रव्य विषयी हैं तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सद्भाव में उनकी उपलब्धता एवं सहचारिता है। पंचम केवलज्ञान की विद्यमानता में अन्य शक्तियों की प्रवृत्ति है, किन्तु वह पृथग्-भिन्न स्वरूप में प्रकाशित नहीं होती है।

(२) फिर और कितनेक अन्य आचार्यों का कथन यह है कि—केवलज्ञान आत्म-स्वभाव रूप है। यह ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय होने से ही उत्पन्न होता है। जब आत्मा में ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा क्षय होता है, तब क्षयोपशम रूप उपाधि का अभाव होने से मत्यादि चार ज्ञान का भी सर्वथा अभाव होता है। यह कथन स्पष्ट रूप में समझना चाहिए कि मतिज्ञानादिक चार प्रकार के जो क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, उनका उपयोग जीव-आत्मा को क्रमशः होता है; नहीं कि युगपत्-एक साथ में। अर्थात् ये चारों ही मत्यादि ज्ञान क्रमवर्ती ही हैं, सहवर्ती नहीं हैं। इन मतिज्ञानादिक चारों ज्ञान की शक्ति जीव.आत्मा में स्वाभाविक नहीं है, किन्तु कर्मोपाधि सापेक्ष क्षयोपशमजन्य है; जबकि केवलज्ञान तो ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से प्रकट होता है। इसलिए केवली भगवन्त को केवलज्ञान हो रहा करता है। उनको शेष मत्यादि चारों ज्ञान नहीं हुआ करते। केवल-ज्ञान की शक्ति के बिना मत्यादि ज्ञान शक्तियाँ नहीं होती हैं और इनका पर्यायरूप कार्य भी नहीं होता है।

कितनेक यह भी कहते हैं कि—ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग पर्याय सब समान हैं तथा उन अविभाग पर्यायों में रई हुही वर्णादि को जानने की शक्तियाँ भी अनेक प्रकार की हैं। उन शक्तियों के आविर्भाव की तारतम्यता से ही मतिज्ञानादि ऐसे भिन्न-भिन्न नाम रखे गये हैं और केवलज्ञाना-वरणीय का सर्वथा क्षय अर्थात् अभाव हो जाने से केवल केवलज्ञान ही रहता है।

सारांश यह है कि—क्षायिक भाव में तथा क्षायोपशमिक भाव में परस्पर विरोध होने से क्षायिक-केवलज्ञान के साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञानों का सहभाव नहीं रहता है। इसलिए केवली भगवन्त के केवलज्ञान को छोड़कर मत्यादि चारों ज्ञानों का अभाव ही जानना ।।३१।।

❀ प्रमाणाभासरूपज्ञानानां निरूपणम् ❀

मति-श्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ।। ३२ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्तं प्रमाणरूपाणां पञ्चज्ञानानां निरूपणम्। अथ अत्रैव प्रमाणाभास-रूपाणां ज्ञानानां निरूपणं कथ्यते इति। मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च एतानि

त्रीणि विपर्ययरूपेणापि भवन्ति । अतः एतानि अज्ञानरूपाणि जायन्ते । अत्राह–तदेव ज्ञानमिति तदेवाज्ञानं मन्यते । ननु तदत्यन्तं विरुद्धमिति । कथम् ? अत्रोच्यते । एतेषां मिथ्यादर्शनज्ञानपरिग्रहाद् विपरीतमिति, तस्मादज्ञानानि भवन्ति एव । तद्यथा–(१) प्रथमं मत्यज्ञानं, (२) द्वितीयं श्रुताज्ञानं, (३) तृतीयं अवधिज्ञानं विपरीतं विभङ्गज्ञानमिति । अर्थात्–त्रीणि अज्ञानानि विपरीतज्ञानानि सन्ति ।। ३२ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन विपर्यय अर्थात् अज्ञान रूप भी होते हैं ।। ३२ ।।

卐 विवेचन 卐

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान विपर्यय भी हुआ करते हैं। अर्थात् ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं। कारण कि जो ज्ञान से विपरीत हैं, उन्हीं को अज्ञान कहा जाता है। ये मत्यादि पाँचों ज्ञान चेतना शक्ति यानी आत्मशक्ति के पर्याय हैं। ये सभी अपने-अपने विषय-पदार्थ को यथार्थ रूप से प्रकाशित करते हैं, इसीलिए ज्ञान कहलाते हैं। इनमें पूर्व के मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी होते हैं।

प्रश्न—ज्ञान अज्ञान रूप कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान ये दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं। जैसे—शीत और उष्ण, छाया और ताप, तिमिर (अंधेरा) और प्रकाश। एक ही स्थान में ये विरोधी भाव नहीं रह सकते हैं; वैसे इधर भी मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान स्वविषय के बोधक हैं तो वे अज्ञान रूप कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—यहाँ ज्ञान और अज्ञान की विवक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से की है। इसलिए यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, किन्तु विपरीत ज्ञान समझना। अर्थात्—अलौकिक दृष्टि से ये तीनों पर्याय ज्ञान-स्वरूप ही हैं। इनको ज्ञान और अज्ञान दो स्वरूप से यहाँ कहा, यह संकेत केवल आध्यात्मिक शास्त्र-आध्यात्मिक ज्ञान का है। सम्यग्दृष्टिवन्त की अपेक्षा उक्त तीनों पर्याय ज्ञानरूप से माने गये हैं तथा मिथ्यादृष्टिवन्त की अपेक्षा इन तीनों पर्यायों को मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान रूप से माना है। विपरीत अवधि-मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञान को ही विभंग कहा जाता है। अवध्यज्ञान और विभङ्गज्ञान दोनों ही पर्यायवाचक शब्द हैं। व्यवहार में ज्ञान के निषेध को अज्ञान कहते हैं। यह निषेध दो प्रकार का माना है। एक **पर्युदासनिषेध** और दूसरा **प्रसह्य-निषेध। 'पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसह्यस्तुनिषेधकृत्'**। अर्थात्—पर्युदास सदृग्ग्राही है और प्रसह्य निषेधकृत् है। जो समान अर्थ को ग्रहण करता है, उसको **'पर्युदास सदृग्ग्राही'** कहा जाता है तथा जो सर्वथा निषेध अर्थात् अभाव अर्थ को प्रकट करता है, उसे **'प्रसह्यनिषेध'** कहा जाता है। यहाँ पर ज्ञान के निषेध का अर्थ पर्युदास है, प्रसह्य नहीं है। इसलिए अज्ञान का अर्थ ज्ञानोपयोग का अभाव नहीं है, किन्तु मिथ्यादर्शन सहचरित ज्ञान है।

मिथ्यादर्शन का सहचारी ज्ञान वास्तविक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता है। जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है तब वस्तु-पदार्थ का यथार्थ बोध नहीं हो सकता,

किन्तु विपरीत ही बोध होता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप हैं।

जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विनाश होता है तब सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से वस्तु-पदार्थ का यथार्थ बोध होता है। इससे सम्यग्दृष्टिवन्त जीव-आत्मा का मत्यादि ज्ञान ज्ञानस्वरूप है। यहाँ यथार्थ बोध का अर्थ प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से नहीं, किन्तु अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से है। यह अध्यात्मशास्त्र है, यहाँ यथार्थ बोध से अभिप्राय है वह बोध जो आध्यात्मिक विकास में सहायक बने। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान आध्यात्मिक विकास में सहायक बनता है। मिथ्यादृष्टिवन्त का ज्ञान इस प्रकार का नहीं है।

सम्यग्दृष्टिवन्त व्यक्ति मुख्यपने अपने ज्ञान का उपयोग आत्मोन्नति में करता है और मिथ्यादृष्टिवन्त व्यक्ति अपने ज्ञान का उपयोग पुद्गल-पोषण में करता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि का लौकिक दृष्टि से उच्च ज्ञान भी अज्ञान रूप में है और सम्यग्दृष्टिवन्त का अल्पज्ञान भी ज्ञान स्वरूप है।

मिथ्यादृष्टिवन्त का भौतिकज्ञान हो या आध्यात्मिकज्ञान हो, ये दोनों ही ज्ञान अज्ञान रूप हैं। सम्यग्दृष्टिवन्त का आध्यात्मिकज्ञान तो ज्ञानस्वरूप है, इतना ही नहीं उसका भौतिकज्ञान भी हेय और उपादेय का विवेकवन्त होने से ज्ञान रूप है अर्थात्––सम्यग्ज्ञान रूप है। मिथ्यादृष्टिवन्त के मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञानोपयोग हो सकते हैं, कारण कि चतुर्थ मन:पर्ययज्ञान और पंचम केवलज्ञान ये दोनों सम्यग्दृष्टिवन्त के ही होते हैं। इसलिए प्रथम तीन को ही विपरीत ज्ञान या अज्ञान कहा है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के सहचारी मत्यादिक को तो ज्ञान कहते हो और मिथ्यादर्शन के सहचारी मत्यादिक को अज्ञान कहते हो, यह कैसे हो सकता है?

कारण कि मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं। एक भव्य मिथ्यादृष्टि और दूसरे अभव्य मिथ्यादृष्टि। उसमें जो सिद्धावस्था को प्राप्त हो सकते हैं, उनको **'भव्य'** कहते हैं तथा जिनमें सिद्धावस्था को प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, उनको **'अभव्य'** कहते हैं। फिर मिथ्यादृष्टि के तीन भेद भी होते हैं। एक अभिगृहीत मिथ्यादर्शन, दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन और तीसरा संदिग्ध मिथ्यादर्शन। उसमें जो वीतराग-श्रीजिनेश्वर भगवान के प्रवचन से सर्वथा भिन्न निरूपण करने वाले हैं, उनको (बौद्धादिकों को) **अभिगृहीत मिथ्यादर्शन** कहते हैं तथा जो वीतराग-श्रीजिनेश्वर भगवान के वचनों पर श्रद्धा नहीं है, उनको **अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन** कहते हैं। एवं वीतराग-श्रीजिनेश्वर भगवान के वचन पर सन्देह-संशय करने वालों को **संदिग्ध मिथ्यादर्शन** कहा करते हैं।

तीनों ही प्रकार के मिथ्यादृष्टि भव्य भी होते हैं और अभव्य भी होते हैं। वे सभी मिथ्यादृष्टिवन्त व्यक्ति सम्यग्दृष्टिवन्त व्यक्ति के ही समान घट और पटादिक का ग्रहण और निरूपण तथा रूप और रसादिक का ग्रहण एवं निरूपण करते हैं। फिर भी क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टिवन्त व्यक्ति के ग्रहण और निरूपण को समीचीन कहते हैं तथा मिथ्यादृष्टिवन्त व्यक्ति के ग्रहण और निरूपण को विपरीत कहते हैं। क्योंकि बाधक प्रत्यय के होने से ही किसी भी प्रकार के ज्ञान को मिथ्या कह सकते हैं, अन्यथा नहीं कह सकते।

जैसे—किसी भी व्यक्ति को सीप में रूपा-चांदी का ज्ञान हुआ। यह ज्ञान मिथ्या कहा जाता है, क्योंकि उसका बाधक ज्ञान विद्यमान-उपस्थित है। यहाँ तो ऐसा नहीं है, तो फिर समीचीन और मिथ्याज्ञान के भेद का क्या कारण है कि उनके ज्ञान को विपरीत ज्ञान या अज्ञान कहा जाता है ?

उत्तर—कारण यही है कि, मिथ्यादृष्टिवन्त के सभी ज्ञान विपरीत ही होते हैं। वे ज्ञान वस्तु-पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का परिच्छेदन नहीं करते हैं। इसलिए उनका ज्ञान विपरीत कहा जाता है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टिवन्त व्यक्ति को भी जैसे भौतिकज्ञान के विषय में सन्देह-संशय या विपरीत ज्ञान होता है, वैसे आध्यात्मिकज्ञान के विषय में होता है कि नहीं ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टिवन्त व्यक्ति को भी अपनी अल्प मत्यादि के कारण या उपदेश की स्खलना-भूल से आध्यात्मिकज्ञान के विषय में भी सन्देह-संशय या विपरीत ज्ञान हो जाय, तो भी उसमें सम्यग्दर्शन गुण के प्रभाव से आध्यात्मिक प्रगति-विकास के पाया रूप सत्य-जिज्ञासा और सत्य-स्वीकार आदि गुणों से वह अपने से विशेष ज्ञाताओं के पास वस्तु-पदार्थ का सत्य समझने के लिए प्रयत्न करता है। उसमें भी अपनी स्खलना-भूल समझ में आ जाय तो तत्काल उसे सुधार लेता है। इतना ही नहीं किन्तु सत्य वस्तु-पदार्थ का स्वीकार भी अवश्य कर लेते हैं।

जिस विषय में **'सत्य क्या है'** वह समझ न सके तो भी तद् विषय में 'सर्वज्ञ जिनेश्वर विभु ने जो कहा है वह ही सत्य है' ऐसी निर्णयात्मक दृढ़ मान्यता अपने अन्तःकरण में अवश्यमेव धरते हैं, किन्तु यही सत्य है, ऐसा कदाग्रह नहीं रखते। स्वयं समझता है कि छद्मस्थ जीवों की बुद्धि परिमित होने से सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। 'सत्यासत्य का निर्णय तो सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवन्तों के धर्मोपदेश के आधार से ही हो सकता है।' ऐसा मानस सम्यग्दृष्टिवन्त का होता है। मिथ्यादृष्टिवन्त का मानस इसके विपरीत होने से वह स्वमतिकल्पना से सत्यासत्य का निर्णय करता है। इसलिए मिथ्यादृष्टिवन्त व्यक्ति का मत्यादिज्ञान अज्ञान स्वरूप है। इस बात का समर्थन आगे आने वाले सूत्र में है ॥३२॥

❀ मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रिज्ञानानि विपरीतं किम् ? ❀

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं यन् मत्यादिज्ञानं भवति, अन्यथा अज्ञानमेवेति भवता प्रोक्तम्। मिथ्यादृष्टयोऽपि तु भव्याश्चाभव्याश्च स्पर्शेन्द्रियादि निमित्तानविपरीतान् स्पर्शादीन् उपलभन्ते तथा उपदिशन्ति स्पर्शं स्पर्श, रसं रस एवं शेषान् सर्वान् तत् कथमेतदिति ? इति।

कथ्यतेऽत्र–तेषां विपरीतमेतद् भवति। यथा–मिथ्यादृष्टिवतां उन्मत्तानामिव सदसतोविशेषतां विना विपरीतार्थग्रहणकारणेन पूर्वोक्तानि त्रीण्यपि निश्चयाद् अज्ञानानि मन्यन्ते। अर्थात्–उन्मत्तपुरुषः कर्मोदयाद् हतेन्द्रियमतिर्विपरीतग्राही भवति। सोऽपि

लोष्टं सुवर्णमिति सुवर्णं लोष्ट इति लोष्टं च लोष्ट इति सुवर्णं सुवर्णमिति तस्यैवम-विशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतमज्ञानमेव भवति। तद्वन्मिथ्यादर्शनहतेन्द्रियमतेर्मति-श्रुतावधयोऽप्यज्ञानं भवन्तीति ।। ३३ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–'सत्-असत्' अर्थात् वास्तविक-अवास्तविक की विशेषता को जाने बिना उन्मत्तता के समान स्वेच्छाचारी होने से ज्ञान भी अज्ञान रूप होता है। अर्थात्–उन्मत्त की तरह सत्-असत् के विवेक से शून्य ऐसे यदृच्छा ज्ञान को मिथ्याज्ञान=अज्ञान कहा है ।। ३३ ।।

卐 विवेचन 卐

अपनी मतिकल्पना के अनुसार अर्थ करने से उन्मत्त की तरह सत् पदार्थ की और असत् पदार्थ की विशेषता नहीं समझ सकने से मिथ्यादृष्टि का मति आदि ज्ञान अज्ञान स्वरूप होता है

जैसे—कर्मोदय से किसी उन्मत्त-पागल पुरुष की इन्द्रियों की और मन की शक्ति नष्ट हो जाने से, वह वस्तु-पदार्थ के स्वरूप को विपरीत ही ग्रहण करता है। वह मिट्टी के ढेले को सुवर्ण मानता है तथा सुवर्ण को ढेला मानता है। कभी ढेले को ढेला और सुवर्ण को सुवर्ण भी समझता है। जैसा समझता है वैसा कहता भी है। ऐसा होते हुए भी उसके ज्ञान को अज्ञान ही कहते हैं। इसी तरह जिस व्यक्ति की मिथ्यादर्शन कर्म के निमित्त से देखने की तथा विचार-विमर्श करने की शक्ति और योग्यता नष्ट हो गई है अथवा विपरीत हो गई है, वह व्यक्ति जीव-अजीवादि वस्तु-पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को न देख सकता है, न विचार-विमर्श कर सकता है और न सही रूप में जान सकता है। इसलिए उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों अज्ञान ही कहे जाते हैं।

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टिवन्त जीवात्मा के सभी व्यवहार प्रमाणभूत ही हैं और मिथ्यादृष्टि-वन्त जीव-आत्मा के सभी व्यवहार अप्रमाणभूत हैं? यह कहना अयथार्थ अर्थात् भ्रमात्मक है। यह भी कोई नहीं कह सकता कि सम्यग्दृष्टिवन्त जीव की इन्द्रिय-साधना परिपूर्ण और निर्दोष होती है और मिथ्यादृष्टिवन्त जीव की साधना अपूर्ण तथा सदोष होती है। मिथ्यादृष्टि जीव भी श्वेत रंग को श्वेत, काले रंग को काला, शीत को शीत और उष्ण को उष्ण इत्यादि सम्यग्दृष्टि जीव के समान देखता है और कहता भी है तो फिर स्वगृहीत सम्यक्त्व और अन्यगृहीत मिथ्यात्व है, ऐसा कहना और भी असंगत है। इसलिए इसका यथार्थ-वास्तविक तात्पर्य क्या है?

उत्तर—मोक्षाभिमुखी सम्यग्दृष्टिवन्त जीवात्मा में समभाव की मात्रा तथा आत्म-विवेक विशेषरूप में होता है। इसलिए यह अपने ज्ञान का उपयोग मात्र समभाव की पुष्टि में करता है। इस हेतु से वह भले कितना ही अल्पविषयी ज्ञान वाला हो तो भी उसका ज्ञान सही ज्ञान कहलाता है। इससे विपरीत संसाराभिमुखी मिथ्यादृष्टि जीवात्मा में कितना ही विशाल और स्पष्टपने ज्ञान हो तो भी उसका ज्ञान असही, अज्ञान ही कहलाता है। मिथ्यादृष्टिवन्त जीवात्मा राग-द्वेष की तीव्रता और आध्यात्मिकज्ञान की अनभिज्ञता के कारण ही अपने विशाल ज्ञान का उपयोग केवल भवपुष्टि के लिये करती है। इसलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है तथा वही कर्म के राग-द्वेष की

तीव्रता को मन्द करता हुआ आत्मतृप्ति को उपार्जन करने का हेतु होता हो तो उस ज्ञान को अज्ञान नहीं कहते, किन्तु ज्ञान ही कहेंगे।

विश्व की प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् है अर्थात् विद्यमान है तथा पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से असत् है अर्थात् अविद्यमान है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में दो धर्म रहते हो हैं। सत्त्व और असत्त्व, नित्यत्व और अनित्यत्व तथा सामान्य और विशेष इत्यादि। ये धर्म प्रत्येक वस्तु-पदार्थ में होते हैं तो भी मिथ्यादृष्टि जीवात्मा अमुक वस्तु सत् ही है, अमुक वस्तु असत् ही है, अमुक वस्तु नित्य ही है, अमुक वस्तु अनित्य ही है तथा अमुक वस्तु सामान्य ही है एवं अमुक वस्तु विशेष ही है; इत्यादि वस्तु-पदार्थों के एकान्त रूप में एक धर्म को ही स्वीकार करती है और अन्य धर्म को अस्वीकार करती है। इसलिये उसका ज्ञान अज्ञान स्वरूप ही कहा जाता है ।।३३।।

❀ **नयानां निरूपणम्** ❀

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ।। ३४ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्तं ज्ञानम्। चारित्रं तु अग्रे नवमेऽध्याये वक्ष्यामः। प्रोक्ते च प्रमाणे पूर्वम्। नयानां निरूपणं तु अत्रैव वक्ष्यामः। तद्यथा–नैगमः, संग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रः, शब्दश्चेति पञ्चनयाः भवन्तीति ।। ३४ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं ।। ३४ ।।

卐 विवेचन 卐

पूर्व में कहा था कि प्रमाण के एकदेश को **नय** कहते हैं। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु के नित्य या अनित्य किसी भी एक अंश को ग्रहण कर प्रकाशित किया जाय, उसको ही **नय** कहा जाता है। अनेक अपेक्षाओं से नय के अनेक भेद हैं। परन्तु सामान्य से इस सूत्र में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच भेदों की सूचना दी गई है।

नय के भेदों-प्रकारों की संख्या के लिये एक ही निर्णय या परम्परा नहीं है। लेकिन सामान्य रूप से विशेषता-बहुलता नैगमादि सात भेदों के कथन की ओर दृष्टिगोचर होती है। नैगमादि पाँच नयों के अलावा समभिरूढ़ और एवंभूत ये दो नय मिलाकर सात नयों की प्रसिद्धि आज भी जैन ग्रन्थों में प्रचलित है। छह, पाँच, चार और दो इत्यादि भेदों की भी व्याख्या देखने में आती है। इसका वर्णन 'स्याद्वादरत्नाकर', 'रत्नाकर अवतारिका' 'नयप्रदीप', 'नयविचार' और 'नयविमर्श' इत्यादि अनेक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक देखा जा सकता है।

जैनधर्म के मूल सिद्धान्त अनेकान्तवाद यानी स्याद्वाद को समझने के लिए नयवाद के बोध को

अति आवश्यकता है। प्रस्तुत में नय का ही विषय चल रहा है। विश्व में जितनी अपेक्षाएँ हैं, उतने ही नय हैं। अपेक्षाएँ अनन्त हैं, तो नय भी अनन्त हैं। ज्ञानी महापुरुषों ने सभी नयों का संक्षेप से सात नयों में समावेश किया है। वे हैं—(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) साम्प्रत-शब्द, (६) समभिरूढ़ और (७) एवंभूत।

नय का सामान्य लक्षण—विश्व में किसी भी वस्तु-पदार्थ का तथा उसके विषय का सापेक्षता से निरूपण करना या विचार करना, उसको **नय** कहते हैं। उसके संक्षेप से दो भेद हैं—(१) एक **द्रव्यार्थिक नय,** और (२) दूसरा **पर्यायार्थिक नय।** विश्व की सभी वस्तुओं में समानता अथवा असमानता ये दो धर्म रहे हैं। इसलिए वस्तु मात्र उभयात्मक कहलाती है। किसी समय सामान्य अंश की तरफ और किसी समय विशेष अंश की तरफ मानव की बुद्धि प्रवाहित होती है। जो सामान्य विचार तरफ दृष्टि जाती है, उसको **'द्रव्यार्थिक नय'** कहते हैं तथा जो विशेष विचार तरफ दृष्टि जाती है, उसको **'पर्यायार्थिक नय'** कहते हैं। यह सामान्य विचारात्मक तथा विशेष विचारात्मक दृष्टि एक जैसी नहीं होती है, इसलिए उसके उत्तर भेद सात हैं, जिसमें द्रव्यार्थिकनय के तीन और पर्यायार्थिकनय के चार भेद कहे हैं। यह दृष्टिविभाग गौण और मुख्य भाव की अपेक्षा से जानना चाहिए।

नय के विशेष भेद—पूर्वकथित द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय को विचार-विमर्श श्रेणी में विभाजित करने से नय के अनेक भेद होते हैं। इसीलिए तो 'विशेष आवश्यक भाष्य' में कहा है कि—**'जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नय विसद्धाओ।'** (गाथा २२६५) सामान्य दृष्टि वालों के लिए इन सभी का अवबोध अग्राह्य है, इसलिए उनको सुखपूर्वक अवबोध कराने के कारण द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद तथा पर्यायार्थिकनय के चार भेद किये हैं।

(१) **नैगमनय**—जो विचार लौकिक रूढ़ि से अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से उत्पन्न होता है, उसे **'नैगमनय'** कहा जाता है। अर्थात्—जो वस्तु-पदार्थ के सामान्य विशेष या भेद-अभेद को ग्रहण करने वाला है, उसको या संकल्प मात्र से वस्तु-पदार्थ के ग्रहण करने को **नैगमनय** कहते हैं। जैसे—श्री अरिहन्त परमात्मा को सिद्ध भगवन्त कहना। श्री आचार्य महाराज को उपाध्याय महाराज कहना। मिट्टी के घड़े को भी घी का घड़ा कहना।

(२) **संग्रहनय**—विवक्षित वस्तु-पदार्थ में भेद नहीं करके किसी भी सामान्य गुण-धर्म की अपेक्षा से अभेद रूप से किसी भी वस्तु-पदार्थ को ग्रहण किया जाय, उसे **'संग्रहनय'** कहा जाता है। अर्थात्—जो एकवचन, एक अध्यवसाय अथवा एक उपयोग से एक साथ ग्रहण या अवबोध किया जाय, अथवा जो वाक्य समुदाय अर्थ को ग्रहण करता है उसको **संग्रहनय** कहते हैं। जैसे—जीवत्व (सामान्य धर्म) की अपेक्षा से ये जीव हैं, ऐसा जानना या कहना।

(३) **व्यवहारनय**—जो संग्रह नय से गृहीत सामान्य विचारात्मक वस्तु-पदार्थ को व्यावहारिक प्रयोजनानुसार विभाजित करता है, उसे **'व्यवहारनय'** कहते हैं। अर्थात्—जो संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में भेद को ग्रहण करता है, उसे **'व्यवहारनय'** कहा जाता है। जैसे जीवद्रव्य में संसारी और मुक्त का भेद करके एक भेद को ग्रहण करना। अथवा फिर संसारी में से भी नरकादि चार गतियों की अपेक्षा से किसी एक भेद को ग्रहण करना, सो व्यवहारनय है। उक्त नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों नय **द्रव्यार्थिक** कहलाते हैं।

(४) **ऋजुसूत्रनय**—जो केवल वर्त्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे **'ऋजुसूत्रनय'** कहते हैं। शुद्ध वर्तमान क्षणवर्त्ती पर्याय का ग्रहण अथवा निरूपण नहीं किया जा सकता है। कारण कि इसका उदाहरण नहीं बन सकता है, तो भी स्थूलदृष्टि से इसको उदाहरण रूप में घटा सकते हैं; जैसे कि देवगति में उत्पन्न हुए जीव को आमरणान्त देव कहना या मनुष्यगति में उत्पन्न हुए जीव को आमरणान्त मनुष्य कहना।

(५) **शब्दनय**—जो कर्त्ता आदि कारकों के व्यवहार को सिद्ध करने वाला हो, या लिङ्ग आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला हो, उसे **'शब्दनय'** कहते हैं। जैसे—किसी भी वस्तु-पदार्थ को भिन्न-भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों के द्वारा निरूपण करना।

इस तरह यहाँ नैगमादि नयों के सामान्य से पाँच भेद कहे हैं ।।३४।।

आद्यशब्दौ द्वि-त्रि-भेदौ ।। ३५ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

आद्यस्य नैगमनयस्य द्वौ भेदौ स्तः। देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी च। एवं शब्दनयस्य त्रयो भेदाः भवन्ति। यथा–साम्प्रतः, समभिरूढः, एवम्भूतश्चेति। उपर्युक्तनैगमादिसप्तनयानां लक्षणादिकं अनया रीत्या दर्श्यते। तद्यथा–देशे शास्त्रे वा प्रचलितस्य शब्दस्य, अर्थस्य, शब्दार्थस्य वा परिज्ञानं नयः स **नैगमनयः** देशग्राही सर्वग्राही च। अर्थानां सर्वदेशे अथवा एकदेशे संग्रहः सः **संग्रहनयः**। लौकिकरूपेण औपचारिकरूपेण विस्तारार्थस्य बोधको **व्यवहारनयो** भवति। विद्यमानस्य अर्थस्य कथनं ज्ञानं वा **ऋजुसूत्रनयो** भवति। यथार्थवस्तूनां कथनं स **शब्दनयो** भवति। शब्देन योऽर्थस्य प्रत्यज्ञानं तद् साम्प्रतं शब्दनयः तथा विद्यमाने अर्थे यः तस्य असंक्रमः स **समभिरूढनयः**। व्यञ्जने अर्थे च प्रवृत्तः **एवंभूतनयो** भवति।

प्रत्येके वस्तूनि अनन्ता धर्माः तिष्ठन्ति। तेषु अभीष्टधर्मस्य ग्राहकः तदतिरिक्त-धर्माणां अनपलापकः यः ज्ञातुरध्यवसायविशेषः स **नयः** कथ्यते। स नयः प्रमाणस्य अंशभूतो भवति। तेन प्रमाणस्य नयस्य च परस्परं भेदस्तिष्ठति। यथा–समुद्रस्यैक-देशः समुद्रो न, असमुद्रोऽपि न। तथैव नयः प्रमाणं न, प्रमाणाद् भिन्नोऽपि न, किन्तु प्रमाणस्यैकदेशः कथ्यते। तस्य नयस्य द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इति द्वौ भेदौ स्तः। द्रव्यमात्रस्य बोधको नयः **द्रव्यार्थिकनयः** कथ्यते। तेषु नैगमस्य संग्रहस्य व्यवहारस्य च नयस्य समावेशो बोधव्यः। तथा यः पर्यायमात्रस्य ग्रहणं करोति सः **पर्यायार्थिकनयः** कथ्यते। तेषु ऋजुसूत्रस्य साम्प्रतस्य (शब्दस्य) समभिरूढस्य एवंभूतस्येति चतुर्णां नयानां समावेशो भवति।

सामान्यस्य तथा विशेषादेरनेकधर्मस्य पृथग्-पृथग् ग्रहणकर्त्ता नयः **नैगमनयः** कथ्यते । सर्वपरिक्षेपी नैगमनयः सामान्यग्राही, तथा देशपरिक्षेपी नैगमनयः विशेषग्राही कथ्यते । सामान्यमात्रस्य ग्रहणकर्त्ता नयः **संग्रहनयो** भवति । तस्य द्वौ भेदौ स्तः, परसंग्रहः अपरसंग्रहश्चेति । समस्तविशेषधर्मात् उदासीनो भूत्वा सत्तारूपसामान्यस्यैव बोधकः परसंग्रहः कथ्यते । तथा यो द्रव्यत्वाद्यवान्तर–सामान्यस्य ग्रहणकर्त्ता सः अपरसंग्रहः कथ्यते । संग्रहनयेन विषयीभूतस्य ज्ञातपदार्थस्य विधानं कृत्वा तस्यैव विभागकारकः योऽध्यवसायविशेषः स **व्यवहारनयः** । यथा सत् तद् द्रव्यं पर्यायस्वरूपं वा । यथा–द्रव्यस्य षड्भेदाः भवन्ति । द्वौ (शब्दार्थौ) च पर्यायौ भवतः ।

ऋजुः अर्थात् वर्त्तमानक्षणे स्थितं पर्यायमात्रं विशेषरूपेण गृह्णाति यः स **ऋजुसूत्रनयः** । यथा–'साम्प्रतं सुखमस्ति' इति । अत्र ऋजुसूत्रनयः सुखरूपवर्त्तमान-मेव पर्यायमात्रं गृह्णाति ।

काल-कारक-लिङ्ग-कालादीनां संख्यायाः तथोपसर्गस्य भेदेन शब्दस्य भिन्नार्थ-स्वीकृतिकर्त्ता **शब्दनयः** कथ्यते । यथा–मेरुपर्वतः आसीत्, अस्ति, भविष्यति च । अत्र शब्दनयोऽतीत-वर्त्तमान-भविष्यकालभेदेन मेरुपर्वतमपि भिन्नं मन्यते ।

पर्यायशब्देषु व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थग्रहणकर्त्ता नयः **समभिरूढः** नयः कथ्यते । शब्दनयः पर्यायस्य भेदेऽपि अर्थस्याभिन्नतां मन्यते, किन्तु समभिरूढनयः पर्यायस्य भेदे भिन्नार्थं स्वीकरोति । यथा–समृद्धिमत्वेन इन्द्रः कथ्यते, पुरस्य विदारकत्वेन पुरन्दरः कथ्यते ।

शब्दानां प्रवृत्तेः कारणस्वरूपं क्रियासहितं अर्थं वाच्यरूपेण स्वीकुर्वन् नयः **एवंभूतनयोः** भवित । यथा–जलधारणादिचेष्टासहित एव घटो घटो भवति । किन्तु जलधारणादि–चेष्टारहित दशायां घटं घटं न मन्यते ।

येषु प्रथमतश्चत्वारः अर्थाणां प्रतिपादनपराः, तेन एते प्रथमे चत्वारः अर्थनयाः कथ्यन्ते । किन्तु परेषां त्रयाणां नयानां मुख्यरीत्या शब्द–वाच्यार्थविषयत्वेन ते शब्दनयाः कथ्यन्ते ।

अन्यप्रकारेणापि नयानां भेदः प्रदर्शितोऽस्ति । यथा विशेषग्राहिणो ये नयाः भवन्ति ते **अर्पितनयाः** कथ्यन्ते । ये च नयाः सामान्यग्राहिणो भवन्ति ते **अनर्पितनयाः** कथ्यन्ते । पुनश्च लोकप्रसिद्धानामर्थानां ग्राहको नयः **व्यवहारनयः** । तथा तात्त्विका-

नामर्थानां स्वीकारकर्त्ता नयः **निश्चयनयः** बोधव्यः। यथा–व्यवहारनयः भ्रमरस्य पञ्चवर्णत्वेऽपि श्यामो भ्रमरः इति कथयति। तथा तं निश्चयनयः पञ्चवर्णकं भ्रमरं मन्यते। ज्ञानं मोक्षसाधनं इति मन्यमानो नयः **ज्ञाननयः**। तथा क्रिया एव मोक्षसाधिका इति मन्यमानः **क्रियानयः**।

अथ प्रसङ्गात् **'नयाभास'** स्वरूपं वर्ण्यते–

अनन्तधर्मात्मकेषु वस्तुषु अभिप्रेतं धर्मं स्वीकरोति तथा तद् विपरीतं धर्मं तिरस्करोति यः स **नयाभासः** कथ्यते। अतः द्रव्यमात्रस्य ग्रहणकर्त्ता पर्यायस्य तिरस्कर्त्ता नयः द्रव्यार्थिकनयाभासः, तथा पर्यायमात्रस्य ग्राहकः तदतिरिक्तद्रव्यस्य तिरस्कर्त्ता नयः पर्यायार्थिकनयाभासो बोधव्यः। धर्मिणो धर्मस्य च एकान्तभेदं मन्यमानः नैगमाभासः भवति। यथा–**नैयायिकदर्शने वैशेषिकदर्शने च**। सत्तारूप–महासामान्यं मन्यमानः तथा समस्तविशेषं खण्डयितुं प्रवृत्तः संग्रहाभासो भवति। यथा–अद्वैतवाददर्शने सांख्यदर्शने च अपारमार्थिकस्यापि द्रव्यपर्यायस्य विभागकरणं व्यवहाराभासो भवति।

एवं **चार्वाकदर्शने** जीवस्य तथा तद्द्रव्यपर्यायादेश्च चतुर्भ्यः भूतेभ्यः पार्थक्यं नास्ति, केवलं भूतस्यैव सत्तां स्वीकरोति। वर्त्तमानपर्यायस्य स्वीकर्त्ता तथा सर्वथा द्रव्यस्यापलापकर्त्ता ऋजुसूत्राभासो भवति, यथा **बौद्धदर्शनम्**।

कालादिभेदेन वाच्यस्यैव (अर्थस्यैव) भेदं मन्यमानः शब्दाभासो भवति। यथा–मेरुपर्वतोऽभूत्, अस्ति, भविष्यतीति शब्दः भिन्नमेवार्थं कथयति। पर्यायशब्दानां भिन्न-भिन्नार्थस्य स्वीकरणं **समभिरूढाभासः** कथ्यते। यथा–इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः आदि–शब्दः भिन्नभिन्नमेव स्वार्थं दर्शयति, इत्थं यत्र मान्यताऽस्ति सः समभिरूढाभासः कथ्यते।

क्रियारहितवस्तूनां वाच्यं (अर्थः) न भवति, इत्येवं मन्यमानः एवंभूताभासो नयः। यथा–चेष्टारहितो घटः घटशब्दः बोध्यो न भवति।

सारांशः–

(१) **सामान्य-विशेषयोर्बोधकः नैगमनयः।**

(२) **सामान्यस्य बोधकः संग्रहनयः।**

(३) **विशेषस्य बोधकः व्यवहारनयः।**

(४) **केवलं वर्त्तमानकालस्य बोधकः ऋजुसूत्रनयः।**

(५) **शब्दस्य बोधकः शब्दनयः ।**

(६) **अर्थस्य बोधकः समभिरूढः ।**

(७) **शब्दस्य अर्थस्य च बोधकः एवंभूतनयः ।**

❀ **सूत्रार्थ**--प्रथम (नैगम) नय के दो भेद हैं-एक **देशपरिक्षेपी** और दूसरा **सर्वपरिक्षेपी** । तथा शब्दनय के तीन भेद हैं-**साम्प्रत, समभिरूढ़** और **एवम्भूत** ।। ३५ ।।

卐 विवेचन 卐

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं । नैगम और शब्दनय के यथाक्रम दो और तीन भेद हैं । यहाँ नयों के पाँच भेद सामान्य से प्रतिपादित किये गये हैं । किन्तु इसमें और भी विशेषता यह है कि नैगम के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी दा भेद कहे हैं तथा शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवम्भूत तीन भेद कहे हैं ।

प्रश्न—पूर्व सूत्र में और इस सूत्र में नयों के जितने भेद प्रतिपादित किये गये हैं, उनके लक्षण क्या-क्या हैं ?

उत्तर—निगम नाम जनपद-देशका कहा जाता है । उसमें जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है, वहाँ उस अर्थ के और शब्द के सम्बन्ध को जानने का नाम **नैगमनय** है । इस शब्द का यह अर्थ है तथा इस अर्थ के लिये इस शब्द का प्रयोग करना; इस प्रकार के वाच्य और वाचक सम्बन्ध के ज्ञान को **नैगमनय** कहते हैं ।

(१) नैगमनय—गम यानी दृष्टि-ज्ञान । जिसकी अनेक दृष्टियाँ हैं वह **नैगम** । अर्थात् नैगम-नय की अनेक दृष्टियाँ हैं । इस नैगमनय की दृष्टि से व्यवहार में होती हुई लोकरूढ़ि है । इस नय के मुख्य तीन भेद हैं—जिनके नाम (१) संकल्प, (२) अंश और (३) उपचार हैं ।

(१) संकल्प—संकल्प को सिद्ध करने के लिए जो कोई भी अन्य प्रवृत्ति करने में आती है, उसे भी संकल्प की ही प्रवृत्ति कही जाती है । जैसे कि—जैनधर्मी श्रीमान् जिनदास ने वि. सं. २०४७ की पौष सुद छठ दिन के शुभ प्रसंग पर तीर्थाधिराज श्री शत्रुञ्जय-सिद्धगिरिजी महातीर्थ की यात्रा पर जाने का संकल्प-निर्णय किया । साथ में ले जाने के लिए भाता तथा वस्त्र वगैरह की सामग्री तैयार कर अपनी मंजूषा-पेटी में भरने लगा । उसी समय वहाँ पर बाहर से आये हुए सार्धमिक बन्धु श्रीमान् धर्मदास ने पूछा "भाई ! आप कहाँ जाते हो ?"

जिनदास ने कहा—"मैं पालीताणा-श्रीशत्रुञ्जय महातीर्थ की यात्रा करने के लिये जाता हूँ ।" यहाँ पालीताणा जाने की और श्री शत्रुञ्जय महातीर्थ की यात्रा करने की क्रिया तो भविष्य में होने वाली है, वर्तमानकाल में तो मात्र उसकी तैयारी हो रही है । वर्तमान में पालीताणा तरफ गमन न होते हुए भी वर्तमानकालीन प्रश्न और उत्तर दोनों संकल्प रूप नैगमनय की दृष्टि से सत्य हैं—सच्चे हैं । कारण कि व्यक्ति ने जब से जाने का संकल्प किया तब से वह संकल्प जहाँ तक पूर्ण न हो

जाय वहाँ तक उस कार्य की सर्व क्रियाएँ संकल्प की ही कही जाती हैं। इसलिये श्री पालीताणा जाने की तैयारी भी श्री पालीताणा गमन की क्रिया है। ऐसा **नैगमनय** कह रहा है।

(२) **अंश**—यानी भाग। अंश का-भाग का पूर्णता में उपचार। जैसे कि कोई व्यक्ति अपने घर-मुकाम की दीवार आदि का कोई एक अंश-भाग गिर जाने पर बोलता है कि 'मेरा मुकाम गिर पड़ा' इत्यादि। इस तरह अन्य में भी घटित करना। यह सर्व व्यवहार अंश-भाग नैगमनय की दृष्टि से चलता है।

(३) **उपचार**—विश्व में कारण का कार्य में उपचार होता है। भूतकाल का वर्तमानकाल में तथा भविष्यत्काल का भी वर्तमानकाल में उपचार होता है, इत्यादि। जैसे—जब अपना जन्मदिन आता है, तो कहते हैं कि 'आज मेरा जन्मदिन है'। अर्थात् भूतकाल का वर्तमानकाल में आरोप करके इस तरह बोला जाता है। ऐसे अन्य वस्तुओं में घटित करना। जगत् में प्रचलित अनेक प्रकार की लोक-व्यवहार की रूढ़ि इस नैगमनय की दृष्टि से चलती है।

अब अन्य प्रकार से भी नैगमनय का विचारविमर्श निम्नलिखित रूप से है—

नैगमनय के दो प्रकार यानी दो भेद हैं। एक **सर्वपरिक्षेपी (समग्रग्राही) नैगमनय** और दूसरा **देशपरिक्षेपी (देशग्राही) नैगमनय**। सर्वपरिक्षेपी को **सामान्यग्राही** तथा देशपरिक्षेपी को **विशेषग्राही** कहते हैं। प्रत्येक वस्तु-पदार्थ सामान्य और विशेष उभयस्वरूप में है। जो वस्तु-पदार्थ के सामान्य अंश का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है, उसको सर्वपरिक्षेपी (समग्रग्राही) **सामान्य नैगमनय** कहते हैं। जैसे कि—(१) सोने का, चांदी का, पीतल का, लोहे का, मिट्टी का, अथवा लाल, पीला, काला, श्वेत इत्यादि का भेद न करके केवल घटमात्र को ग्रहण करना। यह **सामान्य नैगमनय** है। (२) जो वस्तु-पदार्थ के विशेष अंश का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसे देशपरिक्षेपी (देशग्राही) **विशेष नैगमनय** कहते हैं। जैसे कि—घट को सोने का या चांदी का या पीतल का या मिट्टी का इत्यादि विशेषरूप से ग्रहण करना। यह **विशेष नैगमनय है**। अर्थात्—नैगमनय के सामान्य-ग्राही और विशेषग्राही दो भेद जानना। प्रत्येक वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य और विशेष दोनों रूपों में है। कारण कि नैगमनय सामान्य और विशेष उभय को ग्रहण करता है। नैगमनय का विषय-क्षेत्र सब से विस्तीर्ण है। इसलिये वह सामान्य तथा विशेष दोनों को लोकरूढ़ि के अनुसार कभी मुख्य भाव से और कभी गौण भाव से ग्रहण करता है।

(२) **संग्रहनय**—विवक्षित वस्तु-पदार्थ में भेद न करके उसको किसी भी सामान्य गुणधर्म की अपेक्षा अभेदरूप से ग्रहण करना, उसे **संग्रहनय** कहते हैं। अर्थात् संग्रहनय वस्तु-पदार्थ को सामान्य-तया ही ग्रहण करने वाला है। पदार्थों के सर्वदेश तथा एकदेश दोनों को ग्रहण करता है, इसलिए **संग्रहनय** कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु-पदार्थ अपेक्षाभेद से सामान्य और विशेष उभयरूप में है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु-पदार्थ में सामान्य अंश तथा विशेष अंश दोनों विद्यमान हैं। यहाँ तो संग्रहनय सामान्य अंश को ग्रहण करता है। क्योंकि वह कहता है कि सामान्य के बिना विशेष नहीं हो सकता। सामान्य के बिना विशेष आकाशकुसुमवत् असत् ही है अर्थात् निरर्थक है। जहाँ-जहाँ विशेष है वहाँ-वहाँ सामान्य अवश्य है। इसलिए संग्रहनय प्रत्येक वस्तु-पदार्थ की पहिचान सामान्य रूप से कराता है। इस नय की दृष्टि विशाल होने से यह सर्व विशेष पदार्थों को सामान्य से एकरूप में संग्रह करता

है। जैसे—जड़ और चेतन ये दोनों पदार्थ पृथग्-भिन्न होते हुए भी संग्रहनय जड़-चेतन इन दोनों पदार्थों को एक रूप से संग्रह कर लेता है। सत् रूप में जड़ और चेतन दोनों पदार्थ समान हैं अर्थात् एकसे हैं। प्रत्येक जीवात्मा पृथ-क्पृथक् होते हुए भी संग्रहनय समस्त जीवात्माओं को चैतन्य से एक रूप में ही मानता है। कारण कि प्रत्येक में चैतन्य समान-एक ही है।

विश्व में जितने पदार्थ हैं, उन सब में सत् लक्षण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' सामान्य रूप से रहा हुआ है। उसी में दृष्टि रखकर और विशेष स्वभाव की ओर दृष्टि न देकर विश्व के समस्त वस्तु-पदार्थों को जो एक रूप से समझे वह संग्रहनय है। अर्थात्—संग्रहनय में सभी वस्तु-पदार्थों का समावेश होता है। संग्रह की विशालता सामान्यता के अनुसार है, इतना ही नहीं किन्तु विविध वस्तु-पदार्थों के सामान्य तत्त्वों का एकीकरण ही **संग्रहनय** है। जैसे—कोट, कमीज, पतलून, धोती, साड़ी, बुशशर्ट, ब्लाउज इत्यादि परिधान अनेक प्रकार के होते हुए भी उनकी विशेषता की तरफ दृष्टिपात न करके केवल सामान्य लक्षण को ग्रहण करके सबको वस्त्र-कपड़ा कहना, यह वाक्य **संग्रहनयग्राही है** अर्थात्—संग्रहनय को ग्रहण करने वाला है। संग्रहनय के सामान्य अंश में अनेक प्रकार की तरतमता रहती है। इसलिए सामान्य अंश जितना विशाल होगा उतना संग्रहनय विशाल तथा सामान्य अंश जितना संक्षिप्त होगा, उतना संग्रहनय संक्षिप्त समझना।

(३) **व्यवहारनय**—जो नय विशेष तरफ दृष्टि करके प्रत्येक वस्तु को पृथक्-पृथक् यानी भिन्न-भिन्न मानता है, वह **व्यवहारनय** कहलाता है। अर्थात् - एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तु-पदार्थ की विविध विशेषताओं को समझने के लिये या व्यवहार में उनका उपयोग करने के लिये तो उस समय वस्तु-पदार्थ का पृथक्करण करना पड़ता है, उसे ही **व्यवहारनय** कहा जाता है। यह नय कहता है कि विशेष सामान्य से भिन्न नहीं है, तो भी विशेष बिना व्यवहार नहीं चल सकता। जैसे—गुरु ने शिष्य को या शिक्षक ने विद्यार्थी को कहा कि—'आचार्य श्री सुशीलसूरि जैन ज्ञानमन्दिर' में से **'आगमशास्त्र'** ले आओ? इतना कहने से भी लाने वाला व्यक्ति नहीं ला सकेगा। कारण कि, वर्तमानकाल में जैनदर्शन के आचाराङ्ग आदि पैंतालीस आगमशास्त्र हैं। उनमें से कौनसा आगमसूत्र लाना? तो कहना पड़ेगा कि **'पंचमाङ्ग श्री भगवती सूत्र'** लाओ। ऐसा कहने से वह **'पूज्य श्री भगवतीजी सूत्र'** लायेगा। विशेष को स्वीकारे बिना व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए व्यवहारनय विशेष अंश को मानता है।

उक्त नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीन नयों में **नैगमनय** सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकारता है। **संग्रहनय** केवल सामान्य को स्वीकारता है तथा **व्यवहारनय** केवल विशेष को स्वीकारता है। उनमें संग्रहनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष रूप हैं। इससे एक ही विचार दोनों नयों का होता है। जैसे किसी ने कहा कि—'इस सिरोही नगर में मनुष्य रहते हैं।' यह विचार संग्रहनय का और व्यवहारनय का भी है। नगर में तो पंचेन्द्रिय मनुष्यों के उपरान्त तिर्यंच जानवर गाय-भैंस इत्यादि जीव भी रहते हैं। इससे मनुष्य और जानवर दोनों जीव होते हुए भी जीव की दृष्टि से मनुष्य विशेष हैं। इससे जीव की दृष्टि से 'इस नगर में मनुष्य रहते हैं' यह विचार व्यवहारनय की अपेक्षा से है। अब मनुष्यों में भी स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, युवक-युवती एवं वृद्ध-वृद्धा वगैरह होते हैं। मनुष्य के स्त्री और पुरुष इत्यादि विशेष भेदों की अपेक्षा 'इस नगर में मनुष्य रहते ।'हैं यह विचार संग्रहनय का है। इस तरह एक ही विचार संग्रहनय का भी कहलाता

है और व्यवहारनय का भी कहलाता है। इससे सारांश यह आता है कि जितने अंश में दृष्टि सामान्य तरफ होती है उतने अंश में संग्रहनय समझना तथा जितने अंश में दृष्टि विशेष तरफ होती है, उतने अंश में व्यवहारनय जानना। व्यवहारनय का विषय संग्रहनय से न्यून है। क्योंकि वह संग्रह गृहीत वस्तु-पदार्थ को पृथक्करण रूप केवल विशेषग्राही है। इस तरह उत्तरोत्तर संकुचित क्षेत्र होने हुए भी पूर्वापर सम्बन्ध वाला है। नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों का संबोधक है इसलिए इसी से संग्रहनय की उत्पत्ति है, इतना ही नहीं किन्तु संग्रहनय के विषय पर ही व्यवहारनय आलेखित है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार नैगमनय लोकरूढ़ि के आधारवर्त्ती है। लोकरूढ़ि भी संकल्प, अंश, उपचार रूप सामान्य तत्त्वाश्रयी है। इसलिए नैगमनय के भी संकल्प, अंश तथा उपचार रूप तीन भेद होते हैं। दूसरे संग्रहनय एकीकरण रूप व्यापारविषयी होने से सामान्यगामी है। तीसरे व्यवहारनय पृथक्करणोन्मुखी होते हुए भी उसकी क्रिया केवल सामान्य पट पर चित्रित होने से वह सामान्यविषयी है। इसलिए नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों नय द्रव्यार्थिक कहे जाते हैं।

(४) ऋजुसूत्रनय—जो भूत और भविष्यत्काल के विचार को छोड़कर केवल वर्तमान समयग्राही हो, उसे '**ऋजुसूत्रनय**' कहते हैं। अर्थात्—जो नय मात्र वस्तु-पदार्थ की वर्तमान अवस्था की तरफ लक्ष्य रखे, वह ऋजुसूत्रनय है। यह नय वस्तु-पदार्थ की वर्तमान पर्याय को ही मान्य रखता है, उसकी अतीत और अनागत पर्याय को नहीं। यद्यपि मनुष्य भूत और भविष्यत्काल के विचार-विमर्श की कल्पना का परित्याग नहीं कर सकता है, तो भी किसी समय केवल वर्तमानग्राही विचार-विमर्शों की तरफ प्रवाहित होकर उपस्थित वस्तु-पदार्थ को ही वस्तु का स्वरूप मानता है। वर्तमानकालीन ऋद्धि-समृद्धि सुख के लिये साधनभूत है। किन्तु भूतकालीन समृद्धि का स्मरण तथा भावी ऋद्धि-समृद्धि की कल्पना वर्तमानकाल में सुख का साधन नहीं होती है। इसी भाँति वर्तमान काल में जो श्रीमन्ताई ठकुराई-सेठाई भोगता है, उसे ही श्रीमन्त-ठाकुर-सेठ कहा जाता है। ऐसा मन्तव्य ऋजुसूत्रनय का है। जबकि व्यवहारनय का तो मन्तव्य यह है कि—भले ही वर्तमान-काल में श्रीमन्ताई-ठकुराई-सेठाई न भोगता हो तो भी भूतकाल में उसने श्रीमन्ताई-ठकुराई-सेठाई भोगी थी, इस दृष्टि से उसे वर्तमानकाल में भी श्रीमन्त, ठाकुर, सेठ कहते हैं। ऋजुसूत्रनय जो वर्तमानकाल में देश का या राज्य का नेता-मालिक होता है, उसे ही राजा-महाराजा कहता है। जबकि व्यवहारनय भविष्यत्काल में जो देश का या राज्य का नेता-मालिक बनने वाला है, उसे भी राजा-महाराजा कहता है। इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा ऋजुसूत्रनय सूक्ष्म है।

(५) साम्प्रत-शब्दनय—जिस प्रकार पदार्थ का स्वरूप है, उसी प्रकार उसका उच्चारण करने, कर्त्ता, कर्म आदि कारकों की अपेक्षा से और अर्थ के अनुरूप ग्रहण या निरूपण करने को **शब्दनय** कहा जाता है। जिसमें घट शब्द के अर्थ का संकेत हो, उसको घट कहे, वह शब्दनय है। लोक में शब्द बिना व्यवहार नहीं चल सकता है। शब्दों से होने वाले बोध में शब्दनय की मुख्यता-प्रधानता है। शब्दनय यानी शब्द के आश्रयी होती हुई अर्थविचारणा। शब्दनय लिङ्ग, काल और वचन इत्यादि के भेद से अर्थभेद मानता है। अर्थात्—भिन्न-भिन्न शब्दों का और भिन्न-भिन्न लिङ्गों आदि का अर्थ भी भिन्न-भिन्न स्वीकारता है।

❀ **लिङ्गभेद**—भिन्न-भिन्न लिङ्ग के शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ है। जैसे—नर और नारी इत्यादि।

❀ **कालभेद**—भिन्न-भिन्न काल के शब्दों का भी भिन्न-भिन्न अर्थ है। जैसे—था, है और होगा इत्यादि।

❀ **वचनभेद**—भिन्न-भिन्न वचन के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। जैसे—मनुष्य और मनुष्यों इत्यादि।

❀ **कारकभेद**—कारक के भेद से अर्थ का भेद होता है। जैसे—धर्म, धर्म को, धर्म में इत्यादि।

इस तरह शब्दनय लिङ्ग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है, किन्तु एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थभेद नहीं स्वीकारता है। मनुष्य, मानव, मनुज इत्यादि शब्द भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्द होने से उन सर्व शब्दों का मानव ऐसा एक ही अर्थ रहेगा।

(६) **समभिरूढ़नय**—शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर उस अर्थभेद की जो कल्पना करे वही **समभिरूढ़नय** कहा जाता है। यह नय एक ही पर्यायवाची वस्तु-पदार्थ का शब्दभेद से अर्थभेद स्वीकारता है। शब्दनय समान पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही मानता है, किन्तु यह समभिरूढ़नय शब्दभेद से अर्थभेद मानता है। उसका कहना यह है कि जो लिङ्ग, काल, वचन और कारक इन भेदों से अर्थ का भेद मानने में आ जाय तो व्युत्पत्तिभेद से भी अर्थ का भेद मानना चाहिए। प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए प्रत्येक शब्द का अर्थ भी भिन्न-भिन्न होता है। जो राजा-महाराजा, नृप-नृपति एवं भूप-भूपति इत्यादि प्रत्येक शब्द का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। जैसे—(१) जो राजचिह्नों से शोभता है, वह **'राजा-महाराजा'** है। (२) जो प्रजा-मानव का रक्षण करता है, वह **'नृप-नृपति'** है। (३) जो पृथ्वी का पालन करता **है वह 'भूप-भूपति'** है।

शब्दनय और समभिरूढ़नय इन दोनों नयों में विशेषता-भिन्नता के लिए यह **प्रश्न** है कि क्या शब्दनय शब्दभेद से अर्थभेद को नहीं स्वीकारता है? **उत्तर** में कहते हैं कि—शब्दनय शब्दभेद से अर्थभेद को स्वीकारता भी है और नहीं भी स्वीकारता है। **शब्दनय** समान पर्यायवाची शब्दों के बिना इतर शब्दों में शब्दभेद से अर्थभेद मानता है। जैसे—इन्द्र, सूर्य और चन्द्र इत्यादि शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा होते हुए भी पर्यायवाची शब्दों में शब्दभेद से शब्दनय अर्थभेद को नहीं मानता है। ऐसी स्थिति में समभिरूढ़नय तो समान पर्यायवाची शब्दों में भी शब्दभेद से अर्थभेद मानता है। शब्दनय में और समभिरूढ़नय में इतनी ही विशेषता-भिन्नता है।

(७) **एवंभूतनय**—जो शब्द फलितार्थ अर्थात् परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो, उसे **'एवंभूतनय'** कहा जाता है। अर्थात्-जो नय वस्तु-पदार्थ में जब शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ घटता हो तब ही उस शब्द से उस वस्तु को सम्बोधे, वह **एवंभूतनय है**। जैसे—राजा-महाराजा राजचिह्नों से समलङ्कृत-सुशोभित होवे, तब ही वह राजा-महाराजा कहलाता है। इस तरह यह एवंभूतनय क्रियाभेद से अर्थात् व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ के भेद से अर्थभेद मानता है।

सारांश यह है कि शब्द का जो अर्थ होता है, उस अर्थ में उस शब्द की व्युत्पत्ति से जो क्रिया उत्पन्न हो, वह क्रिया जब हो रही हो तब ही उस अर्थ के लिए उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए, ऐसो एवंभूत नय की मान्यता है। अर्थात्—जो शब्द पूर्ण प्रयोगावस्था रूप हो, वही एवंभूत-नयग्राही है।

पूर्वोक्त ऋजुसूत्रादि चारों प्रकार के कथन में पूर्वापर जो विशेषता है, उसमें भी पूर्ववर्ती नय से उत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम विषय हैं और उत्तरोत्तर नय के आधार पूर्वपर्यायार्थिक हैं। इसलिये ऋजुसूत्रनय से पर्यायार्थिकनय का प्रारम्भ तत्-तत् नय के विषय पर रहा हुआ है।

इन ऋजुसूत्रादि चारों नयों को **पर्यायार्थिकनय** कहते हैं। इनको पर्यायार्थिकनय कहने का कारण यह है कि—ऋजुसूत्रनय भूतकाल और भविष्यत्काल को छोड़कर केवल वर्तमानकाल-ग्राही है। ऋजुसूत्रनय के पश्चात् शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय ये तीनों नय उत्तरोत्तर विशेषगामो होने से पर्यायार्थिक ही हैं। द्रव्यार्थिकनय का और पर्यायार्थिकनय का मुख्य हेतु यही है कि प्रथम के नैगमादि तीन नय स्थूल रूप से सामान्यतत्त्वग्राही हैं और उत्तर के ऋजुसूत्रादि चार नय विशेष तत्त्वग्राही हैं।



श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य प्रथमाध्यायस्य सारांशः

यथा स्वजातौ यदुत्कृष्टं, रत्नं भवति सर्वदा ।
तथैव मोक्षमार्गस्य, एते आत्मगुणाः स्मृताः ।। १ ।।

विज्ञाय एकार्थ परेषु भेदाः, निरुक्तिसिद्धार्थ-पदान्यपि च ।
नामादिभिस्तत्त्वपरीक्ष्य जीवाः, नयैः परीक्षां सततं विधेयुः ।। २ ।।

तत्त्वार्थाधिगमाध्याये, प्रथमे नयवर्णनम् ।
नैगमादि - विभागैश्च, पञ्चभेदैः विवक्षितम् ।। ३ ।।

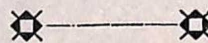
सापेक्षदृष्टया वस्तूनां, विमर्शः नय उच्यते ।
एकापेक्षामधिकृत्य, अन्यच्छेदेति दुर्नयः ।। ४ ।।

नयादिमास्त्रयस्तु हि, सम्यग्-मिथ्यां श्रयन्ति च ।
किन्तु सम्यग्दृष्टीनां, सम्यग्ज्ञानं प्रकीर्त्यते ।। ५ ।।

ऋजुसूत्रनयाश्रयी अभूत् , षट्ज्ञान - परिपेक्षया सदा ।
श्रयितं श्रुतज्ञानमाश्नयं, किमपेक्षा मतिज्ञान - सेवने ।। ६ ।।

न कोऽप्यज्ञनया दृष्टया, ज्ञभावमधिगम्यते ।
मिथ्यादृष्टि तथा ज्ञाने, नश्नयते नयः क्वचित् ।। ७ ।।

इत्यनेकाः नयार्थाः हि, विशुद्धापि विरोधीव ।
लौकिकविषयातीताः, तत्त्वज्ञानेन चिन्तिताः ।। ८ ।।



इति श्रीशासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति–तपोगच्छाधिपति–भारतीयभव्य-विभूति–महाप्रभावशालि–अखण्डब्रह्मतेजोमूर्त्ति–श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेकप्राचीन-तीर्थोद्धारक - श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेकनृपतिप्रतिबोधक - चिरन्तनयुगप्रधानकल्प-वचनसिद्धमहापुरुष - सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–प्रातःस्मरणीय-परमोपकारि-परमपूज्याचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां** दिव्यपट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद - कविरत्न–साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतन-संस्कृतसाहित्यसर्जक - परमशासनप्रभावक - बालब्रह्मचारि - परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां** प्रधानपट्टधर-धर्मप्रभावक-शास्त्रविशारद-कवि-दिवाकर - व्याकरणरत्न- स्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थकारक-बालब्रह्मचारि-परम-पूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वराणां** सुप्रसिद्धपट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-तीर्थप्रभावक-राजस्थानदीपक - मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न-कविभूषण-बालब्रह्मचारि - **श्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य प्रथमोऽध्यायस्योपरि** विरचिता **'सुबोधिका टीका'** एवं तस्य सरल हिन्दी भाषायां **'विवेचनामृतम्'** ।



तत्त्वार्थाधिगमसूत्र

के

प्रथम अध्याय

का

हिन्दी पद्यानुवाद



卐 ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः 卐

श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथमाध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद

मूलसूत्रकार—पूर्वधर महर्षि **पूज्य वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराज**

卐

हिन्दीपद्यानुवादक—शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न - कविभूषण - **पूज्याचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी महाराज**

❀ मंगलाचरण ❀

(हरिगीत-छन्द)

श्री आदि-शान्ति-नेमि-पार्श्व, विभु वीर वन्दन करके ।
जिनवाणी सूरिनेमि-लावण्य, दक्ष सुगुरु स्मरके ।।
पूर्वधर वाचक उमास्वाति, रचित तत्त्वार्थसूत्र का ।
हिन्दीपद्यानुवाद करता, सुशील सूरि जग हित का ।। १ ।।

卐 प्रथमोऽध्यायः 卐

卐 मूलसूत्रम्

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।। १ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मुक्ति मन्दिर के लिए ए, सन्मार्ग विभु वीर ने कहा ।
श्रवण करके भव्य जीव ने, निज हृदयमहीं सद्ह्या ।।
सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र, विवेकयुक्त आदरे ।
शिथिल कर निज कर्मबन्धन, मोक्षमार्गमही संचरे ।। २ ।।

卐 मूलसूत्रम्

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। २ ।।
तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।। ३ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

तत्त्वभूत पदार्थ की जो, शुभ रुचि हृदय में विस्तरे ।
तब शुद्धदर्शन प्रगटतां ए, भविक भवसिन्धु से तरे ।।
सम्यग् - दर्शन प्राप्ति के, दो हेतु सूत्रमही कहा ।
निसर्ग या अधिगम गुरु का, जिसे जीव सुदर्शन लहा ।। ३ ।।

卐 मूलसूत्रम्

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।। ४ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

जीव और अजीव ये दो, ज्ञेय तत्त्वरूपे जानना ।
आस्रव तथा बन्ध ये दो, हेय तत्त्वरूपे त्यागना ।।
संवर-निर्जरा-मोक्ष ये, तीन उपादेय तत्त्व हैं ।
अही योग्य इन तीनमांहि, श्रद्धा सदादरणीय है ।। ४ ।।

卐 मूलसूत्रम्

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।। ५ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

नाम स्थापना द्रव्य भावे, तत्त्व सप्त विचारिये ।
निक्षेपादि चार थकी ए, सर्व भाव से भाविये ।।
द्रव्य से नहिं द्रव्य जीव, किन्तु वह है उपचार से ।
गुरुगम्यता से जानिये, उस ज्ञान को अति स्नेह से ।। ५ ।।

卐 मूलसूत्रम्

प्रमाणनयैरधिगमः ।। ६ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

जीवादि सातों तत्त्व को, प्रमाण नय से जानिये ।
ज्ञान उसका हो विशद पर, वस्तुतत्त्व विचारिये ।।
अनन्तधर्मात्मक वस्तु को अनेक भेद से जो ग्रहे ।
कहते उसे प्रमाण और, नय एक भेद को सद्दहे ।। ६ ।।

卐 मूलसूत्रम्

निर्देश-स्वामित्व-साधना-धिकरण-स्थिति-विधानतः ।। ७ ।।

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ।। ८ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

निर्देश स्वामित्व, साधन, ये तीन क्रम से जानिये ।
अधिकरण चौथा स्थिति पंचम, विधान छट्ठा मानिये ।।
सत्पदप्ररूपणा सप्तम, संख्या अष्टम जानना ।
क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर, भाव क्रमशः मानना ।। ७ ।।
अल्प-बहुत्व चौदहवाँ है, ज्ञान सम्यग् जानिये ।
प्रमाण और नय के सभी, ये भेद सम्यग् मानिये ।।
इन सभी के ज्ञान द्वारा, सत्य अन्वेषण करें ।
ऋजुभाव से फिर जीव ये, भवसिन्धु तरे मुक्ति वरे ।। ८ ।।

卐 मूलसूत्रम्

मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम् ।। ९ ।।

तत् प्रमाणे ।। १० ।।

आद्ये परोक्षम् ।। ११ ।।

प्रत्यक्षमन्यद् ।। १२ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मतिज्ञान पहला श्रुत दूसरा, अवधि तीसरा कहा ।
चौथा मनःपर्यव तथा, कहा पाँचवाँ केवल मही ।।
ज्ञान ये ही प्रमाण के, परोक्ष-प्रत्यक्ष भेद हैं ।
मति-श्रुत में परोक्ष है, शेष तीनों में प्रत्यक्ष है ।। ९ ।।

卐 मूलसूत्रम्

मतिः स्मृतिः संज्ञा-चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।। १३ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मति स्मृति संज्ञा चिन्ता, अभिनिबोधक यहाँ ही कहे।
पर्याय ये मति शब्द के, नन्दीसूत्रादि में ग्रहे ॥
शब्द से अन्तर भले हो, पर अर्थ में अन्तर नहीं।
स्वीकृत करें जो वर्तमान, है वही मतिज्ञान ही ॥ १० ॥

卐 मूलसूत्रम्

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥
अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मतिज्ञान की उत्पत्ति के, दो ही कारण को कहा।
प्रथम इन्द्रियहेतु को और, द्वितीय मन को ही कहा ॥
अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणा भेद ये चार हैं।
निर्मल करें जो बुद्धि को, मतिज्ञान के ये भेद हैं ॥ ११ ॥

卐 मूलसूत्रम्

बहु-बहुविध-क्षिप्रा-निःसृता (संदिग्ध)-नुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

अल्प बहु बहुविध एकविध, क्षिप्र और अक्षिप्र हैं।
अनिःसृत निःसृत तथा, संशययुक्त और वियुक्त हैं ॥
ध्रुव और अध्रुव ग्राही, इम द्वादश ये भेद को।
छ से गुणी, गुणो चार से, मान दो सौ अट्ठासी को ॥ १२ ॥

卐 मूलसूत्रम्

अर्थस्य ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

भेद ये सब अर्थना के, व्यञ्जना के भी और हैं।
चक्षु मन इन दो बिना ये, चार इन्द्रिय अवग्रह है ।।
बहु इत्यादि द्वादश से, तुरीय इन्द्रिय गुणन से।
अष्ट चत्वारिंशत् भेद हुए, व्यंजन-अवग्रह के ।। १३ ।।

विशेष

स्वभाव - जन्योत्पातिकी, कार्मिकी पारिणामिकी।
वैनेयिकी परिणाम जन्या, चार बुद्धि मति संग्रही ।।
शतत्रयोपरि चत्वारिंशत्, भेद सारे हैं कहें।
पूर्वोक्त चारों भेद नन्दी-सूत्र में मति में गिने ।। १४ ।।

卐 मूलसूत्रम्

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।। २० ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

श्रुतज्ञान है मतिपूर्वक, दो भेद से ये जानना।
अंगबाह्य अंगप्रविष्ट, दो भेद से ये मानना ।।
अंगबाह्य के अनेक भेद, अंगप्रविष्ट के द्वादश हैं।
आचारादि अंगप्रविष्ट, बाह्यउत्तराध्ययनादि हैं ।। १५ ।।

卐 मूलसूत्रम्

द्विविधोऽवधिः ।। २१ ।।
भवप्रत्ययो नारकदेवानां ।। २२ ।।
यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।। १-२३ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

दो भेद अवधिज्ञान के, भवप्रत्यय गुणप्रत्यय।
जो देव-नारक जीव को हो, होता है भवप्रत्यय ।।
क्षयोपशम से नर-तिर्यग् को, होता है गुणप्रत्यय।
गुणप्रत्ययावधिज्ञान के, षट्भेद होते निश्चय ।। १६ ।।

卐 मूलसूत्रम्

ऋजु - विपुलमति मनःपर्यायः ।। २४ ।।
विशुद्धयप्रतिपाताभ्याम् तद्विशेषः ।। २५ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

तुरिय मनःपर्याय के, दो भेद ऋजुमति-विपुलमति ।
विपुलमति में विशुद्धता, विकसित कभी घटती नहीं ।।
पर ऋजुमति में कम विशुद्धि, अलोप को भी मान के ।
इन दो गुणों से युक्त दो हैं, भेद चतुर्थ सुज्ञान के ।। १७ ।।

卐 मूलसूत्रम्

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ।। २६ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

विशेषता है चार चौथे, और तीसरे ज्ञान में ।
शुद्धतर है अवधिज्ञान से, मनः अल्प शुद्धि अवधि में ।।
क्षेत्र नाना से लगाकर, जाने ये पूर्णलोक को ।
ज्ञान तीसरा और चौथा, अढ़ीद्वीपवर्त्ती चित्त को ।। १८ ।।
चारों गति के जीव को, शुभभाव से अवधि मिले ।
ज्ञान चौथा मनःपर्यव, मात्र संयमी मुनि को मिले ।।
सपर्याय सर्वरूपी द्रव्य को, जाने अवधिज्ञान से ।
ग्रहे तदनन्तमा भाग को, मनःपर्यवज्ञान से ।। १९ ।।

卐 मूलसूत्रम्

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।। २७ ।।
रूपिष्ववधेः ।। २८ ।।
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।। २९ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

जाने मति-श्रुत सर्वद्रव्य, तद् परिमित पर्याय भी ।
तथा अवधि रूपी पदार्थ को, सीमित पर्याय द्वारा ही ।।
रूपी में गति अवधि की, पर्याय की भी अल्पता ।
उसके अनन्त भाग में है, मनःपर्यव ग्राह्यता ।। २० ।।

卐 मूलसूत्रम्

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।। ३० ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

द्रव्य और पर्याय सारे, जानते हैं त्रिकाल के ।
रुकता नहीं है जो किसी से, मिटता नहीं जो आय के ।।
ज्ञान पंचम वो कहा है, सर्वज्ञदेव जिनेश्वरे ।
प्राप्त कर उस ज्ञान को, कर्माष्ट क्षय कर शिववरे ।। २१ ।।

卐 मूलसूत्रम्

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।। ३१ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मति श्रुत और अवधि मनः,-पर्याय चौथा ज्ञान भी ।
प्राप्त कर सकता है प्राणी, एक ही समये सभी ।।
ये ज्ञान पाँचों एक ही क्षण, जीव पा सकता नहीं ।
पर तत्त्ववेदी तत्त्व की, अनुभूति पाता है सही ।। २२ ।।

卐 मूलसूत्रम्

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।। ३२ ।।
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।। ३३ ।।

❀ हिन्दीपद्यानुवाद

मति-श्रुत-अवधिज्ञान ये, अज्ञानरूप भी होते हैं ।
कहते मति-श्रुत अज्ञान, अवधि विभंग ज्ञान से ।।
सत् असत् का भेद जिसको, है नहीं अविनय करे ।
उन्मत्त के सम जो क्रिया कर, मूढ़ता को संवरे ।। २३ ।।

卐 मूलसूत्रम्

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दानयाः ।। ३४ ।।
आद्यशब्दौ द्वि-त्रि-भेदौ ।। ३५ ।।

❀ **हिन्दीपद्यानुवाद**

अन्यदृष्टि की अपेक्षा का, विरोधी जो है नहीं ।
ज्ञान नय है प्रति अपेक्षी, भेद सब है पाँच ही ।।
नैगम तथा संग्रह तदन्तर, व्यवहार ऋजुसूत्र है ।
शब्द तीनों भेद युत, दो भेद युत नैगम भी है ।। २४ ।।

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथमाध्याय का
हिन्दीपद्यानुवाद समाप्त ।।





卐 ॐ ह्रीँ अर्हं नमः 卐

पूर्वधरश्रीमदुमास्वातिवाचकविरचित-तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणां

स्वोपज्ञभाष्यगत सम्बन्धकारिका

टीकाकर्त्ता : जैनधर्मदिवाकर, शास्त्रविशारद, कविभूषण
आचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरि महाराज

○○○

अर्हंदङ्घ्रियुगं नत्वा, सुशीलसूरिणा मया ।
सम्बन्धकारिकायाः वै, लघ्वीटीका हि क्रियते ।।

मनुष्य-जन्म की सार्थकता

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं, तेन सुलब्धं भवति जन्म ।। १ ।।

टीका : यः पुरुषः सम्यग्दर्शनशुद्धं सम्यग्दर्शनद्वाराशुद्धं ज्ञानं विरतिं च आप्नोति प्राप्नोति तस्य पुरुषस्य दुःखस्य निमित्तभूतमिदं जन्मापि लाभप्रदायकं सिद्धयति ।। १ ।।

अर्थ : इस संसार में जन्म लेना यह दुःख का ही कारण है, फिर भी सम्यग्दर्शन से शुद्ध ज्ञान और शुद्ध संयम-चारित्र प्राप्त करने वाले जीव-आत्मा का मनुष्य-जन्म सफल है ।। १ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : ● सम्यग्दर्शन से विशुद्ध कर ज्ञान अरु चारित्र को,
अर्जित करता जो नरभव में, अनुपम तीन रतन को।
प्राप्य जो अति दुःख से है फिर दुःख का कारण यही,
नरभव सफल है उसी जन का, हो भाव निर्मल मन सही ।।

कर्म-विमुक्त होने की सद्प्रेरणा

जन्मनि कर्मक्लेशै-रनुबद्धेऽस्मिस्तथा प्रयतितव्यम् ।
कर्मक्लेशाभावो, यथा भवत्येष परमार्थः ।। २ ।।

टीका : कर्मणां कषायाणां अनुबन्धवति अस्मिन् जन्मनि यया रीत्या कर्मक्लेशानामभावो भवेत् तथा प्रयत्नं कुर्यादित्येव परमार्थः ।। २ ।।

अर्थ : कर्मक्लेशों से अनुबद्ध इस जन्म में ऐसे प्रयत्न करने चाहिए जिनसे कर्म और कषायों का सर्वथा विनाश हो, अभाव हो। यही परमार्थ है ॥ २ ॥

हिन्दी पद्यानुवाद : • कर्मक्लेशों से अनुबद्ध, दुःखदायी इस जन्म में,
प्रयत्न ऐसा कीजिए, हो नाश क्लेशों का जिसमें।
कर्मक्लेशों का ही ये सर्वथा नाश परमार्थ है,
परमार्थ साधन के लिए, इस विश्व में पुरुषार्थ है ॥

पुण्यानुबन्धी पुण्य का अनुबन्ध

परमार्थालाभे वा, दोषेष्वारम्भक-स्वभावेषु ।
कुशलानुबन्धमेव, स्यादनवद्यं यथा कर्म ॥ ३ ॥

टीका : आरम्भकारकस्वभाववत् कषायरूपाणां दोषाणां कृते यदि परमार्थ-मोक्षस्य प्राप्तिर्न भवेत् तर्हि यया रीत्या मोक्षस्यानुकूलपुण्यानुबन्धं भवेत् तया रीत्या निरवद्य (निष्पापः) कार्यं कुर्यात् ॥ ३ ॥

अर्थ : आरम्भ में प्रवर्त्ताने के स्वभाव वाले ऐसे कषायादि दोषों की विद्यमानता के कारण परमार्थ न हो सके (अर्थात् कर्म और कषायों का सर्वथा विनाश-अभाव न हो सके) तो भी कुशल कर्म का-पुण्यानुबन्धी पुण्य का अनुबन्ध हो सके, इस भाँति निरवद्य अर्थात् पापरहित कार्य प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए ॥ ३ ॥

हिन्दी पद्यानुवाद : • सिंह गज सम रागद्वेष अति गाढ़ दोष हैं विश्व में,
करते निरन्तर विघ्न ये परमार्थ के शुभ पन्थ में।
संसार की ही वृद्धि करनी यह दोष इनके स्वभाव का,
चलते हुए निरवद्य पथ में, कुशलानुबन्धी भाव का ॥

छह प्रकार के मनुष्य

कर्माहितमिह चामुत्र चाधमतमो नरः समारभते ।
इह फलमेव त्वधमो, विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥ ४ ॥
परलोकहितायैव, प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।
मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥
यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तम-मवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।
नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥
तस्मादर्हति पूजा-मर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके ।
देवर्षि - नरेन्द्रेभ्यः, पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥

टीका : अधमतमो मनुष्यः अस्मिन् लोके परलोके च दुःखदं कर्मारभते, अधमः नीचः पुरुषः अत्र लोके फलदायककर्मणां केवलमारम्भं कुरुते, विमध्यमः पुरुषस्तु उभयलोके फलप्रदं कर्म समारभते ।। ४ ।। मध्यमः पुरुषः परलोकस्य हिताय निरन्तरं क्रियायां प्रवर्तते, अथ विशिष्टमतिमाँश्चोत्तमपुरुषः सर्वदा मोक्षायैव प्रयतते ।। ५ ।। यः पुरुषः उत्तमधर्मं केवलज्ञानस्वरूपं लब्ध्वा स्वयं कृतार्थो भूत्वाऽन्येभ्योऽपि निरन्तरं धर्मोपदेशं ददाति, स उत्तमेष्वपि उत्तमोऽस्ति, तथा सर्वेषां पूजायोग्यः (पूज्यतमः) सन् ज्ञायते अर्थात् स सर्वत्र पूज्यो भवति ।। ६ ।। तस्मादेतादृश उत्तमोत्तम आर्हत एव लोकेषु अन्य जीवानां पूज्यः देवर्षेः राज्ञोऽपि अधिकः पूजनीयोऽस्ति ।। ७ ।।

अर्थ : मनुष्य तीन प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इनमें से उत्तम और अधम के भी तीन-तीन भेद हैं—अधमाधम, अधमों में मध्यम तथा अधमों में उत्तम। **अधमाधम**—जो इस भव में तथा परभव में अर्थात् दोनों ही भवों में अहितकर यानी दुःखदायी कार्य का आरम्भ करने वाला हो उसे अधमाधम कहा जाता है। **अधमों में मध्यम**—जो केवल इसी भव में सुखरूप फल देने वाले कार्यों को करने वाला हो, वह अधमों में मध्यम कहा जाता है। **अधमों में उत्तम**—जो इस भव में भी तथा परभव में भी सुखरूप समृद्धि देने वाले कार्यों का करने वाला हो, उसे अधमों में उत्तम कहा जाता है। उत्तम आत्मा के तीन भेद इस प्रकार हैं। **उत्तम**—जो केवल मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करने वाला विशिष्ट बुद्धिमान् हो, वह उत्तम कहा जाता है। **उत्तमों में मध्यम**—जो मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके कृतकृत्य हो गये हैं, ऐसे वे सिद्ध भगवान एवं मूककेवली उत्तमों में मध्यम कहे जाते हैं। **उत्तमोत्तम**—जो प्रशस्त धर्म को प्राप्त करके स्वयं कृतकृत्य होते हुए भी दूसरों को उस प्रशस्त धर्म का उपदेश देते हैं, वे उत्तमों में भी उत्तम होने से सर्वोत्कृष्ट पूज्य हैं। उन्हें ही उत्तमोत्तम कहा जाता है ।। ४-६ ।। यह सर्वोत्कृष्ट पूज्यता का गुण मात्र श्री अरिहन्त परमात्मा में ही घटता है। इसलिए उत्तमोत्तम अरिहन्त भगवान ही लोक में अन्य प्राणियों को पूज्य देवेन्द्रों और नरेन्द्रों से भी पूजनीय हैं ।। ७ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद :

- उभय भव को जो बिगाड़े, अधम से भी अधम है,
  इस भव सुखद यों अधम माने मगन पुद्गल में रहे।
  दोनों भवों के बाह्य सुख को, चाहे विमध्यम आतमा,
  इस जन्म के सुख के लिए, करता करणी शुभतमा ।।
- परलोक के सुख हेतु जो सह कष्ट करणी आचरे,
  धर्मश्रद्धा पर चले, वह जीव मध्यम सुख वरे।
  भवमुक्त हो भवभीति से फिर, मात्र मुक्ति चाहते,
  वे यत्न करते मोक्षहित, अरु श्रेष्ठ संयम धारते ।।
- कृतकृत्य उत्तम धर्म पाकर, अन्य को बोधित करें,
  वे उत्तमों में भी हैं उत्तम, जिनवरों का पद धरें।
  अरिहन्त तीर्थङ्कर स्वयं जो, प्राणियों का दुःख हरें,
  इस हेतु ही तो है सुपूजित, सुरनरेन्द्र सेवा करें ।।

प्रभुपूजा का फल

अभ्यर्चनादर्हतां मनःप्रसादस्ततः समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयस-मतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ।। ८ ।।

टीका : अर्हतः पूजया मनसः प्रसन्नता भवति, ततो मनःप्रसादात् समाधिर्जायते, समाधिना च मोक्षस्य प्राप्तिर्जायते । अस्माद्धेतोरर्हतः पूजा कर्तव्या, इत्युचितमस्ति ।। ८ ।।

अर्थ : अरिहन्त भगवान परमात्मा की अर्चना-पूजा करने से रागद्वेषादिक मानसिक दुर्भाव दूर होकर मन निर्मल बन जाता है, चित्त प्रसन्न होता है । मन की निर्मलता से-प्रसन्नता से समाधि यानी ध्यान की एकाग्रता सिद्ध होती है । ध्यान के स्थिर हो जाने से अर्थात् समाधि से-समता से कर्मों की निर्जरा एवं कर्मों का क्षय होकर निःश्रेयस् यानी मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है । अतः अरिहन्त भगवान की-जिनेश्वरदेव की अर्चना-पूजा करना न्याययुक्त है ।। ८ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • पूजा करते जिनप्रभु की, प्रकट चित्तप्रसन्नता ,
प्रसन्न मन साधे समाधि, वरण कर उत्कृष्टता ।
मुक्ति का तुम हेतु जानो, करे अशिव निवारणा ,
इसलिए जिनपूजा करना, यह न्याययुक्त मानना ।।

तीर्थस्थापना के हेतु

तीर्थप्रवर्तनफलं, यत् प्रोक्तं कर्मतीर्थकरनाम ।
तस्योदयात् कृतार्थो-ऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ।। ९ ।।
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथालोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थंकर एवम् ।। १० ।।

टीका : तीर्थङ्करनामकर्मणो फलं तीर्थप्रवर्तनरूपं शास्त्रे कथितमस्ति । तस्य (तीर्थङ्करनामकर्मणः) उदयात् कृतार्थोऽर्हन्नपि तीर्थं धर्मतीर्थं प्रवर्तयति ।। ९ ।। यथा सूर्यः स्वस्वभावेनैव लोके प्रकाशयति तथैव तीर्थङ्करोऽपि तीर्थं प्रवर्तनाय प्रवर्तते । यतस्तीर्थप्रवर्तनमेव तीर्थङ्करनामकर्मणोः स्वभावोऽस्ति ।। १० ।।

अर्थ : तीर्थङ्कर नामकर्म का फल (कार्य) धर्मतीर्थ का प्रवर्तन यानी मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कहा गया है । इसी कारण से, स्वयं कृतकृत्य होते हुए भी अरिहन्त भगवान नामकर्म के उदय से तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं ।। ९ ।। जैसे सूर्य अपने स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही तीर्थंकर नामकर्म के उदयाधीन अरिहन्त भगवान अपने स्वभाव से धर्मतीर्थ में प्रवृत्त होते हैं ।। १० ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • तीर्थंकर नामकर्म का फल तीर्थप्रवर्त्तन कहा,
कृतकृत्य जिन कर्मोदये, धर्मतीर्थ स्थापे सुमना।
जैसे प्रकाश विकीर्ण करना सूर्य का स्वभाव है,
वैसे तीर्थस्थापना यह तीर्थपति का सद्भाव है।।

श्री महावीर प्रभु की गुणस्तुति

यः शुभकर्मासेवन - भावितभावो भवेष्वनेकेषु ।
जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकुषु, सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपः ।। ११ ।।
ज्ञानैः पूर्वाधिगतै-रप्रतिपतितैर्मतिश्रुताऽवधिभिः ।
त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः ।। १२ ।।

टीका : अनेकभवेषु शुभकर्मणां सेवनेन वासितोऽस्ति भावो यस्य, तथा सिद्धार्थ-नृपस्य कुले दीपकसमानः सः भगवान् ज्ञातेक्ष्वाकुवंशे समुद्पद्यत अजायत ।। ११ ।। शुद्धैः पूर्वप्राप्ताप्रतिपाति-मति-श्रुताऽवधिज्ञानैः युक्तस्तीर्थङ्करः शीतलतया कान्ति-द्युतिभ्याञ्च चन्द्र इव शोभते ।। १२ ।।

अर्थ : पूर्वकाल में अनेक भवों में शुभकर्मों के सेवन से जिनके परिणाम शुभ संस्कारों से युक्त हो गये थे, ऐसे भगवान महावीर अन्तिम भव में ज्ञातृ इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए और सिद्धार्थ राजा के कुलदीपक बने ।। ११ ।। जैसे चन्द्रमा सदा शीतलता, द्युति और कान्ति से युक्त है वैसे ही ये भगवान महावीर पूर्व के देवभव से ही चले आये अप्रतिपाती मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानों से युक्त थे ।। १२ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • अनेक भवों में जिसने, शुभ कर्मों का सेवन किया,
सुदृढ़ कर शुभ भावना को, वीशस्थानक तप भी किया।
नन्दन ऋषि के भव में, जिन-नामकर्म निकाचित किये,
देवभव कर यहाँ जन्मे, सिद्धार्थ - कुलदीपक भये।।
• ज्ञात-इक्ष्वाकुविभूषण, वंश के सूर्य सम जब ये हुए,
अप्रतिपाती पूर्वाधिगत मतिश्रुतावधि सह युक्त ये।
शैत्य-द्युति-कान्ति गुण युत, चन्द्र समान थे शोभते,
स्वज्ञान की चांदनी से, दिग् दिग् विभा भूषित हुए।।

शुभसारसत्त्वसंहनन - वीर्यमाहात्म्यरूप-गुणयुक्तः ।
जगति महावीर इति, त्रिदशैर्गुणतः कृताभिख्यः ।। १३ ।।

टीका : शुभश्रेष्ठसत्त्वेन संघयेण वीर्येण माहात्म्यरूपगुणयुक्तेन देवतादिभिश्च गुणद्वारा जगति **महावीर** इति नाम स्थापितं यस्य तादृशः ।। १३ ।।

अर्थ : वे भगवान शुभसार (शरीर की स्थिरता की कारणभूत शक्ति) उत्तम सत्त्व, श्रेष्ठ संघयण, लोकोत्तर वीर्य, अनुपम माहात्म्य, अद्भुत रूप और दाक्षिण्य इत्यादि विशिष्ट गुणों से समलंकृत थे। अतएव शक्रेन्द्रादि देवों ने इन गुणों को देखकर लोक में उनका नाम **महावीर** प्रसिद्ध किया था ।। १३ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • बल-वीर्य-प्रभुता-रूप-गुण, माहात्म्य और सात्त्विकता,
शुभ सार सारे दृढ़ वपु में अतिवीर्यशाली दन्यता।
इन गुणों को देख कर इन्द्र नाम महावीर दिया,
गुणनिष्पन्न नाम ये ही, प्रसिद्ध विश्व में हुआ ।।

श्री महावीर प्रभु की दीक्षा और तपश्चर्या

स्वयमेव बुद्धतत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।
अभिनन्दितशुभसत्त्वः सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ।। १४ ।।

टीका : स्वयमेव तत्त्वस्य ज्ञाता प्राणीनां हिताय तत्परः प्रथमसत्त्ववान् तथा इन्द्रसहितैर्लोकान्तिकदेवैरभिनन्दिताः (प्रशंसिताः) सन्ति शुभसत्त्वगुणा यस्य तादृशः प्रभुरस्ति ।। १४ ।।

अर्थ : श्री तीर्थंकर भगवान स्वयंबुद्ध होते हैं, उनका निश्चल सत्त्व-पराक्रम अन्य जीवों का हित-कल्याण करने के लिए सर्वदा उद्यत रहा करता है। अतः उनके शुभसत्त्व—पराक्रम की अर्थात् शुभभावों की देवेन्द्रों व लोकान्तिक देवों ने भी प्रशंसा की थी ।। १४ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • तजा संसार के सुख को, प्रभु ने तीस की वय में,
ग्रही वैराग्यवृत्ति तब लोकान्तिक देव आ प्रणमे।
जीव मात्र के हित अय प्रभो ! स्थापिये धर्मतीर्थ को,
देकर वार्षिकदान फिर, स्वयं साधना परमार्थ को ।।

जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।
स्फीतमपहाय राज्यं शमाय धीमान् प्रवव्राज ।। १५ ।।

टीका : जन्मजरामरणैः पीडितं विश्वमशरणमसारं दृष्ट्वा, विशालं राज्यं परित्यज्य, समतायै (कर्मणो विनाशाय) बुद्धिमान्, एतादृशो महावीरो देवः दीक्षां जग्राह ।। १५ ।।

अर्थ : नाना गुणों से युक्त प्रभु महावीर ने इस संसार को जन्म-जरा और मृत्यु की पीड़ाओं से व्याप्त तथा अशरण और असार जानकर, अपनी आत्मा में परम शान्ति और मोक्ष का शाश्वत सुख पाने के लिए राज्यवैभव को त्याग कर उत्तम संयम-चारित्र को ग्रहण किया अर्थात् दीक्षा स्वीकार कर भगवान महावीर प्रव्रजित हुए ।। १५ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • जन्म-जरा और मृत्यु की पीड़ा से व्याप्त विश्व को,
अशरण और असार जान, तज दिया राज्य-वैभव को।
निज आत्म में परम शान्ति और मोक्ष शाश्वत सुख को,
पाने के लिए प्रभु वीर ने स्वीकारा सुसंयम को।।

श्री महावीरप्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति तथा धर्मतीर्थ की स्थापना

प्रतिपद्याशुभशमनं, निःश्रेयस-साधकं श्रमणलिङ्गम्।
कृतसामायिककर्मा, व्रतानि विधिवत् समारोप्य ।। १६ ।।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्र - संवरतपः समाधिबलयुक्तः।
मोहादीनि निहत्या - शुभानि चत्वारि कर्माणि ।। १७ ।।
केवलमधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम्।
लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ।। १८ ।।

टीका : अशुभस्य (पापस्य) शमनकर्ता मोक्षस्य साधकः साधुवेषधारीसन् सामायिकं कार्यं कृतवान् यः स वीरः परमात्मा विधिपूर्वकं व्रतग्रहणं कृत्वा ।। १६ ।। सम्यक्त्वेन, ज्ञानेन, चारित्रेण, संवरेण, तपसा, समाधिना, बलेन च युक्तः मोहनीयादीनि चत्वारि अशुभानि घातिकर्माणि सर्वथा विनाशं कृत्वा (यः) ।। १७ ।। स्वयमेवानन्त-केवलज्ञानं केवलदर्शनञ्च लब्ध्वा प्रभुः महावीरदेवः कृतार्थोऽपि लोकहिताय इदं तीर्थं (प्रवचनं) प्रकाशयति ।। १८ ।।

अर्थ : अशुभ कर्मों का उपशमन करने वाले अर्थात् विनाश करने वाले तथा मोक्ष के साधक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले ऐसे श्रमणलिङ्ग को--साधुवेष को धारण करके, ग्रहण किये हुए सर्वविरति सामायिक वाले प्रभु महावीर ने व्रतों को भी विधिपूर्वक करके—।। १६ ।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, संवर, तप और समाधि के बल से युक्त प्रबल होकर अपने अष्टकर्म पैकी मोहनीयादि चार अशुभ घाती कर्मों का क्षय करने पर—।। १७ ।। क्षायिकभावे अनन्त ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन गुण को प्राप्त करके, सर्वज्ञ बनने से कृतकृत्य अर्थात् कृतार्थ होते हुए भी केवल लोकहित के लिए इस (वर्तमान में जो प्रवर्तता है वह) धर्मतीर्थ का (मोक्षमार्ग का) उपदेश दिया अर्थात् धर्मतीर्थ को प्रकाशित किया ।। १८ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • किया पंचमुष्टि लोच फिर, इन्द्र से लिया सुवेश को,
धर्मकारण भवनिवारण, कर्म मारण ये जग जयो।
सामायिक सर्वविरति को, उच्चरे विधिपूर्वक महा,
वर्ष द्वादश कर तपस्या, परीषह सहे समता सदा।।
• सम्यग्दर्शन - ज्ञान-संयम, संवर-तप - समाधि के,
बल से युक्त प्रबल होकर, अद्भुत योजना करके।

निज मोहनीयादिक चार, अशुभ घाती कर्मों का ,
क्षय करके क्षायिकभावे, ज्ञानदर्शन प्राप्त किया ।।
• कृतकृत्य होते हुए भी, केवल लोकहित के लिए ,
की स्थापना धर्मतीर्थ की, चतुर्विध संघ के रूप में ।
नयभंग से और गम से, अतिगम्भीर धर्मदेशना ,
अर्थ से सुना कर सच्ची, राह दिखाई मोक्ष की ।।

आगम की महत्ता

द्विविधमनेक-द्वादशविधं, महाविषय - ममितगमयुक्तम् ।
संसारार्णवपार - गमनाय, दुःखक्षयायालम् ।। १६ ।।
ग्रन्थार्थवचनपटुभिः प्रयत्नवद्भिरपि वादिभिर्निपुणैः ।
अनभिभवनीयमन्यै - र्भास्कर इव सर्वतेजोभिः ।। २० ।।

टीका : अङ्गबाह्यं तथाऽङ्गप्रविष्टमित्थं द्विविधं, (अङ्गबाह्यम्) अनेकप्रकारं, (अंगप्रविष्टम्) द्वादशप्रकारं, महान्विषयवन्तं, अनेकालापकयुक्तं, संसारसमुद्रस्य पारं कर्तुं समर्थं, दुःखध्वंसने च सशक्तमित्थं तीर्थं प्रभुः प्राकटयत् ।। १६ ।। यथा अन्य-सर्वतेजोभिः सूर्यो नैव पराभूयते तथा एवं ग्रन्थानामर्थनिरूपणकार्ये प्रवीणेन स प्रयत्नेन निपुणेनापि वादिना यथा न खण्डयेत इत्थमिदं तीर्थं (प्रभुः) प्रावर्तयत् ।। २० ।।

अर्थ : तीर्थङ्कर परमात्मा जिनेश्वर भगवान ने जो धर्मोपदेश दिया वह अनन्तगमों से युक्त तथा महान् विषयों से परिपूर्ण है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इसके दो मूलभेद हैं। अंगबाह्य के अनेक भेद हैं तथा अंगप्रविष्ट के द्वादश भेद हैं। प्रभु द्वारा उपदिष्ट यह तीर्थश्रुत भवसिन्धु से यानी संसार-सागर से पार ले जाने में तथा दुःखों का क्षय करने में समर्थ है ।। १६ ।। ग्रन्थ की रचना और अर्थ का निरूपण करने में निपुणवादी चाहे कितना ही प्रयत्न करें तो भी इस तीर्थश्रुत को जीत नहीं सकते। क्या सूर्य को किसी भी प्रकार का तेज—प्रकाश अभिभूत कर सकता है ? अर्थात् जगत् में जैसे मणिरत्नों इत्यादि समस्त पदार्थों के तेज प्रकाश एकत्र हो जायें तो भी उनसे सूर्य पराभव नहीं पाता है, वैसे ही ग्रन्थों का अर्थ कहने में निपुण और न्यायकुशलवादी तीर्थश्रुत के पराभव का प्रयत्न करें तो भी उनसे तीर्थश्रुत का पराभव नहीं होता ।। २० ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • इसके दो मूलभेद हैं, अंगप्रविष्ट अंगबाह्य ,
अंगबाह्य के अनेक भेद, द्वादश अंग प्रविष्ट के ।
प्रभु द्वारा उपदिष्ट ये, तीर्थश्रुत भवजल नौ समा ,
तथा दुःखक्षय करने में, समर्थ है विश्व में महा ।।
• ग्रन्थरचना अर्थनिरूपण में चाहे जो निपुणवादी होते ,
कितना ही यत्न करे तो भी, इस श्रुत को न जीत सके ।
शास्त्रार्थ करने को सदातुर, ये प्रतिक्षण सर्वदा ,
वादी सभी थकते यहाँ, जिनश्रुत रहे विजयी सदा ।।

- क्या सूर्य के आगे कभी है, अन्य तेज प्रकाशता,
  यत्न कितना ही करें पर, है मिली क्या सफलता ?
  जिनराज की तो देशना थी, भानु भा सी प्रखरता,
  नक्षत्र क्या टिकते कभी, हो जब रवि की उदयता ।।

भगवान को नमस्कारपूर्वक सप्रयोजन ग्रन्थकरण प्रतिज्ञा

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं, तस्मै परमर्षये नमस्कारम् ।
पूज्यतमाय भगवते, वीराय विलीनमोहाय ।। २१ ।।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम् ।
वक्ष्यामि शिष्यहित-मिममर्हद्वचनैकदेशस्य ।। २२ ।।

टीका : परमर्षये परमपूज्याय मोहरहिताय भगवते वीराय त्रिकरणशुद्धिपूर्वकं नमस्कृत्य, अल्पशब्दसंसूचितार्थ-बाहुल्यमिदं **तत्त्वार्थाधिगम** नामानं लघुग्रन्थं शिष्याणां हिताय अहं (उमास्वातिवाचकः) वर्णयिष्यामि (रचयिष्यामि)। यश्चायं-अर्हद्वचनैक-देशोऽस्ति ।। २१-२२ ।।

अर्थ : मोहनीय कर्म का सर्वथा विनाश करने वाले, सर्वोत्कृष्ट, पूज्य उन परमर्षि प्रभु महावीर को मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करके मैं (उमास्वातिवाचक) शिष्यों के हित के लिए श्री अरिहन्त भगवान के वचनों के एकदेशसंग्रह रूप तथा विशेषार्थ सहित इस **तत्त्वार्थाधिगम** नामक लघुग्रन्थ को संक्षेप में कहूंगा ।। २१-२२ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद :
- निर्मोह निर्मम जिन महावीर पूज्य सारे विश्व के,
  त्रिकरणशुद्धि वन्दना कर, प्रभु के ही पादपद्म में।
  बह्वर्थ का सागर तथापि, लघुग्रन्थ की गागर भरी,
  सूत्र तत्त्वार्थाधिगम, अभिधान रचना है करी।।
- शिष्य का ही हित प्रमुख, इस योजना का लक्ष्य है,
  जिनवचन का अल्पांश लेकर, रचा यह भी सत्य है।
  क्या पार न पमाय ऐसा, है रत्ननिधि रत्नाकर,
  और कहाँ यह मंजूषा, तदुद्भव रत्नों को गिनूँ ।।

सम्पूर्णपने जिनवचन का संग्रह करना अशक्य है

महतोऽतिमहाविषयस्य, दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं, जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ।। २३ ।।
शिरसा गिरिं बिभित्से, दुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम् ।
प्रतितीर्षेच्च समुद्रं, मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण ।। २४ ।।
व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ।। २५ ।।

खद्योतकप्रभाभिः सो, ऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात् ।
योऽतिमहाग्रन्थार्थं, जिनवचनं संजिघृक्षेत ।। २६ ।।

टीका : महतोऽतिस्थूलस्य दुरधिगमस्य (काठिन्येन ज्ञातुं शक्यस्य) ग्रन्थस्येतद् भाष्यस्य च जिनवचनरूपिणो महासागरस्य संग्रहं विदधातुं कः समर्थो भविष्यति ? ।। २३ ।। यः कश्चन पुरुषोऽतिविशालग्रन्थेनार्थेण च जिनवचनानां पूर्णरीत्या संग्रहं कर्तुमिच्छति स मूढो जनः शिरसा मस्तकेन पर्वतानां भङ्क्तुं वाञ्छति, द्वाभ्यां भुजाभ्यां पृथिवीमुत्क्षेप्तुमिच्छति, भुजाभ्यां तीर्त्वा समुद्रस्य पारं गन्तुमिच्छति, कुशाग्रेण (तृणखण्डेन) समुद्रजलानि मातुमिच्छति, आकाशे उत्पत्य चन्द्रमुल्लंघितुमिच्छति, मेरुपर्वतं हस्ताभ्यां कम्पयितुमिच्छति, गत्या (गमनेन) वायोरपि अग्रे गन्तुमिच्छति, अन्तिमं (स्वयम्भूरमणनामकं) समुद्रं पातुमिच्छति, तथा खद्योतप्रभया भानुं पराभवितुमिच्छति । अयमाशयः यथोपरि दर्शितानि कार्याणि दुष्कृतानि (अतिकठिनानि) सन्ति, तथैव सम्पूर्णरीत्या सर्वज्ञविभुवचनप्रमुखानां संकलनं तात्पर्यज्ञानं वा अतिदुष्करं न कोऽपि विदधातुं समर्थः ।। २४-२५-२६ ।।

अर्थ : जिस ग्रन्थ का और उसके अर्थ का पार अत्यन्त कठिनाई से ही पा सकते हैं, जिसमें अतिशय अनेक विषय हैं, ऐसे उस महान् जिनवचनरूप महासमुद्र का संग्रह करने में कौन समर्थ है ? अर्थात् जिनवचनरूप सिन्धु महान् है, अत्यन्त उत्कृष्ट और महागम्भीर विषयों से युक्त दुर्गम होने के कारण अपार भी है । क्या कोई अत्यन्त कुशल-निपुण व्यक्ति भी उस श्रुतसिन्धु का पार पा सकता है ? अर्थात् कोई पार नहीं पा सकता है ।। २३ ।। जो पुरुष इस महान् गम्भीर श्रुतसमुद्र का संग्रह करने की अभिलाषा रखता है तो कहना चाहिए कि (१) क्या वह मोह के कारण अपने सिर से पर्वत को विदीर्ण करने की—भेदने की इच्छा रखता है ? (२) क्या वह दोनों भुजाओं से पृथ्वी को उठाकर फेंकना चाहता है ? (३) क्या दोनों बाहुओं के बल से समुद्र को तैरना चाहता है ? (४) क्या केवल कुश-डाभ-घास के अग्रभाग (नोक) से ही समुद्र को नापना चाहता है ? (५) क्या आकाश में स्थित चन्द्रमा को लांघना चाहता है ? (६) क्या एक हाथ से मेरुपर्वत को हिलाना चाहता है ? (७) क्या गति से पवन-वायु को जीतना चाहता है ? (८) क्या अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र को पीना चाहता है ? (९) तथा क्या मोहवश खद्योत के तेज से सूर्य के तेज को अभिभूत-पराभव करना चाहता है ? मोहाधीन विकृतबुद्धि पुरुष की इन असम्भव कार्यों की अभिलाषा के समान ही इस महान् ग्रन्थ (अर्थात् अर्थरूप जिनवचन) का संग्रह करने की इच्छा वाले को भी मोहाधीन समझना चाहिए ।। २४-२६ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • विविध विषयों से भरा है सुज्ञान अति दुर्गम जहाँ,
मूल तो क्या भाष्य को भी समझना मुश्किल महा ।
जिनवचन जलनिधि अंजलि से, रिक्त हो सकता कभी ?
तथा सिर से क्या गिरि को विदीर्ण कर सकते हैं कभी ?

- दो भुजाओं के जोर से क्या फेंक सकते हैं धरा ?
उत्तुंग वीचिपूर्ण सिन्धु, दो बाहु से किसने तरा ?
क्या कहीं मापा किसी ने, कुशाग्र से सिन्धु कभी ?
कूद कर आकाश में क्या, इन्दु ले सकते कभी ?॥
- क्या मेरुपर्वत को कभी, इक हाथ से चंचल किया ?
क्या वायुगति जीती किसी ने ? क्या स्वयम्भू को पिया ?
क्या खद्योत के तेज से ही सूर्य का पराभव किया ?
हैं यदि ये सब असम्भव, ग्रन्थार्थ भी मुश्किल महा ॥

श्री जिनवचन के एक पद की भी विशेषता

एकमपि तु जिनवचनाद् यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति ।
श्रूयन्ते चाऽनन्ताः, सामायिकमात्रपद-सिद्धाः ॥ २७ ॥
तस्मात् तत् प्रामाण्यात्, समासतो व्यासतश्च जिनवचनम् ।
श्रेय इति निर्विचारं, ग्राह्यं धार्यं च वाच्यं च ॥ २८ ॥

टीका : यस्मात् जिनवचनानामेकपदमपि उत्तरोत्तरज्ञानप्राप्तिद्वारा संसारस्य पारप्राप्तिकर्मणि समर्थमपि यतः सामायिकपदमात्रसेवनेनापि [अर्थात् सामायिकक्रियया अपि] अनन्ताः जीवाः सिद्धाः सञ्जाताः, इत्थं शास्त्रे श्रुतमस्ति ॥ २७ ॥ तस्मात् कारणात् तेषां जिनवचनानां संक्षेपेण विस्तृतेन च ग्रहणं (ज्ञानम्) कल्याणकारकमस्ति, इत्थं विज्ञाय तानि जिनवचनानि निःसन्देहमेव ग्राह्याणि (पठितव्यानि) अन्यानपि पठितुं प्रोत्साहयेत् ॥ २८ ॥

अर्थ : जिनवचन का एक पद भी भव्य जीवों को उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानप्राप्ति द्वारा संसार-सागर से पार करने में समर्थ होता है। केवल सामायिक पद के ज्ञान, उच्चारण मात्र से ही अनन्त काल में, अनन्त भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं, ऐसा आगम में सुनने में आता है ॥ २७ ॥ उपर्युक्त प्रमाण से आगम पर पूर्ण विश्वास रख करके संक्षेप से या विस्तार से ग्रहण किया हुआ जिनवचन ही कल्याणकारी है, ऐसी श्रद्धापूर्वक ही जिनवचन ग्रहण करना, धारण करना (चिन्तनादि करना) और उपदेशादि द्वारा निरूपण करना चाहिए ॥ २८ ॥

हिन्दी पद्यानुवाद :
- जिनवचनसुधाबिन्दु को जो भाव से चखता यहाँ,
नष्ट कर विष निज भवार्जित, भवसिन्धु को तरता यहाँ।
शास्त्र से सुनते हैं कि सीझे अनन्ता भव्य जीव,
पदमात्र सामायिक सुनी, पाया परमार्थ अतीव ॥
- यह सत्य तथ्य प्रमाण मानो तथा निःसंशय सुनो,
कल्याणहेतु जिनवचन को, ग्राह्य धार्य विस्तृत करो।
संक्षेप या विस्तार से जिस भाँति रुचि हृदि गम्य हो,
पीयूष सम जिनवचन मीठे, पान-सुख संकल्प हो ॥

धर्मोपदेशकों को एकान्त लाभ

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्धया, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥

श्रममविचिन्त्यात्मगतं, तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम् ।
आत्मानं च परं च हि, हितोपदेष्टाऽनुगृह्णाति ।। ३० ।।

टीका : हितवचनानां श्रवणैः सर्वेषामेव श्रोतृणां एकान्ततः धर्मो भवत्येवेति न निश्चयः किन्तु अनुग्रह (कृपा) बुद्धचा उपदेशकर्तृणां तु निश्चितमेव धर्मो भवति ।। २६ ।। तस्मात् कारणात् स्वपरिश्रमस्य विचारं नैव कृत्वा सर्वदा कल्याणकारकोपदेशः कर्त्तव्यः, यतो हितोपदेष्टा (मोक्षमार्गोपदेष्टा) लोकेभ्योऽनुग्रहं करोति ।। ३० ।।

अर्थ : इस हितरूप श्रुत के श्रवण से सभी सुनने वालों को एकान्ततः धर्म की प्राप्ति हो ही जाती हो, ऐसा नियम नहीं किन्तु अनुग्रहबुद्धि से जो उसका कथन करता है, उसको तो नियम से धर्म का लाभ होता ही है ।। २६ ।। अतः अपने श्रम का विचार किये बिना मोक्षमार्गरूप श्रुत का उपदेश करना, यह कल्याणकारक है। हितकारी उपदेश देने वाला वक्ता स्व और पर का अनुग्रह करने वाला होता है ।। ३० ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • हितरूप श्रुतश्रवण से, सभी धर्म पाते सर्वदा,
एकान्त ऐसा नियम नहीं है, भाव की है विविधता।
बोले अनुग्रहबुद्धि से तो, सत्य है निश्चय यही,
एकान्त से सब धर्म होते, शास्त्र भी कहते यही ।।
• इस हेतु जनकल्याणकारी देना धर्मोपदेश ही,
यह श्रम नहीं संजीवनी है, भवभवों के भ्रमण की।
उपदेश करते जो हितों का, स्वपरहित को साधते,
भवसिन्धु नौ सम वे गुरु हैं, स्वयं तरते-तारते ।।

मोक्षमार्गोपदेश ही हितोपदेश है

नर्ते च मोक्षमार्गा-द्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात् परमिममेवेति, मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ।। ३१ ।।

टीका : अस्मिन् संसारे मोक्षमार्गं विनाऽन्यः कश्चित् हितोपदेशो नास्ति, अस्माद्धेतोः सर्वश्रेष्ठोऽयं **मोक्षमार्गः**, तमेव मोक्षमार्गमहं (उमास्वातिवाचकः) प्रवक्ष्यामि-कथयिष्यामीति भावः ।। ३१ ।।

अर्थ : इस संसार में मोक्षमार्ग के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार का उपदेश हितकारी-कल्याणकारी नहीं बन सकता है। अतएव मैं (ग्रन्थकर्त्ता-उमास्वाति) यहाँ केवल मोक्षमार्ग का ही वर्णन-व्याख्यान करूंगा ।। ३१ ।।

हिन्दी पद्यानुवाद : • अखिल जग में मोक्ष का ही, मार्ग केवल श्रेय है,
छोड़कर इसको सभी पथ, दुःख के आधेय हैं।
उत्कृष्ट जानकर इसका वर्णन करूंगा मैं यहाँ,
यह सुनकर श्रद्धा से भवि ! शिवपन्थ में चलते जहाँ ।।

।। इति सम्बन्धकारिका ।।

परिशिष्ट–१

।। नमो नमः श्रीजैनागमाय ।।

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य जैनागमप्रमाणरूपआधारस्थानानि

卐 प्रथमोऽध्यायः 卐

मूलसूत्रम्–

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।। १-१ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।

[श्रीउत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-२८, गाथा-३०]

(२) तिविहे सम्मे पण्णत्ते । तं जहा–नाण सम्मे, दंसण सम्मे, चरित्तसम्मे ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-३, उद्देश-४, सूत्र-१९४/२]

•

मूलसूत्रम्–

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। १-२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ।।

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-२८, गाथा-१५]

•

मूलसूत्रम्–

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।। १-३ ।।

❋ तस्याधारस्थानम्–

सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–णिसग्ग-सम्मदंसणे चेव अभिगम-सम्मद्दंसणे चेव।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७०/२]

•

मूलसूत्रम्–

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।। १-४ ।।

❋ तस्याधारस्थानम्–

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। तं जहा–जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।

[स्थानाङ्ग-स्थान-९, उद्देश-३, सूत्र-६६५]

•

मूलसूत्रम्–

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।। १-५ ।।

❋ तस्याधारस्थानम्–

(१) जत्थय जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थवि अ न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ।।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-७/१]

(२) आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्ते। तं जहा–नामावस्सयं, ठवणावस्सयं, दव्वावस्सयं, भावावस्सयं।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-८]

•

मूलसूत्रम्–

प्रमाण-नयैरधिगमः ।। १-६ ।।

❋ तस्याधारस्थानम्–

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ।।

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-२८, गाथा-२४]

•

मूलसूत्रम्–

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थितिविधानतः ।। १-७ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

निद्देसे पुरिसे कारण कहिं केसु कालं कइविहं ।।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-१५१]

•

मूलसूत्रम्–

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालाऽन्तर-भावाऽल्प-बहुत्वैश्च ।। १-८ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

से किं तं अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते । तं जहा—[१] संतपयपरूवणया [२] दव्वपमाणं च [३] खित्त [४] फुसणा य [५] कालो य [६] अंतरं [७] भाग [८] भाव [९] अप्पबहुं चेव ।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-८०]

•

मूलसूत्रम्–

मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम् ।। १-९ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) पंचविहे णाणे पण्णत्ते । तं जहा–आभिणिबोहियणाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलनाणे ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-५, उद्देश-३, सूत्र-४६३]

(२) नाणं पंचविहं पण्णत्ते । तं जहा–आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं ।

[★ भगवतीशतक ८, उद्देश-२, सूत्र-३१८ । ★ नंदिसूत्र-१ । ★ अनुयोगद्वार, सूत्र-१ ।]

•

मूलसूत्रम्–

तत्प्रमाणे ।। १-१० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) दुविहे नाणे पण्णत्ते । तं जहा–पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान २, उद्देश-१, सूत्र-७१]

(२) तं समासओ दुविहं पण्णत्तं । तं जहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ।

[नंदिसूत्र-२]

•

मूलसूत्रम्—

आद्ये परोक्षम् ।। १-११ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—आभिणिबोहिय णाणे चेव, सुयनाणे चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१]

(२) परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं । तं जहा—आभिणिबोहिय नाणं परोक्खं च, सुयनाणं परोक्खं च ।

[नंदिसूत्र-२२]

•

मूलसूत्रम्—

प्रत्यक्षमन्यद् ।। १-१२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) पच्चक्खे नाणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा—केवलणाणे चेव, णो केवलणाणे चेव । णो केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/२-१२]

(२) नोइंदिय पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं । तं जहा—ओहिनाणपच्चक्खं, मणपज्जवनाणपच्चक्खं, केवलनाणपच्चक्खं ।।

[नंदिसूत्र-५]

•

मूलसूत्रम्—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।। १-१३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेषणा ।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं ।।

[नंदिसूत्र-३७, गाथा-८०]

•

मूलसूत्रम्–

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ।। १-१४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा–इन्दिय-पच्चक्खं. नोइन्द्रियपच्चक्खं च ।

[नदिसूत्र-३]

(२) से किं तं पच्चक्खे–पच्चक्खे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–इंदिय पच्चक्खे अ नोइंदिय पच्चक्खे अ ।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-१४४]

•

मूलसूत्रम्–

अवग्रहेहावायधारणाः ।। १-१५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं सुअनिस्सिअं ? चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा–(१) उग्गहे (२) ईहा (३) अवाओ (४) धारणा ।

[नंदिसूत्र-२७]

(२) आभिणिबोहे चउविहे पण्णत्ते । तं जहा–(१) उग्गहो (२) ईहा (३) अवाओ (४) धारणा ।

[भग० शतक-८, उद्देश-२, सूत्र-३१७]

•

मूलसूत्रम्–

बहु-बहुविध-क्षिप्र-निश्रिताऽसंदिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ।। १-१६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता । तं जहा–(१) खिप्पमोगिण्हइ (२) बहुमोगिण्हइ (३) बहुविधमोगिण्हइ (४) धुवमोगिण्हइ (५) अणिस्सियमो गिण्हइ (६) असंदिद्धमोगिण्हइ ।

(२) छव्विहा ईहामति पण्णत्ता । तं जहा–खिप्पमोहति बहुमोहति····जाव असंदिद्धमोहति ।

(३) छव्विहा धारणा पण्णत्ता। तं जहा—बहुं धारेई, बहुविहं धारेई, पोराणं धारेई, दुद्धरं धारेई, अणिस्सियं धारेई, असंदिद्धमं धारेई इति ।।

[स्थानाङ्ग-स्थान ६, उद्देश-३, सूत्र-५६०]

•

मूलसूत्रम्—

अर्थस्य ।। १-१७ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य।

[नंदिसूत्र-२६]

(२) से किं तं अत्थुग्गहे ? अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—सोइन्दिय अत्थुग्गहे, चक्खिंदिय अत्थुग्गहे, घाणिंदिय अत्थुग्गहे, जिब्भिदिय अत्थुग्गहे, फासिंदिय अत्थुग्गहे, नोइन्दिय अत्थुग्गहे।

[नंदिसूत्र-३०]

•

मूलसूत्रम्—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ।। १-१८ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अत्थोग्गहे चेव वंजणोवग्गहे चेव।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/१६]

(२) उग्गहे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य।

[भगवती शतक-८, उद्देश-२, सूत्र-३१७]

•

मूलसूत्रम्—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।। १-१६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—सोइन्दियवंजणुग्गहे, घाणिंदिय वंजणुग्गहे, जिब्भिदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे।

[नंदिसूत्र-२६]

•

मूलसूत्रम्–

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।। १-२० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) मई पुव्वं जेण सुअं न मई सुअपुव्विआ ।

[नंदिसूत्र-२४]

(२) सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अंगपविट्ठे चेव, अंगबाहिरे चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/२१]

(३) से किं तं अंगपविट्ठं ? दुवालसविहं पण्णत्तं । तं जहा–[१] आयारो [२] सुयगडे [३] ठाणं [४] समवाओ [५] वियाहपण्णत्ती [६] नायाधम्मकहाओ [७] उवासगदसाओ [८] अंतगडदसाओ [९] अणुत्तरोववाइअ दसाओ [१०] पण्हावागरणाइं [११] विवागसुअं [१२] दिट्ठिवाओ ।

[नदिसूत्र-४४]

•

मूलसूत्रम्–

द्विविधोऽवधिः ।। १-२१।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं ओहिनाणं पच्चक्खं । ओहिनाण-पच्चक्खं दुविहं । तं जहा–भवपच्चइयं च खाओवसमिअं च ।

[नंदिसूत्र-६]

(२) ओहिनाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–भवपच्चइए चेव खओवसमिए चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/१३]

•

मूलसूत्रम्–

भवप्रत्ययो नारक-देवानाम् ।। १-२२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) दोण्हं भव पच्चइए पण्णत्ते । तं जहा–देवाणं चेव नेरइयाणं चेव ।।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/१४]

(२) से किं तं भवपच्चइयं ? दुण्हं तं जहा–देवाण य नेरइयाण य ।।

[नंदिसूत्र-७]

•

मूलसूत्रम्–

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।। १-२३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं खाओवसमिअं? खाओवसमिअं दुण्हं तं जहा–मणुसाय पंचिंदिय तिरिक्ख जोणियाण य । को हेऊ, खाओवसमियं ? खाओ-वसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जइ ।

[नंदिसूत्र-८]

(२) दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते । तं जहा–मणुस्साणं चेव पंचिंदिय तिरिक्ख जोणियाणं चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/१५]

(३) छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते । तं जहा–अणुगामिए, अणणुगामिए, वड्ढमाणिए, हीयमाणए, पडिवाई, अपडिवाई ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-६, उद्देश-३, सूत्र-५२६]

(४) गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जई तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं । तं जहा–१आणुगामियं, २ अणाणुगामियं, ३ वढ्ढमाणियं, ४ हीयमाणयं, ५ पडिवाइयं, ६ अप्पडिवाइयं ।

[नंदिसूत्र-९]

•

मूलसूत्रम्–

ऋजु-विपुलमती मनःपर्यायः ।। १-२४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–उज्जुमति चेव, विउलमति चेव ।

[स्थानाङ्ग-स्थान-२, उद्देश-१, सूत्र-७१/१६]

(२) तं च दुविहं उपवज्जइ । तं जहा–उज्जुमईय, विउलमई य ।।

[नंदिसूत्र-१८]

•

मूलसूत्रम्–

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।। १-२५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) उज्जुमईणं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ ते चेव विउलमई, अब्भहियतराए विउलतराए विशुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ।

[नंदिसूत्र-१८]

(२) तं सपासओ चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओणं उज्जमईणं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खेत्तओणं उज्जुमईअ जहन्नेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव ईमीसेरयणप्पभाए पुढवीए उवरिम-हेट्ठिल्ले खुड्डग पयरेउड्ढंजाव जोइसस्स उवरिमतलेतिरियं जाव अंतो मणुस्सखिते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरस्सकम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णए अंतरदीवणेसु सण्णीणं पंचिदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ। तं चेव विउलमइ अड्ढाइज्जेहिं अंगुलेहिं अब्भहियतरं विउलतरं विसुद्धतरं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ। कालओणं उज्जुमइ जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइ भागं उक्कोसेणंवि पलिओवमस्स असंखिज्जइ भागं अतीयमणागय वा कालं जाणइ पासइ। तं चेव विउलमइ अब्भहियतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ, भावओणं उज्जुमइ अणंते भावे जाणइ पासइ सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ तं चेव विउलमइणं अब्भहियतरागं विउलरागं विसुद्धतरागं जाणइ पासमणपज्जवएणाण पुण जण मण परिचिंतिअत्थ-पागडणं माणुसखित्तनिबद्धं गणा पच्चइयं चरित्तवओ सेतमण-पज्जवणाणं।

[नंदिसूत्र-१८]

•

मूलसूत्रम्–

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ।। १-२६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

भेद विसय संठाणे, अभिंतर वाहिरेय देसोही।
उहिस्सय खयवुड्ढी, पडिवाई चेव अपडिवाई ।।

[प्रज्ञापना सूत्र पद-३३, गाथा-१]

तत्त्वा-२

इड्ढीपत्त अपमत्तसंजय सम्मदिट्ठि पज्जतग संखेज्जवासाउ अकम्मभूमिअ गब्भवक्कंतिअ मणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जई ।

[मनःपर्यवज्ञानाधिकारे द्रव्यादिचतुर्भेदे एतद् विषयस्य श्रीनन्दिसूत्रे वर्णनमस्ति ।]

•

मूलसूत्रम्–

मति-श्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ १-२७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) तत्थ दव्वओणं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ न पासइ, खेत्तओणं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ न पासइ, कालओणं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ न पासइ, भावओणं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ न पासइ ।

[नंदिसूत्र-३७]

(२) से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ दव्वओणं सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओणं सुअणाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओणं सुअणाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओणं सुअणाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ ॥

[नंदिसूत्र-५८]

•

मूलसूत्रम्–

रूपिष्ववधेः ॥१-२८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) ओहिनाणीजहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ ।

[नंदिसूत्र-१६]

(२) ओहिदंसणं ओहिदंसणिस्स सव्वरूविदव्वेसु न पुण सव्वपज्जवेसु ॥

[अनुयोगद्वार, सूत्र-१४४]

(३) तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा–दव्वओ, खेत्तओ, कालओ,

भावओ । तत्थ दव्वओ ओहीनाणी जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रुविदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओणं ओहिनाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाइं अलोगलोगपमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ । कालओणं ओहिनाणी जहण्णेणं आवलिआए असंखिज्जाइ भागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उसप्पिणीओ ओसप्पिणीओ अईयं अणागयं च कालं जाणइ पासइ । भावओणं ओहिनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेणं वि अणंतभावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणं अणंतभगं जाणइ पासइ ।

•

मूलसूत्रम्–

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।। १-२९ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

सव्वत्थोवा मणपज्जवणाणपज्जवा । ओहिणाणपज्जवा अनन्तगुणा, सुयणाण-पज्जवा अनन्तगुणा, आभिणिबोहियनाणपज्जवा, अनंतगुणा, केवलनाणपज्जवा अनंतगुणा ।।

[भगवतीशतक-८, उद्देश-२, सूत्र-३२२]

•

मूलसूत्रम्–

सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ।। १-३० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) केवलदंसणं केवलदंसणिस्स सव्वदव्वेसु अ, सव्वपज्जवेसु य ।।

[अनुयोगद्वार दर्शनगुणप्रमाण सूत्र-१४४]

(२) तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ दव्वओणं केवलनाणी सव्व दव्वाइं जाणइ पासइ । खित्तओणं केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ पासइ । कालओणं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ । भावओणं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ । अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं । सासयम-प्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ।।

[नंदिसूत्र-२२]

•

मूलसूत्रम्—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।। १-३१ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) **आभिणिबोहियनाणसाकारो व उत्ताणं भंते ! चत्तारि णाणाइं भयणाए ।**

[व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक-८, उद्देश-२, सूत्र-३२०]

(२) **जे णाणी ते अत्थेगतिया दुणाणी अत्थेगतिया तिणाणी अत्थेगतिया चउणाणी अत्थेगतिया एगणाणी । जे दुणाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी य, जे तिणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी ओहिणाणी य, अहवा आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी मणपज्जवणाणी य, जे चउणाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी य । जे एगणाणी ते नियमा केवलणाणी ।**

[जीवाभिगम प्रतिपत्ति-१, सूत्र-४१]

•

मूलसूत्रम्—

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ।। १-३२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) **अणाणपरिणामेणं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—मइअणाण परिणामे, सुयअणाण परिणामे विभंगणाण-परिणामे ।**

[प्रज्ञापना पद-१३/७]

(२) **अन्नाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—मइअन्नाणे सुयअन्नाणे विभंगन्नाणे ।**

[व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक-८, उद्देश-२, सूत्र-२१७]

(३) **अन्नाण किरित्ता तिविधा पन्नत्ते । तं जहा—मति अन्नाण किरिया, सुत्त अन्नाण किरिया, विभंगनाण किरिया ।**

[स्थानाङ्ग-स्थान-३, उद्देश-३, सूत्र-१८७]

(४) **अविसेसिआ मई मइनाणं च....अविसेसियं सुयं सुयनाणं च, सुयअन्नाणं च....।**

[नंदिसूत्र-२५]

•

मूलसूत्रम्–

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।। १-३३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

से किं तं मिच्छासुयं । जं इमं अण्णाणिएहिं, मिच्छादिट्ठिएहिं, सच्छंदबुद्धिमइ विगप्पिअं, इत्यादि ।

[नंदिसूत्र-४२]

•

मूलसूत्रम्–

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्दाः नयाः ।। १-३४ ।।

आद्यशब्दौ द्वि-त्रिभेदौ ।। १-३५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

सत्तमूलणया पण्णत्ता । तं जहा–णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसूए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए ।

[अनुयोगद्वार, सूत्र-१३६ । स्थानाङ्ग-स्थान-७, उद्देश-३, सूत्र-५५२]

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य प्रथमाऽध्याये संगृहीते जैनागम-प्रमाणरूप-आधारस्थानानि समाप्तम् ।।



परिशिष्ट—२

सूत्रानुक्रमणिका

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य प्रथमाध्याये सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ।।

परिशिष्ट–३

* अकारादिसूत्रानुक्रमणिका *

क्रम	सूत्र	सूत्रांक	पृष्ठ सं.
९.	तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।	२	५
१०.	तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।	३	६
११.	तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।	२९	६२
१२.	तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।	१४	३५
१३.	द्विविधोऽवधिः ।	२१	४९
१४.	न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।	१९	४४
१५.	नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।	५	१६
१६.	निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।	७	२०
१७.	नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जु सूत्रशब्दानयाः ।	३४	७१
१८.	प्रत्यक्षमन्यत् ।	१२	३२
१९.	प्रमाण-नयैरधिगमः ।	६	१९
२०.	बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रिताऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।	१६	३९
२१.	भवप्रत्ययो नारक-देवानाम् ।	२२	४९
२२.	मति-श्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।	२७	६०
२३.	मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।	३२	६६
२४.	मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ।	९	२९
२५.	मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।	१३	३४
२६.	यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।	२३	५१
२७.	रूपिष्ववधेः ।	२८	६१
२८.	विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ।	२६	५७
२९.	विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।	२५	५६
३०.	व्यञ्जनस्यावग्रहः ।	१८	४२
३१.	श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।	२०	४६
३२.	सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च ।	८	२४
३३.	सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।	३३	६९
३४.	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।	१	२
३५.	सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।	३०	६२

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य प्रथमाध्याये अकारादि - सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ।।

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रे
श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरयोः सूत्रपाठ-भेदः

श्रीश्वेताम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः	श्रीदिगम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः
卐 सूत्राणि 卐	卐 सूत्राणि 卐
सूत्र सं.	सूत्र सं.
१५. अवग्रहेहापायधारणाः ।	१५. अवग्रहेहावायधारणाः ।
१६. बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रिताऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।	१६. बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।
२१. द्विविधोऽवधिः ।	❀ अत्र सूत्रं नास्ति ।
२२. भवप्रत्ययोनारक-देवानाम् ।	२१. भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम् ।
२३. यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्प-शेषाणाम् ।	२२. क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।
२४. ऋजु-विपुलमती मनःपर्यायः ।	२३. ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ।
२५. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः ।	२५. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधि मनःपर्यययोः ।
२७. मति-श्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्व-सर्वपर्यायेषु ।	२६. मति-श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्व-सर्वपर्यायेषु ।
२८. तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।	२८. तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।
३४. नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्दा-नयाः ।	३३. नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नयाः ।
३५. आद्यशब्दौ द्वि-त्रिभेदौ ।	....

卐



तत्त्व–अर्थ=तत्त्वार्थ–अधिगम–सूत्रम्

□ **तत्त्वः —**

जीवाजीवादीनां पदार्थानां यथावस्थितस्वभावस्तत्त्वः। अर्थात्–पदार्थानां स्व-नैसर्गिकस्वरूपेषु यथास्थितिस्तत्त्वः।

संसारे जीवाः जीवस्वरूपेषु अजीवाः अजीवस्वरूपेषु नित्यं वर्तन्ते इति। यत् क्वचिदपि जीवाः अजीवाः नैव भवन्ति, अजीवाश्च जीवाः नैव जायन्ते।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

जीव और अजीव दोनों पदार्थों की अपने स्वभाव में स्थिति तत्त्व है। जो पदार्थ जिस भाव में नैसर्गिक है, उसका स्वरूप अपरिवर्त्तनीय है। उसे **तत्त्व** कहते हैं।

जीव कभी अजीव में परिवर्तित नहीं होते तथा अजीव कभी जीव में परिवर्तित नहीं होते। उस स्थिति का नाम **तत्त्व** है।

□ **अर्थः —**

ज्ञायते इति अर्थः। यन्निश्चितं निश्चीयते यत्र तदर्थः। तत् वै यदर्थं निर्णीय-माप्नोति तदर्थस्तत्त्वार्थः। पदार्थानां वस्तुतः निर्णयं येन क्रियते तदर्थः।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

निश्चित जो जाना जावे, उसे **अर्थ** कहा गया है। जो निश्चय निश्चित किया जाय, अर्थात् जिस निश्चयात्मक सत्य को निश्चित कर कहा जाये उसे **अर्थ** कहते हैं।

□ **तत्त्वार्थः —**

तत्त्वैरर्थनिश्चयं तत्त्वार्थः। पदार्थानां निश्चयात्मिका नैसर्गिकी अवस्थायाः मूलस्वरूपैः यथास्थित्याः प्राकृतिकमर्थग्रहणं तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थेषु प्रक्षेपादि-तत्त्वानां समवायं वाऽन्यमतप्रतिपादितं अपरस्वरूपं नैव वर्तते। यथा वस्तुनः यथार्थतः अर्थग्रहणं तत्त्वार्थः।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

जो पदार्थ जिस मौलिक स्वरूप में हो, उसे उसी रूप सत्यता से जानना **तत्त्वार्थ** है। तत्त्व का अर्थ ग्रहण करना एवं निर्णयपूर्वक यथार्थ विश्लेषण करना **तत्त्वार्थ** है।

□ **अधिगमम्—**

ज्ञानं विशेषज्ञानं वा अधिगमम्। यद् अधिगम्यते सामान्येन विशेषेण वा तद् अधिगमम्। यथार्थतः सामान्यं वा विशेषं ज्ञानं तत्त्वार्थैः तदधिगमम्।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

ज्ञान या विशेष ज्ञान चाहे सामान्यरूप से ग्रहण किया गया हो, या विशेषरूप से अधिगम हुआ हो, उसे **अधिगम** कहते हैं। ज्ञान को संक्षेप से, सम्पूर्ण ज्ञानक्षेत्र, विज्ञानक्षेत्र, सामान्य तथा विशेषरूप में अन्तिमावस्था अर्थात् परमावस्था उत्कृष्ट-स्थिति पर्यन्त अधिगम करना अधिगम है। आत्मज्ञान में इससे उत्कृष्ट ज्ञानप्राप्ति का अन्य कोई अधिगम नहीं है।

□ **सूत्रम्—**

संक्षेपतः गाम्भीर्यविषयाणां प्रतिपादकत्वं **सूत्रम्**। सूत्रेषु विस्तृतानां विषयानां तत्त्वार्थानां वा युक्तियुक्तया संक्षेपेण व्याख्यानं कृतम्।

शास्त्राणां तत्त्वार्थाः आगमानां भावाश्च सूत्रत्वेन प्रकीर्तिताः सन्ति येषु तत्त्वार्थानां गाम्भीर्यं बिन्दुषु सिन्धुरिवान्तर्हित वर्त्तते वा समाहितं वर्त्तते।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

संक्षेपरूप से, शास्त्रों के तत्त्वों की गाम्भीर्य विषय-प्रस्तुति एवं शास्त्रों के मुख्य सिद्धान्तों का विशदीकरण **सूत्र** कहा जाता है।

सर्वज्ञ विभु श्रीतीर्थंकरभगवन्तों ने अर्थरूप त्रिपदी सुनाई, उससे ही श्रुतकेवली गणधरभगवन्तों ने सूत्ररूपे सारी द्वादशाङ्गी रची और ज्ञानी महापुरुषों— आचार्य महाराजादि द्वारा शास्त्रों की व्याख्या का विस्तार संक्षेप में सूत्रों में किया गया है। सूत्र एक प्रकार से सिन्धु को बिन्दु रूप में अन्तर्हित करने की क्षमता वाले होते हैं। अर्थात् 'बिन्दु में सिन्धु' सूत्र है।

□ **तत्त्वार्थाधिगमम्—**

'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः सप्ततत्त्वाः' एतेषां तत्त्वानां यथार्थस्वरूपैः मौलिकत्वेन ग्रहणं अर्थात् स्वभावरूपैः तद् स्वरूपस्यैवार्थग्रहणं तत्त्वार्थाधिगमम्।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सातों तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप से तद् स्वरूपजन्य बोध करना तत्त्वार्थाधिगम कहा जाता है। तत्त्वों का निश्चयात्मक स्वरूप ही होता है तथा उनका उसी स्वरूप में बोध होना तत्त्वार्थाधिगम है।

□ **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्—**

तत्त्वार्थानां सूत्राणां पुष्पस्तबकमिव ग्रन्थना तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि। तत्त्वार्थ-सूत्राणां ग्रन्थना गुम्फना वा रचना सूत्रकारमहर्षिश्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण कृता। यतः तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेति ख्यातः ग्रन्थोऽयम्।

❀ **हिन्दी भावार्थ—**

तत्त्वार्थों की सूत्ररूप में गुम्फना या रचना प्रसिद्ध सूत्रकार महर्षि पूर्वधर वाचक-प्रवर श्रीउमास्वाति महाराज द्वारा की गयी है। अतः यह ग्रन्थ '**तत्त्वार्थाधिगम-सूत्रम्**' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

विजयादशमी
दिनांक
६-१०-९२

विजय सुशीलसूरिः
लेटा
जिला–जालोर, राजस्थान

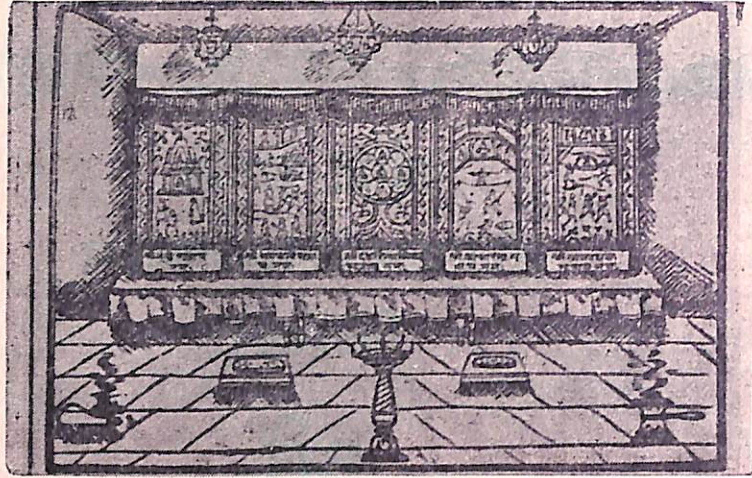
पूर्वधर-परमर्षि

श्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण

विरचितम्

श्री
त
त्त्वा
र्था
धि
ग
म
सूत्रम्

(द्वितीयोऽध्यायः)



卐 नमो नाणस्स 卐



शासनसम्राट् परम पूज्य आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजय नेमि-लावण्य-दक्ष-सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब के पट्टधर मधुरभाषी-संयमी **पूज्य उपाध्याय श्री विनोद विजयजी गणिवर्य महाराज**



❂ पुरोवचन ❂

पूर्वधर महर्षि श्रीउमास्वातिवाचक प्रणीत श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के इस द्वितीयाध्याय में कुल सूत्रों की संख्या बावन है। जीव-आत्मा में रहे हुए औदयिक आदि पाँच भावों से इसका प्रारम्भ होता है। श्री जैन तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से देखते हुए जीव-आत्मा स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है। तथा उसके लिए वह 'शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन स्वयं ज्योति और सुख के धाम' होते हुए भी अशुद्ध होता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह अज्ञान के वशीभूत भी हो जाता है, जीवित रहता है और मृत्यु को भेटता भी है, अहर्निश मोहरूपी गाढ़ तिमिर-अन्धकार में भटकता है, दुःख, भय और क्लेशादिक का अनुभव करता है तथा भववन-संसार-अरण्य में भ्रमण करता है।

इसलिए प्रारम्भ में ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व सदाचार स्वीकार करने के लिए एकधारा पुरुषार्थ करना ही पड़ता है। संसार में इधर-उधर सर्वत्र अथड़ाते तथा कुटाते हुए भो पुनः पुनः शुभ प्रवृत्ति और सत्प्रयत्न करने ही पड़ते हैं।

इसके लिए जीव-आत्मा अनन्त अज्ञानावरण में अटवाया होते हुए भीस द्भाग्य या पुण्योदय से निमित्त मिलने पर क्रोधादि कषाय-मन्दता के मार्ग पर आ सकता है। एकेन्द्रियता से पञ्चेन्द्रियता, संमूर्च्छिम में से गर्भज तथा असंज्ञी में से संज्ञी बन सकता है। मुक्तिपन्थ-मोक्षमार्ग के योग्य मानवदेह-मानव-शरीर प्राप्त कर मानवता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

यह सब जानकारी इस द्वितीय अध्याय से जिज्ञासुओं को होगी।



द्वितीयोऽध्यायः

❀ जीवतत्त्वम् ❀

प्रथमे अध्याये जीवादिकं तत्त्वं दर्शितम् । अथ तेषां लक्षणादिकं दर्शयति । अत्राह भवता जीवादीनि तत्त्वानि प्रोक्तानि । तत्र को जीवः ? कस्तस्य लक्षणो वेति ? वर्ण्यतेऽत्र–

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।। २-१ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीवस्य भावाः – औपशमिकः, क्षायिकश्च मिश्रश्च क्षायोपशमिकः त्रयैते । तथा औदयिकश्च पारिणामिकश्च एतौ द्वौ च मिलित्वा पञ्चैव भावाः जीवस्य स्वतत्त्वं वर्तते अर्थात् स्वरूपं स्वभावो भवति । तत्र च पारिणामिकभावः औदयिकभावश्चाजीवस्याऽपि भवतः, यतः पुद्गलानां परिणमनेन कर्मोदयेन च देहादिकमुत्पद्यते ? ये कर्मणामुपशमेन जायन्ते ते औपशमिकाः, क्षयेन क्षायिकाः, क्षयोपशमनेन क्षायोपशमिकाः, उदयेन च औदयिकाः भवन्ति । किन्तु यत्र कर्मापेक्षा अपि नैवास्ति, तथा च स्वत्वैव जायन्ते, पारिणामिकभावाश्च, ते ।। २-१ ।।

❀ सूत्रार्थ–**औपशमिक, क्षायिक, मिश्र [क्षायोपशमिक] ये तीन तथा औदयिक और पारिणामिक ये दो मिलकर पाँच भाव जीव-आत्मा के 'स्वतत्त्व' हैं, 'स्वरूप' हैं, (भाव अर्थात गुण के धर्म समझना) 'स्वभाव' हैं ।। २-१ ।।**

卐 विवेचनामृत 卐

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथम-पहले अध्याय में जीवादि सात तत्त्वों का नामनिर्देश करने के बाद, अब द्वितीयादि अध्यायों में उन जीवादि सात तत्त्वों का क्रमशः वर्णन करेंगे । प्रस्तुत द्वितीय

अध्याय से लेकर यावत् चतुर्थ अध्याय तक केवल जीवतत्त्व का ही स्वरूप तथा उसके भेद और प्रभेदादि का वर्णन नीचे प्रमाणे करते हैं—

॥ पाँच भावों का स्वरूप ॥

विश्व के प्रत्येक चेतन और जड़ पदार्थ में अनेक गुणधर्म रहते हैं। इसलिए जीव-चेतन में भी अनेक गुणधर्म हैं। ये स्पष्ट हैं तथापि यहाँ प्रश्न उठता है कि औपशमिकादि पाँच ही भाव यानी गुण-धर्म क्यों कहे गये हैं ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव-आत्मा में रहे हुए अनेक धर्मों के जो कारण हैं, वे पाँच हैं। वे हैं—उपशम, क्षय, मिश्र, उदय और परिणाम। कोई गुण-धर्म उपशम से, कोई क्षय से, कोई मिश्र से, कोई उदय से और कोई परिणाम से प्रगट होते हैं। इसलिए कारणों की दृष्टि से समस्त गुण-धर्मों का समावेश इन उपशमादिक पाँचों गुण-धर्मों में हो जाता है।

जो कर्मों के उपशम से होने वाले हैं, उनको **'औपशमिक'** कहते हैं, क्षय से होनेवालों को **'क्षायिक'** कहते हैं, क्षयोपशम से होने वालों को **'क्षायोपशमिक'** एवं उदय से होने वाले गुण-भावों को **'औदयिक'** कहते हैं। किन्तु जिनके होने में कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है—अर्थात् जो स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं, उनको **'पारिणामिक भाव'** कहते हैं।

इनके अतिरिक्त अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि के और भी अनेक स्वभाव जीव-आत्मा के स्वतत्त्व कहे जा सकते हैं, किन्तु वे जीव-आत्मा के असाधारण भाव नहीं हैं। क्योंकि वे जीव और अजीव दोनों ही में पाये जाते हैं। किन्तु ये औपशमिकादि पाँच भाव जीव-आत्मा के अलावा अन्यत्र किसी में भी नहीं पाये जाते हैं। इसीलिए इनको जीव-आत्मा का **स्वतत्त्व** अर्थात् **निजतत्त्व** कहा गया है।

जीव-आत्मा के स्वरूप-सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ कैसा-कैसा मन्तव्य भेद है ; यही बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र की रचना है। **सांख्य दर्शन** और **वेदान्त दर्शन** दोनों जीव आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। अर्थात् अपरिवर्तनशील नित्य मानकर, इनमें किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं मानते हैं। वे ज्ञान तथा सुख-दुःखादि परिणामों को प्रकृति या अविद्या के ही मानते हैं।

वैशेषिक दर्शन और **न्यायदर्शन** दोनों ज्ञान आदि को जीव-आत्मा का गुण मानते हैं। तथापि वे जीव-आत्मा को **एकान्त नित्य अपरिणामी** मानते हैं। **नव्य मीमांसक** मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है। **बौद्ध दर्शन** जीव-आत्मा को **एकान्त क्षणिक** अर्थात् निरन्वयपरिणामों का प्रवाह मानता है।

इस विषय में जैनदर्शन का कथन यह है कि जैसे प्राकृतिक जड़ वस्तु-पदार्थों में कूटस्थनित्यता नहीं है, वैसे ही एकान्तक्षणिकता भी नहीं है; किन्तु परिणामिनित्यता है। अर्थात् जीव-आत्मा भी परिणामिनित्य है। जो वस्तु-पदार्थ अपने स्वरूप-स्वभाव में स्थित रहती है तो भी देश-कालानुसार परिवर्तनशील यानी पलटने के स्वभाव वाली होने से उसको पारिणामिक नित्य कहते

हैं। उसी प्रकार जीव-आत्मा को भी परिणामी नित्य मानते हैं। इसीलिए ज्ञान, सुख और दुःखादिक पर्याय जीव-आत्मा के ही हैं। जीव-आत्मा के समस्त पर्याय एक सी अवस्था वाले नहीं होते हैं। कितनेक पर्याय एक अवस्था वाले तथा कितनेक पर्याय अन्य अवस्था वाले अर्थात् भिन्न अवस्था वाले भी होते हैं। पर्याय की भिन्न अवस्था को ही भाव कहते हैं। अर्थात् पर्यायों की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही भाव कहलाती हैं।

जीव-आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हैं। उन पाँच भावों के नाम ये हैं—(१) औपशमिक भाव, (२) क्षायिक भाव, (३) क्षायोपशमिक भाव, (४) औदयिक भाव, और (५) पारिणामिक भाव।

(१) **औपशमिक भाव**—औपशमिक भाव उपशम से उत्पन्न होता है। कर्मों के उपशम से उत्पन्न होने वाले भाव को '**औपशमिक भाव**' कहते हैं। उपशम एक प्रकार की आत्मशुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय एकदम बिलकुल रुक जाने पर होती है। जैसे मलिन जल स्थिरता पाकर कुछ काल के लिए निर्मल स्वच्छ हो जाता है क्योंकि उसमें रहा हुआ कचरादि जो मलत्व है, वह नीचे बैठ जाता है, अर्थात् मैल तल में बैठ जाने पर जल निर्मल स्वच्छ हो जाता है; वैसे ही सत्तागत कर्म का उदय सर्वथा रुक जाने से जो आत्मा में निर्मलता-स्वच्छता उत्पन्न होती है, उसे ही '**औपशमिक भाव**' कहते हैं।

सारांश यह है कि उपशम यानी जीव-आत्मा में कर्मों के विद्यमान होते हुए भी अल्प समय के लिये कर्मोदय का सर्वथा अभाव। कभी जीव-आत्मा में शुभ अध्यवसाय हो जाने से मोहनीय कर्मोदय का अल्पकाल-अन्तर्मुहूर्त्त तक स्थगित हो जाता है। जैसे-मलिन जल में कतक का चूर्ण डालने से कचरा नीचे बैठ जाने से जल निर्मल-स्वच्छ दिखाई देता है; वैसे कर्मों का उपशम होने से जीव-आत्मा निर्मल-स्वच्छ बनता है। अल्प समय के लिए मलिन कचरे वाले निर्मल जल में कचरे का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, किन्तु कचरा नीचे बैठ गया है, इसलिए जल निर्मल प्रतीत होता है। परन्तु उसी जल को हिलाने पर वह पुनः गंदला-मलिन बन जाता है। इसी प्रकार कर्मों के उपशम में कर्मों का सर्वथा अभाव नहीं होता है, परन्तु अल्प समय के लिए उनका उदय स्थगित हो जाता है। अल्प समय के बाद पुनः कर्मों का उदय प्रारम्भ हो जाने से वह निर्मलता-स्वच्छता नहीं रहती है। कर्मों के उपशम से जीव-आत्मा में प्रगट होने वाले भाव औपशमिक हैं।

(२) **क्षायिक भाव**—क्षय यानी कर्मों का सर्वथा विनाश। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव को '**क्षायिक भाव**' कहते हैं। क्षय आत्मा की वह परमविशुद्धि है जो कर्म का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर प्रकट होती है। अर्थात् यह अवस्था जीव-आत्मा की विशुद्धता रूप है। जैसे—सर्वथा मैल के निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है। अर्थात् मलिन जल कचरा आदि पृथक् कर देने से निर्मल-स्वच्छ होता है वैसे ही कर्मबन्ध के क्षय होने से जो विशुद्धता प्रगट होती है, वह क्षायिक भाव है।

विशेष—औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावों की निर्मलता एक समान हुआ करती है, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि—औपशमिक भाव में तो प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है किन्तु

क्षायिकभाव में अंशमात्र भी कर्म की सत्ता नहीं रहती है। क्योंकि कर्मों के क्षय से प्रगट होने वाली निर्मलता नित्य रहती है। कर्मों के उपशम से प्रगट होने वाली निर्मलता विनश्वर है, कर्मों के सर्वथा क्षय से प्रगट होने वाली निर्मलता सदा के लिए है, अनन्त है। यही उपशमभाव में तथा क्षायिक भाव में भिन्नता-भेद है।

(३) **क्षायोपशमिक भाव**—उपशम और क्षय से दोनों भावों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाले भावों को मिश्रभाव यानी '**क्षायोपशमिक**' भाव कहते हैं। क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है।

क्षयोपशम यानी अमुक भाग के कर्मों का उपशम तथा अमुक भाग के कर्मों का क्षय; ऐसे क्षयोपशम से जो भाव प्रगट होते हैं, उन्हें ही **क्षायोपशमिक** भाव कहते हैं।

क्षयोपशम भी जीव-आत्मा की एक प्रकार की आत्मिकशुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर तथा दूसरे अंश के प्रदेशोदय द्वारा कर्म का क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि मिश्रित है। जैसे, कोदों को जल से धोने से उसकी मादक शक्ति कुछ क्षीण होती है और कुछ बह भी जाती है। वैसे ही यहाँ भी जो उदय में नहीं आने वाले कर्मों के अंश के उपशमन से तथा उदय में आये हुए कर्मों के क्षय से प्रगट होती है उसी को **क्षयोपशमभाव** कहते हैं। इससे मादक शक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं होती है, किन्तु अर्द्धजरित काष्ठ के सदृश मिश्रभाव क्षायोपशमिक भाव होता है। ऐसा होते हुए भी जैसे कोदों धान्य में शुद्धि-अशुद्धि दोनों का मिश्रण होता है, वैसे ही यहाँ भी क्षायोपशमिक भाव में जीव-आत्मा में शुद्धि-अशुद्धि दोनों का मिश्रण होता है।

(४) **औदयिक भाव**—उदय से प्राप्त होने वाले भावों को '**औदयिक भाव**' कहते हैं। उदय यानी कर्मफल का अनुभव। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य (मालिन्य) है। अर्थात् जीव-आत्मा की एक प्रकार से कलुषितावस्था है, जो कर्म के विपाकानुभव से होती है; जैसे-मैल के मिल जाने पर जल में मलिनता आ जाती है; उस अवस्था को **औदयिक भाव** कहा जाता है।

(५) **पारिणामिक भाव**—पारिणामिक भाव द्रव्य का सहज स्वाभाविक परिणाम है। उस परिणाम से होने वाले भाव **पारिणामिक भाव** कहे जाते हैं। जो द्रव्य के अस्तित्व से स्वयं अपने आप होता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही **पारिणामिक भाव** है। यह भाव जीवादि समस्त द्रव्यों में होता है, किन्तु सूत्रोक्त जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों भेद जीवविशेष हैं। अर्थात् वे जीव-आत्मा में ही पाये जाते हैं। शेष अस्तित्व, नित्यत्व और अरूपत्वादि अनेक भाव भी सूचित होते हैं। वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। तथा वे स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के होते हैं। पारिणामिक भाव जीवादिक द्रव्यों के स्वाभाविक विशेष हैं। यह भाव द्रव्य के अस्तित्व से स्वयं सिद्ध होता है। अर्थात् समस्त द्रव्यों का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है।

उपर्युक्त ये पाँचों भाव ही जीव-आत्मा के स्वरूप हैं। भले वह जीव-आत्मा संसारी या मुक्त कोई भी हो, उसके समस्त पर्याय इन पाँच भावों में से किसी-न-किसी भाव वाले ही अवश्य

होंगे। अर्थात् दो भावों से यावत् पाँच भावों तक न्यूनाधिक रूप से जीव-आत्मा में अवश्य होते हैं। इन पाँच भावों के त्रेपन [५३] भेद कहे हैं। वे सभी जीव विशेष हैं। कारण कि अजीव में वे सभी सम्भव नहीं हैं।

जीव-आत्मा में औपशमिक आदि पाँचों भाव एक साथ में हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कारण कि कितनेक जीवों में पाँच, कितनेक में चार, कितनेक में तीन और कितनेक जीवों में दो ही भाव होते हैं। कम-से-कम दो भाव तो जीव-आत्मा में अवश्य होते ही हैं।

अब किस-किस जीव-आत्मा में कितने-कितने भाव होते हैं ? इसके लिए कहते हैं कि—

❀ सकल कर्मों से मुक्त ऐसे सिद्ध जीवों में **क्षायिक** और **पारिणामिक** ये दोनों भाव होते हैं।

❀ सामान्य से इस संसार में रहे हुए जीवों के औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीनों भाव होते हैं।

❀ उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किये हुए जीव के औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औपशमिक ये चार भाव होते हैं।

❀ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किये हुए जीव के उपशम श्रेणी में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक ये पाँचों भाव होते हैं।

मुक्तात्मा के पर्याय दो भाव पर्यन्त होते हैं। तथा संसारी आत्मा के पर्याय तीन भाव से लेकर पाँच भाव तक पाये जाते हैं। इसलिए पाँच भावों को जीव-आत्मा का स्वरूप जीवराशि की अपेक्षा से कहा गया है। अथवा किसी जीव विशेष में संभावना की अपेक्षा से कहा गया है।

औदयिक भाव वाले के पर्याय वैभाविक है, और शेष चारों भाववालों के पर्याय स्वाभाविक है। इस तरह इस सूत्र में पाँच भावों का स्वरूप निर्देश किया। (अ. २, सूत्र. १)

पंचभावानामुत्तरभेदाः

द्वि-नवा-ऽष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २-२ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

द्वि-नवा-ऽष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा भवन्ति। एते औपशमिकादयः पञ्चभावाः। तद्यथा–औपशमिकभावस्य द्वौ भेदौ। क्षायिकभावस्य नवभेदाः, क्षायोपशमिकभावस्य अष्टादश भेदाः, औदयिकभावस्य चैकविंशति भेदाः भवन्ति। नवभेदाः क्षायोपशमिक भावस्य, पारिणामिकस्त्रिभेदेति च। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः।

केचनात्र सिद्धजीवानां व्यावृत्तये "संसारस्थानाम्" इति । नैतद् यत् सर्वत्रैव शब्दार्थाः यथासम्भवाः । सर्वेषु सर्वे भावाः नैतद् प्रकृतिः । यथा ग्रादिमौ द्वौ भावौ सम्यग्दृष्टचैव संभाव्यौ न मिथ्यादृष्टचा । तथैवान्यच्च । २-२ ।

❀ **सूत्रार्थ**–ग्रौपशमिक ग्रादि पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, ग्रठारह, इक्कीस ग्रौर तीन भेद हैं । कुल मिलाकर पाँच भावों के त्रेपन (५३) भेद होते हैं । २-२ ।

卐 विवेचनामृत 卐

ग्रौपशमिकादि पाँच भावों के उत्तर भेद नीचे प्रमाणे हैं—

ग्रौपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, क्षायोपशमिक भाव के ग्रठारह, ग्रौदयिक भाव के इक्कीस ग्रौर पारिणामिक भाव के तीन उत्तर भेद हैं । सब मिलाकर ग्रौपशमिकादि पाँच भावों के त्रेपन (५३) भेद होते हैं । (ग्र० २ सूत्र २) ॥

ग्रौपशमिकस्य द्वौ भेदौ

सम्यक्त्व–चारित्रे ॥ २-३ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

द्वावौपशमिकौ भावौ भवतः - सम्यक्त्वं चारित्रं च । सम्यक्त्वस्य लक्षणं प्रथमाध्याये पूर्वमेव वर्णितम्, चारित्रस्य लक्षणं नवमाध्याये विशेषतः वक्ष्यामः । सारांशेन सम्यग्दर्शनं-सम्यक्त्वं घातयन्ति यानि कर्माणि तानि त्रीणि दर्शनमोहनीयानि चत्वारि ग्रनन्तानुबन्धानि एतानि सप्तोपशमनान्तरमेव तत्त्वेषु रुचिः जायते । तानि ग्रौपशमिकसम्यक्त्वस्वरूपाणि । शुभाशुभस्वरूपौ क्रियाप्रवृत्तिः निवृत्तिश्च चारित्रेति कथ्यते । चारित्रमोहनीयकर्मणः उपशमेन यः चारित्रगुणः प्रकटीभवति तं ग्रौपशमिकचारित्रं कथ्यते । चारित्रोऽयं गुण एकादशे गुणस्थानके पूर्णो भवति । यत् चारित्रमोहनीयस्य शेषाः एकविंशतिनां प्रकृतिनां उपशमस्तत्रैव भवति । २-३ ।

❀ **सूत्रार्थ**–सम्यक्त्व ग्रौर चारित्र ये दो **ग्रौपशमिक भाव** के भेद हैं ॥ २-३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

ज्ञानावरणीयादि ग्राठ मूल कर्मप्रकृतियाँ हैं । उनमें उपशम मात्र मोहनीय कर्म का ही होता है । मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय ग्रौर चारित्रमोहनीय इस तरह दो भेद हैं । दर्शन-

मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है और चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो पर्याय औपशमिक भाव वाले होते हैं।

दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय इस तरह तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के सोलह कषाय और नौ नोकषाय मिलकर पच्चीस भेद होते हैं। सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व को घात करने वाले कर्म हैं, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंधीकषाय। इन सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाने से आत्मा में **उपशम-सम्यक्त्व गुण** प्रगटता है, तथा चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस (२१) प्रकृतियों का उपशम हो जाने से **उपशम चारित्रगुण** प्रगटता है।

यह उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र दोनों अधिकतर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ही रहते हैं। इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त में जितने दलिक उदय में आनेवाले हों उतने दलिकों को लेकर ऊपर के भाग में डाल कर अन्तर्मुहूर्त्त तक आत्मप्रदेशों को दर्शन मोहनीय आदि कर्म-के दलिकों से रहित कर देते हैं। जैसे-ऊसर भूमि में फैलती हुई अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही कर्मों का उदय भी स्थगित हो जाता है। (अ० २, सू० ३)

क्षायिकभावानां नवभेदाः

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥ २-४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो वीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्तीति। अर्थात्-प्रतिपक्षीकर्मणः सर्वथा अभावे सति आत्मनि नव भावा उद्भवन्ति।

(१) ज्ञानावरणीयकर्मणः सर्वथा क्षये सति आत्मनि अनन्तज्ञानं-**केवलज्ञानं** उत्पद्यते।

(२) दर्शनावरणीयकर्मणः सर्वथा क्षये सति आत्मनि **अनन्तदर्शनं-केवलदर्शनं** उद्भूयते।

(३) अन्तरायकर्मणामामूलक्षयित्वे सति आत्मनि दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि एतानि पञ्च आविर्भूयन्ते। एवमेव सम्यग्दर्शनस्य घातकी सप्तप्रकृतयः यदा सर्वथा क्षीयन्ते सति क्षायिकसम्यक्त्वस्य चारित्रमोहनीयस्य च सर्वथा निःशेषेण क्षयित्वे सति क्षायिकचारित्रस्योद्भवः भवति। एषु क्षायिकसम्यक्त्वं चतुर्थगुण-स्थानतः सप्तमगुणस्थानपर्यन्तम् केनापि गुणस्थानेन उद्भूयते। क्षायिक यथाख्यात-

चारित्रं द्वादशे गुणस्थाने एव उत्पद्यते च । शेषा अनन्तज्ञानादिक-सप्तभावाः त्रयोदशे गुणस्थाने प्रकाशिताः भवन्ति ।। २-४ ।।

❁ **सूत्रार्थ**–ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा 'च' से पूर्व सूत्र में उल्लिखित सम्यक्त्व और चारित्र; इस तरह **क्षायिक भाव** के नौ भेद हैं ।। २-४ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

प्रतिपक्षी कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जीव-आत्मा में ये नौ भाव उत्पन्न हुआ करते हैं।

(१) केवलज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से '**केवलज्ञान**' उत्पन्न होता है।

(२) केवलदर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से '**केवलदर्शन**' उत्पन्न होता है।

(३-७) पंचविध अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(८-९) दर्शन-मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से (अर्थात् उपर्युक्त सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से अर्थात् उपर्युक्त सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने पर) क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। तथा चारित्र-मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर क्षायिक-चारित्र का आविर्भाव होता है। इसलिए केवलज्ञानादिक ये नवविध पर्याय '**क्षायिक**' कहलाते हैं।

इनमें से **क्षायिक सम्यक्त्व** चतुर्थ गुणस्थानक से लेकर सातवें गुणस्थानक तक किसी भी गुणस्थानक में उद्भूत हो सकता है तथा **क्षायिक चारित्र** बारहवें गुणस्थानक में ही प्रकट होता है। शेष अनन्तज्ञानादिक सात भाव तेरहवें गुणस्थानक में ही प्रकाशित होते हैं।

सम्यक्त्व, चारित्र और ज्ञान, दर्शन का लक्षण पूर्व में आ गया है। तथा दान का लक्षण आगे आने वाला है। इसलिये यहाँ विशेष वर्णन नहीं किया है, तो भी संक्षेप में कहते हैं कि—

'**स्वस्यातिसर्गो दानम्**'। अर्थात् रत्नत्रयादि गुणों की प्राप्ति के लिए अपनी कोई भी अशनादि आहार, औषध तथा शास्त्र इत्यादि चीज-वस्तु देना, इसे **दान** कहते हैं। कोई भी चीज लेना-प्राप्त करना, इसे **लाभ** कहते हैं। जो चीज-वस्तु एक बार भोगने में आ सके, उसे **भोग** कहते हैं तथा जो बार-बार भोगने में आ सके, उसे **उपभोग** कहते हैं।

आत्मा की उत्साह-शक्ति को **वीर्य** कहते हैं। ये इन भावों के सामान्य लक्षण हैं। विशेष-रूप से क्षायिक अवस्था में उनको यथासम्भव घटित करना चाहिए।

प्रश्न–सिद्धत्व भाव भी क्षायिकभाव है, उसका इनके साथ ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर–वह ज्ञानावरणीयादि आठों ही कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर सिद्ध अवस्था में ही प्रगट होता है। इसलिए उसका यहाँ निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि ये नौ क्षायिक भाव तो ऐसे हैं, जो संसार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में पाये जाते हैं।

प्रश्न–सिद्ध जीवों के योग नहीं होते हैं, इसलिए उनमें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायिक चारित्र कैसे घट सकता है ?

उत्तर–क्षायिक सम्यग्दर्शन के और क्षायिक चारित्र के व्यावहारिक तथा नैश्चयिक इस प्रकार दो भेद हैं। उक्त सम्यग्दर्शन तथा सम्यग् चारित्र ये दोनों व्यावहारिक हैं अर्थात् वे व्यवहार से कहे जाते हैं। दर्शनमोहनीय के और अनन्तानुबन्धी कषाय के सर्वथा क्षय से प्रगट हुआ जो विशुद्ध आत्म-परिणाम, वही **नैश्चयिक क्षायिक सम्यग्दर्शन** है। तथा चारित्रमोहनीय के क्षय से हुई स्वस्वरूप में रमणता अर्थात् आत्मरमणता-आत्मस्थिरता वही **'नैश्चयिक क्षायिक चारित्र'** है।

सिद्ध जीवों में व्यावहारिक दानादिक की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु नैश्चयिक दानादिक तो अवश्य ही हैं।

(१) सिद्ध जीवों में परभावना यानी पौद्गलिक भावना के त्यागरूप **'दान'** है।
(२) सिद्ध जीवों में आत्मिक शुद्ध-विशुद्ध स्वरूप की प्राप्तिरूप **'लाभ'** है।
(३) सिद्ध जीवों में आत्मिक शुद्ध-विशुद्ध स्वरूप के अनुभव रूप **'भोग'** है।
(४) सिद्ध जीवों में आत्मिक शुद्ध-विशुद्ध स्वरूप के अनुभव रूप **'उपभोग'** है।
(५) तथा सिद्ध जीवों के स्वभाव में प्रवृत्ति रूप **'वीर्य'** भी है।

इस तरह सिद्ध जीवों में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में व्यावहारिक प्रवृत्ति नहीं होते हुए भी क्षायिक दानादिक लब्धि नैश्चयिक अवश्य होती है। इसलिए निः सन्देह उक्त ये बातें बन सकती हैं। (अ० २-४)

क्षायोपशमिकभावस्य अष्टादशभेदाः

सूत्रम्–

ज्ञाना-ज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमश्च ॥२-५॥

* सुबोधिका टीका *

ज्ञानस्य चत्वारो भेदाः-मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानमिति च। अज्ञानस्य त्रिभेदाः-मत्यज्ञानं, श्रुताज्ञानं, विभङ्गज्ञानमिति। दर्शनस्य त्रिभेदाः-चक्षुर्दर्शनं, अचक्षुर्दर्शनं, अवधिर्दर्शनमिति। लब्धयः पञ्चविधाः-दानलब्धिः, लाभलब्धिः,

भोगलब्धिः, उपभोगलब्धिः वीर्यलब्धिरिति । सम्यक्त्वं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश-क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।। २-५ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–

❀ **चार प्रकार का ज्ञान**–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान (मनः पर्यायज्ञान) ।

❀ **तीन प्रकार का अज्ञान**–मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान ।

❀ **तीन प्रकार का दर्शन**–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ।

❀ **पाँच प्रकार की लब्धि**–दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्य लब्धि ।

❀ एक प्रकार का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, एक प्रकार का क्षायोपशमिक चारित्र तथा एक प्रकार का संयमासंयम (श्रावकव्रत) । इस तरह कुल मिलाकर क्षायोपशमिक भाव के ये १८ भेद होते हैं ।। २-५ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

ज्ञानावरणीयादिक आठकर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातीकर्म हैं, शेष अघाती । घातीकर्म में भी **एकदेशघाती** और दूसरे सर्वदेशघाती या **सर्वघाती**, इस तरह दो अंश पाये जाते हैं । देशघाती कर्मों के २६ भेद हैं । इन्हीं घातीकर्मों के क्षयोपशम से जीव-आत्मा में **क्षायोपशमिक भाव** जागृत होता है। अर्थात्–तद् तद् कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय के अभाव से तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव प्रगट होते हैं।

मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से क्रमशः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान का आविर्भाव होता है। मिथ्यात्वयुक्त मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान का आविर्भाव होता है। चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। पञ्चविध अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से दानादि पूर्वोक्त पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है अर्थात् लब्धियाँ प्रगट होती हैं। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायों के क्षयोपशम से चारित्र (सर्वविरति) का आविर्भाव होता है। तथा अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कषाय के क्षयोपशम से संयमासंयम (देशविरति) का आविर्भाव होता है अर्थात् देशविरति बारह व्रत प्राप्त होते हैं।

इस तरह मतिज्ञान आदि अठारह पर्याय भेद वाला क्षायोपशमिक भाव है।

सारांश—क्षायोपशमिक भाव का सारांश यह है कि जीव आत्मा को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व गुण कब प्राप्त होता है ? इसके लिए कहा है कि—

(१) अनन्तानुबन्धी कषाय के रसोदय के सर्वथा अभाव से, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र-मोहनीय के सर्वथा उदय के अभाव से, तथा सम्यक्त्व मोहनीय रूप दर्शनमोहनीय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जीव-आत्मा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व गुण को प्राप्त करता है अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है।

(२) अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के रसोदय के सर्वथा अभाव से क्षायोपशमिक चारित्रगुण प्रगट होता है। उसमें विशेषता यह है कि अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का मात्र प्रदेशोदय होता है।

(३) देशविरति रूप अर्थात् बारह व्रत रूप क्षयोपशम भाव में आठ कषायों के रसोदय का सर्वथा अभाव होता है। तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषायों के सर्वघाती एवं देशघाती स्पर्धकों का एवं संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होता है।

विशेष—मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के क्षयोपशम में मिथ्यात्वादिक का रसोदय नहीं होता है, जबकि मतिज्ञानादिक के क्षयोपशम में मतिज्ञानावरणीयादिक कर्मों का रसोदय होता ही है। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का क्षयोपशम **शुद्ध क्षयोपशम** कहलाता है तथा मतिज्ञानादिक का क्षयोपशम **उदयानुविद्ध क्षयोपशम** कहलाता है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से जो सम्यक्त्व प्रगट होता है, उसको **क्षयोपशम सम्यक्त्व** कहते हैं तथा अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से देशविरति और प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से सर्वविरति चारित्र प्रगट होता है। इस तरह ये अठारह भेद क्षयोपशम सम्यक्त्व के माने गये हैं। (अ० २, सू० ५)

औदयिकभावस्यैकविंशतिभेदाः

सूत्रम्—

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्व-लेश्या-श्चतुश्चतुस्त्रये-कै-कै-कै-क-षड्भेदाः ॥ २-६ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

गतेश्चतुर्भेदा भवन्ति। यथा च ते नारकतैर्यग्योनमनुष्यदेवा इति। कषायस्य चत्वारो भेदाः क्रोधी मानी मायी लोभीति। लिङ्गं त्रिभेदं स्त्रीपुमान्नपुंसकमिति। मिथ्यादर्शनमेकभेदं मिथ्यादृष्टिरिति। अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति। असंयतत्वमेकभेदम-

संयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमसिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेश्यायाः षड्भेदाः कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या ।

इत्येते एकविंशतिरौदयिकभावाः भवन्ति । कर्मणः उदयेन भवन्ति ये भावास्ते औदयिकाः । नरकगति-नाम-कर्मणा भवन्ति ये भावास्ते नारकभावाः । अत एव नरकगति औदयिकी अस्ति । इत्थं तिर्यगादीनामपि ज्ञेयम् । लेश्या नामकः नास्ति कर्मान्यत् । अतः लेश्याभावपर्याप्तिनामकर्मणा पुद्गलविपाकीशरीरनामकर्मणा वा कषायेन वा उदीयते । अतः कषायोदयानुरंजितमनवचनकायप्रवृत्तिरेव लेश्या । इत्येते एकविंशतिः औदयिकभावाः भवन्ति ।। २-६ ।।

❀ **सूत्रार्थ**-(१) गति चार, (२) कषाय चार, (३) लिंग तीन, (४) मिथ्यादर्शन, (५) अज्ञान, (६) असंयत, (७) असिद्धत्व और (८) लेश्या छह, ये सब मिलकर २१ भेद औदयिक भाव के होते हैं।

卐 विवेचनामृत 卐

जीव के जो भाव कर्म के उदय से होते हैं उनको **औदयिकभाव** कहते हैं। उनके कुल इक्कीस (२१) भेद होते हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित प्रमाणे हैं—

(१) गति के चार भेद हैं। नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति । उनमें नरक गति नाम कर्म के उदय से नरकगति, तिर्यंचगति नाम कर्म के उदय से तिर्यंच गति, मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से मनुष्य गति, तथा देवगति नाम कर्म के उदय से देवगति की प्राप्ति होती है। गति के कारण जीव-आत्मा क्रमशः नारकादि रूप में पहिचाना जाता है।

(२) कषायमोहनीय कर्म के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय उत्पन्न होते हैं।

(**कष** यानी संसार, **आय** यानी लाभ, जिससे संसार का लाभ हो अर्थात् जिससे जीव-आत्मा का संसार में परिभ्रमण होता रहे, वह **कषाय** है।)

(३) लिंग यानी वेद। पुरुष, स्त्री और नपुंसक ये तीन लिंग-वेद हैं। वेद मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग-वेद होता है। तद् तद् वेदकर्म के उदय से तद् तद् लिंग-वेद प्रगट होता है।

(४) मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादर्शन (तत्त्व का अश्रद्धान) होता है। अर्थात्–दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है।

(५) अज्ञान (ज्ञानाभाव)। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान भाव होता है।

(६) असंयत अर्थात् विरति का सर्वथा अभाव। जो अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय संप्राप्तफल रूप है अर्थात् चारित्र मोहनीय के उदय का परिणाम है।

(७) असिद्धत्व (देह-शरीरधारण)। सामान्य से कर्मों के उदय से असिद्धत्व-असिद्धपना होता है। यह वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व भाव आठों कर्मों के उदय से या चार अघाती कर्मों के उदय से हुआ करता है।

(८) लेश्या नाम का कोई भी कर्म नहीं है, इसलिए लेश्यारूप भाव पर्याप्ति नामकर्म के उदय से या पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्म तथा कषाय इन दोनों के उदय से होते हैं। कारण कि कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को ही '**लेश्या**' कहते हैं। जीव-आत्मा जिस लेश्या के योग्य कर्म द्रव्य का ग्रहण करता है, उसके निमित्त से उसी लेश्या रूप उसके परिणाम हो जाते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्याएँ (कषायोदयरञ्जित योग परिणाम) कषाय के उदय या योगजनक शरीरनामकर्म के उदय का परिणाम हैं।

सारांश यह है कि योग से लेश्या उत्पन्न होती है। कषाय से उसमें तीव्रता और मन्दता आती है। तथा तीव्रता-मन्दता आदि के आधार से इन छह लेश्या रूप आत्मपरिणाम होता है। मुख्यरूप में लेश्या दो प्रकार की बताई है : द्रव्यलेश्या और भावलेश्या; देह-शरीर के वर्ण को **द्रव्य-लेश्या** कहते हैं और अन्तरङ्ग आत्मपरिणाम विशेष को **भावलेश्या** कहते हैं। कारण कि जीव-आत्मा जिस लेश्या के योग्य कर्मद्रव्य का ग्रहण करता है, उसके निमित्त द्वारा उसी लेश्या रूप उसके परिणाम हो जाते हैं। फिर भी यह लेश्या दो प्रकार की होती है एक शुभ और दूसरी अशुभ। पहली तीन लेश्याएँ अशुभ हैं, तथा बाद की तीन लेश्याएँ शुभ हैं। अशुभ लेश्याओं में उत्तरोत्तर अल्प-अल्प अशुभ हैं। तथा शुभ लेश्याओं में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक शुभ हैं। अर्थात्–

(१) कृष्णलेश्या अशुभतम है।
(२) नीललेश्या अशुभतर है।
(३) कापोतलेश्या अशुभ है।
(४) तेजो (पीत) लेश्या शुभ है।
(५) पद्म लेश्या शुभतर है।
(६) शुक्ललेश्या शुभतम है।

इन छहों लेश्याओं में किस लेश्या के आत्मपरिणाम कैसे होते हैं, इसके उदाहरण (दृष्टान्त) शास्त्रों में अति प्रसिद्ध हैं। (अ० २, सू० ६)

पारिणामिक भावस्य भेदाः

सूत्रम्–

जीव-भव्या -भव्यत्वादीनि च ॥ २-७ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति एते त्रयः पारिणामिकाः भावाः भवन्तीति।

किमर्थमादिग्रहणमिति । कथ्यतेऽत्र–अस्तित्वं, अन्यत्वं, कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं, गुणवत्वमसर्वगतत्वमनादिकर्मसन्तानबद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्वं नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्यात्मन भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिताः ।

ये जीवस्यैव वैशेषिकास्ते स्वशब्देन प्रोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चाशद्भेदाः जीवस्य स्वतत्त्वानि भवन्ति । अस्तित्वादयश्च । किञ्चान्यत् । असंख्यातप्रदेशीचेतनाजीवत्वेन परिचीयते । भव्यत्वाभव्यत्वलक्षणं पूर्वमेव वर्णितम् । सिद्धपदप्राप्तयोग्याश्च ये ते भव्याः, तद्विपरीताऽभव्याः ।। २-७ ।।

ॐ **सूत्रार्थ**–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं । 'आदि' तथा 'च' शब्द से अस्तित्व, अनादिकर्मसंतानबद्धत्व, सप्रदेशत्व, अरूपित्व, नित्यत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्व, असर्वगतत्व इत्यादि और भी जीव-आत्मा के अनेक पारिणामिक भाव होते हैं । किन्तु ये भाव जीव के असाधारण नहीं हैं क्योंकि ये अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी पाये जाते हैं ।। २-७ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

जीवत्व (चैतन्य), भव्यत्व (मुक्ति की योग्यता) और अभव्यत्व (मुक्ति की अयोग्यता) ये तीन भाव स्वाभाविक रूप हैं । अर्थात्–न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं । वे अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं । इसलिए इन्हें **पारिणामिक भाव** कहते हैं ।

इस सूत्र में रहे हुए **'आदि'** और **'च'** शब्द से अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्व, प्रदेशत्व, असंख्यात प्रदेशत्व, असर्वगतत्व तथा अरूपत्व इत्यादिक और भी जीव-आत्मा के अनेक अनादि पारिणामिक भाव होते हैं । किन्तु ये भाव जीव-आत्मा के असाधारण भाव नहीं हैं । कारण कि ये धर्मास्तिकाय इत्यादिक द्रव्यों में भी पाये जाते हैं ।

(१) **प्रश्न**—क्या इस सूत्र में कथित तीन ही पारिणामिक भाव हैं ?

उत्तर—नहीं, और भी अनेक हैं ।

(२) **प्रश्न**—कौनसे पारिणामिक भाव अनेक हैं ?

उत्तर—अस्तित्वादिक अनेक हैं ।

(३) **प्रश्न**—अस्तित्वादि अनेक होते हुए फिर तीन ही क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर—यहाँ पर जीव-आत्मा का स्वरूप-कथन ही इष्ट है, अतः उसके असाधारण भाव ही कहे गये हैं ।

यहाँ औपशमिकादिक भावों के साथ ही पारिणामिक भाव भी कहे गये हैं, जो असाधारण हैं। अस्तित्व आदि भी अवश्य पारिणामिक हैं, पर वे जीव-आत्मा की भाँति अजीव में भी हो जाते हैं। अतः वे जीव-आत्मा के असाधारण भाव नहीं कहलाते हैं। इस कारण से ही यहाँ पर उनका निर्देश नहीं किया गया है, तो भी इनको आदि शब्द का ग्रहण करके साधारणतया सूचित किया है, जो जीव-आत्मा में ही पाये जाते हैं। ऐसे विशेष रूप में असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं इसीलिए उनका नाम लेकर उल्लेख किया है।

इस प्रकार औपशमिकादिक पाँच भाव जो कहे हैं, वे जीव-आत्मा के स्वतत्त्व-निजस्वरूप हैं। वे जीव-आत्मा में ही पाये जाते हैं, अन्य में नहीं। इनके बिना जीव-आत्मा के साधारण स्वतत्त्व अस्तित्वादिक भी हैं। इन औपशमिकादिक पाँच भावों के २+९+१८+२१+३ मिलाने से कुल ५३ भेद होते हैं।

इस सूत्र का भावार्थ यही है कि असंख्यातप्रदेशी चेतनता को **जीवत्व** कहते हैं। भव्यत्व तथा अभव्यत्व का लक्षण पहले कह चुके हैं कि जो सिद्ध-मुक्ति पद को प्राप्त करने के योग्य है, उसको **'भव्य'** कहते हैं तथा जो सिद्ध-मुक्ति पद को प्राप्त नहीं कर सकता है, उसको **'अभव्य'** कहते हैं। अस्तित्वादिक साधारण भावों का अर्थ स्पष्ट है। (अ. २, सू. ७)

जीवस्य लक्षणम्

सूत्रम्–

उपयोगो लक्षणम् ॥ २-८ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीवस्य लक्षणं भवति **उपयोगः**। ज्ञानदर्शनस्य प्रवृत्तिः उपयोगः। लक्षणस्यापि द्वौ भेदो आत्मभूतानात्मभूतौ। अनुप्रविष्टरात्मभूतः। अनुप्रविष्टरहितश्च तस्यानुगमकानात्मभूतः। जीवोपयोगात्मभूतः। त्रिभिर्दोषः रहितस्यायम् ॥ २-८ ॥

❋ **सूत्रार्थ**–जीव-आत्मा का लक्षण **'उपयोग'** है। उपयोग अर्थात् चैतन्य-स्फुरणा; यह जीव-आत्मा का लक्षण है। असाधारण धर्म लक्षण कहा जाता है। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति को **उपयोग** कहते हैं ॥ २-८ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जीव, जिसको आत्मा और चैतन्य भी कहते हैं, वह अनादिसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता है, किन्तु स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष तथा अनुमानादिक से हो सकता है। तो भी सामान्य जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा लक्षण दिखाना चाहिए कि जिससे जीव-आत्मा की पहचान हो सके। यही ध्येय इस प्रस्तुत सूत्र का है। जीव-आत्मा **लक्ष्य** (ज्ञेय) है और उपयोग लक्षण अर्थात् जानने का मुख्य उपाय है।

विश्व जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों का मिश्रण है। उसमें से चेतन पदार्थों का विवेकपूर्वक निश्चय करना हो तो उनके विशिष्ट लक्षण उपयोग के द्वारा ही हो सकता है क्योंकि, वह उपयोग सभी जीव-आत्माओं में तारतम्य भाव से अवश्य विद्यमान है। जिस पदार्थ में उपयोग नहीं है, वह अजीव अर्थात् जड़ कहलाता है।

जीव-आत्मा में रहा हुआ बोधव्यापार रूप उपयोग अजीव में नहीं होता है। यह केवल जीव-आत्मा का **लक्षण** है।

औपशमिकादि पाँच भाव जीव-आत्मा में ही होते हैं, अजीव वस्तु-पदार्थ में नहीं होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि प्रत्येक अजीव वस्तु-पदार्थ में पारिणामिक तथा पुद्गल स्कन्धों में औदयिक भाव भी होता है। इसलिए वे भाव जीव-आत्मा के लक्षण नहीं, किन्तु **स्वरूप** हैं। जैसे कि अग्नि का लक्षण **उष्णता** है। जिस तरह उष्णता से अग्नि का ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञान-दर्शन उपयोग से जीव-आत्मा का ज्ञान होता है। उक्त कथन के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर रूप से भी कहा है कि—

(१) **प्रश्न**—उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर—बोधरूप व्यापार को **उपयोग** कहते हैं।

(२) **प्रश्न**—जीव-आत्मा में जैसी बोधक्रिया होती है, वैसी जड़ वस्तु-पदार्थ में क्यों नहीं होती ?

उत्तर—बोध का कारण चेतना शक्ति है। वह शक्ति जिसमें होगी उसी को बोध हो सकता है। चेतनाशक्ति-बोधशक्ति केवल जीव-आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं।

(३) **प्रश्न**—जीव-आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। इसलिए उसमें अनेक गुण होने चाहिए, फिर उपयोग को ही लक्षण क्यों कहा है ?

उत्तर—वास्तविक रूप से जीव-आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं तो भी उन सबमें उपयोग ही मुख्य है। क्योंकि स्वपर-प्रकाशक होने से उपयोग ही अपना तथा अन्य पर्यायों का ज्ञान कराता है। जीव-आत्मा जो कुछ भी अस्ति-नास्ति जानता है, उस विषय में ननुनच करता है, सुख-दुःख का भी अनुभव करता है, वह सब उपयोग के द्वारा ही। अतएव समस्त पर्यायों में उपयोग ही प्रधान-मुख्य है।

(४) **प्रश्न**—पहले जीव-आत्मा का स्वरूप औपशमिकादि पाँच भावों से कहा, अब उसका लक्षण कहते हो तो क्या लक्षण स्वरूप से पृथग्-भिन्न है ?

उत्तर—जीव-आत्मा का लक्षण स्वरूप से भिन्न नहीं है।

(५) **प्रश्न**—जब लक्षण स्वरूप से भिन्न नहीं है, तब उसे स्वरूप से भिन्न कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—औपशमिकादि पाँच भाव जीव-आत्मा के असाधारण धर्म हैं। वे जीव-आत्मा के सिवाय अन्य वस्तु-पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। किन्तु वे सभी जीव-आत्माओं में समान रूप से नहीं होते हैं। कतिपय लक्षण होते हुए भी किसी समय लक्षरूप होते हैं

ग्रौर किसी समय लक्ष रूप नहीं होते हैं तथा उनमें कितनेक भेद इस प्रकार के भी हैं कि जो किसी एक जीव-ग्रात्मा में सर्वथा नहीं होते हैं। जैसे—भव्यत्व, ग्रभव्यत्वादिक तथा कितनेक पर्याय जो त्रिकाल लक्ष रूप रहते हैं। उनमें समस्त रूप से लक्ष में रहने वाला त्रिकालवर्त्ती ग्रसाधारण धर्म उपयोग है। इसलिए तो इसको लक्षण रूप से पृथक्-भिन्न कहा है। ग्रौपशमिकादिक पाँचों भाव जीव-ग्रात्मा स्वरूप हैं। किन्तु वे समस्त जीवों-ग्रात्माग्रों में एक साथ नहीं मिलते हैं। तथा सभी त्रिकालवर्त्ती भी नहीं हैं। एक जीवत्वरूप पारिणामिक भाव ही त्रिकालवर्त्ती ग्रौर समस्त जीव-ग्रात्माग्रों में समान रूप से रहा हुग्रा है। इसलिए तो **'उपयोगो जीवलक्षणम्'** यह लक्षणरूप से पृथग्-भिन्न कहा है।

उक्त ५३ भेदों में से जीवत्व को छोड़कर शेष ५२ भेदों को हम जीव-ग्रात्मा का लक्षण भी कह सकते हैं। किन्तु वे लक्षणांश हैं, इतना ही नहीं कर्मसापेक्ष होने से उन्हें उपलक्षण भी कह सकते हैं। लक्षण ग्रौर उपलक्षण इन दोनों में विशेषता यह है कि 'मूलवस्तु वस्तुस्वरूप है' उसको लक्ष कहते हैं ग्रौर उस वस्तु में रहा हुग्रा त्रिकालवर्त्ती धर्म ग्रर्थात् जो स्वभाव लक्ष को छोड़कर कभी पृथक्-जुदा नहीं हो सकता, तीनों काल लक्ष में ही रहता है; जैसे—ग्रग्नि में उष्णता, उसको लक्षण कहते हैं। तथा जो धर्म किसी लक्ष वस्तु-पदार्थ में हो ग्रौर किसी में न भी हो; जैसे—ग्रग्नि में धुग्राँ-यह किसी समय में होता है ग्रौर किसी समय में नहीं भी होता। ग्रर्थात् जो स्वभाव-सिद्ध नहीं होता है, उसको **उपलक्षण** कहा जाता है। इसलिए उपर्युक्त सूत्र **'उपयोगो जीवलक्षणम्'** यही जीव-ग्रात्मा का **जीवत्व** लक्षण है। उस जीवत्व को छोड़कर शेष ५२ भेद कर्मसापेक्ष होने के कारण **उपलक्षण** हैं। ग्रर्थात् जीवत्व को छोड़कर भावों के बावन भेद जीव-ग्रात्मा के उपलक्षण ही हैं।

सारांश—इस सूत्र का सारांश यह है कि—ज्ञानदर्शन की प्रवृत्ति को **उपयोग** कहते हैं। ग्रनेक वस्तुग्रों-पदार्थों में मिली हुई किसी भी वस्तु-पदार्थ को जिसके द्वारा पृथक् किया जाय, उसे **लक्षण** कहते हैं। इसके दो भेद हैं। **ग्रात्मभूत** तथा **ग्रनात्मभूत**। जो लक्ष्य में ग्रनुप्रविष्ट होते हुए रहता है, उसको **ग्रात्मभूत** कहा जाता है। तथा जो लक्ष्य में ग्रनुप्रविष्ट न होकर ही उसका ग्रनुगमक होता है, उसे **ग्रनात्मभूत** कहा जाता है। जीव-ग्रात्मा का उपयोग ग्रात्मभूत लक्षण है। यह लक्षण ग्रव्याप्ति, ग्रतिव्याप्ति ग्रौर ग्रसम्भव इन तीन दोषों से सर्वथा रहित होते हुए भी त्रिकालाबाधित है। इस तरह इस सूत्र में जीव का लक्षण कहा। (ग्र. २, सू. ८)

उपयोगस्य विविधता—

सूत्रम्—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ २-९ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

जीवस्य लक्षणस्वरूपोपयोगः द्विविधः। साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः। स पुनर्यथासंख्यमष्टचतुर्भेदान्वितो भवति। ज्ञानोपयोगाऽष्टविधः। तद्यथा—मतिज्ञानोपयोगः, श्रुतज्ञानोपयोगः, ग्रवधिज्ञानोपयोगः, मनःपर्याय (पर्यव)

ज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोगश्चेति । मत्यज्ञानोपयोगः, श्रुताज्ञानोपयोगः, विभङ्गज्ञानोपयोग इति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः । तद्यथा–चक्षुर्दर्शनोपयोगः, अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अवधिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोग इति । केचित् ज्ञान-दर्शनाभ्यां भिन्नोऽपि उपयोगः । यच्च विग्रहगत्यां जीवेषु प्राप्यते । नैतद् युक्तम् यदत्र युक्त्यागमाभ्यां अन्तरायं भवति । ज्ञान-दर्शनभिन्नोपयोगः केनाऽपि प्रमाणेणाऽसिद्धम् ।। २-६ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–उपयोग के मुख्य दो भेद हैं । एक **साकार** और दूसरा **अनाकार** । ज्ञानोपयोग को साकार और दर्शनोपयोग को अनाकार कहते हैं । ज्ञानोपयोग के आठ भेद और दर्शनोपयोग के चार भेद हैं ।। २-६ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

सभी जीव-आत्माओं में जानने की शक्ति (चेतना) समान होते हुए भी जानने की क्रिया (बोध-व्यापार या उपयोग) सब में समान नहीं होती है । कारण कि, उसकी विविधता बाह्य एवं अभ्यन्तर कारणों के समूह की विविधता पर अवलम्बित है । विषय का भेद, इन्द्रियादिक साधन का भेद तथा देशकाल का भेद इत्यादि विविधताएँ बाह्य सामग्री से होती हैं तथा आवरण की तीव्रता और मन्दता का तारतम्य भाव आन्तरिक सामग्री की विविधता पर है । इस प्रकार इन सामग्रियों की विचित्रता द्वारा एक ही जीव-आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करती है और अनेक जीव-आत्माएँ एक ही समय में भिन्न-भिन्न बोधक्रियाएँ करती हैं । बोध की यह विविधता अनुभवगम्य है अर्थात् अनुभवसिद्ध है । इसको संक्षेप में वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य-प्रयोजन है ।

सामान्य रूप से उपयोगराशि के दो विभाग किये जाते हैं । एक **साकार उपयोग** और दूसरा अनाकार या **निराकार उपयोग** । विशेष रूप से साकार उपयोग के आठ भेद और निराकार उपयोग के चार भेद किये गये हैं । इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद होते हैं । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान तथा विभङ्गज्ञान । ये साकार उपयोग के आठ भेद हैं तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन; ये चार भेद निराकार उपयोग के हैं । इस बात का प्रश्नोत्तर द्वारा दिग्दर्शन निम्नप्रमाण से है—

(१) **प्रश्न**—साकार उपयोग और अनाकार-निराकार उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर—ज्ञेय वस्तु-पदार्थ का विशेष रूप से बोध वह **साकारोपयोग** है, तथा सामान्य रूप से बोध वह **अनाकार उपयोग** है । अर्थात्–जिस बोध द्वारा ग्राह्य वस्तु-पदार्थ विशेष रूप से जानने में आ जाय, उसको **साकार उपयोग** कहते हैं तथा सामान्य रूप से जानने में आए उसको अनाकार-निराकार उपयोग कहते हैं । साकार उपयोग को **ज्ञान** या **सविकल्पक बोध** कहते हैं, तथा अनाकार-निराकार उपयोग को **दर्शन** या **निर्विकल्पक बोध** कहते हैं ।

(२) **प्रश्न**–उक्त बारह भेदों में से कितने भेद पूर्ण-विकसित चेतना शक्ति के कार्यविषयी व्यापार हैं तथा कितने भेद अपूर्ण विकसित चेतना शक्ति के कार्यविषयी व्यापार हैं ?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोगपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कार्यविषयी व्यापार रूप हैं, तथा शेष दस उपयोग अपूर्ण विकसित चेतना शक्ति के कार्यविषयी व्यापार रूप हैं।

(३) **प्रश्न**—विकास की अपूर्णावस्था में तो अपूर्णता की विविधता के कारण उपयोग–भेद की सम्भावना है, किन्तु परिपूर्ण विकसित अवस्था प्राप्त होने पर भी उपयोग के भेद कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—विकास की परिपूर्णता की अवस्था में भी केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप से उपयोग-भेद मानने का कारण केवल ग्राह्य विषय की द्विरूपता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु सामान्य तथा विशेष रूप से उभय स्वभाव वाली होती है, तद् रूप जानना ही पूर्णावस्था है। इसलिए उसको जानने वाला चेतनाजन्य व्यापार भी ज्ञान और दर्शन के रूप में दो प्रकार का होता है।

(४) **प्रश्न**—साकार उपयोग के आठ भेदों में ज्ञान और अज्ञान में क्या विशेषता है ?

उत्तर—ज्ञान सम्यक्त्व सहभावी है तथा अज्ञान असहभावी है। दोनों में यही परस्पर विशेषता है। अर्थात्—केवल सम्यक्त्व के सहभाव या असहभाव का ही अन्तर दोनों में है और कुछ नहीं है।

(५) **प्रश्न**—तो फिर सभी ज्ञानों का प्रतिपक्षी **अज्ञान** तथा सभी दर्शनों का भी प्रतिपक्षी **अदर्शन** क्यों नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर—पाँच ज्ञानों में मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के बिना नहीं होते हैं, इसलिए इनका प्रतिपक्षी अज्ञान नहीं है। दर्शनों में केवलदर्शन सम्यक्त्व के बिना नहीं होता है, इसलिए इसका प्रतिपक्षी अदर्शन नहीं है। शेष तीन (चक्षु-अचक्षु-अवधि) दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते हैं। किन्तु इनका प्रतिपक्षी दर्शन नहीं कहने का कारण यह है कि दर्शन सामान्य मात्र का बोध है। इसलिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का कोई भेद दर्शनविषयी व्यवहार में नहीं बताया जा सकता है।

(६) **प्रश्न**—उपर्युक्त बारह भेदों की व्याख्या क्या है ?

उत्तर—मतिज्ञानादिक आठ भेदों का स्वरूप–वर्णन इस तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथमाध्याय में सूत्र ६ से ३३ पर्यन्त में कहा जा चुका है। यहाँ दर्शन के चार भेदों का स्वरूप वर्णन इस प्रकार है—

[१] नेत्र बिना अन्य किसी भी इन्द्रिय से या मन से होने वाले सामान्य बोध को **'अचक्षुदर्शन'** कहते हैं।

[२] नेत्रजन्य सामान्य बोध को **'चक्षुदर्शन'** कहते हैं।

[३] अवधिलब्धि से मूर्त्त पदार्थों के सामान्य बोध को **'अवधिदर्शन'** कहते हैं। अर्थात्—इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल रूपी पदार्थों के सामान्य बोध को **'अवधिदर्शन'** कहते हैं।

[४] केवललब्धिजन्य रूपी-अरूपी समस्त पदार्थों के सामान्य बोध को **'केवलदर्शन'** कहते

हैं अर्थात्—विश्व की प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष स्वभाव वाली होती है। उन समस्त वस्तुओं पदार्थों के सामान्य धर्मविषयी अवबोध को **'केवलदर्शन'** कहा जाता है।

इस तरह इस सूत्र में उपयोग की विविधता प्रतिपादित की है अर्थात् उपयोग के भेदों का वर्णन किया है। (अ. २, सू. ९)

जीवराशिविभागाः—

सूत्रम्–

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ २-१० ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति। तद्यथा-संसारिणो मुक्ताश्च। संसरणं परिभ्रमणमेव। यत्र प्राप्यते संसरणं ये च चतुर्गतिरूपसंसारे परिभ्रमन्ति। अथवा भ्रमणहेतुकर्मणां ये संयुक्तास्ते संसारिणः रहिताश्च मुक्ताः। यद्यपि जीवानां द्वयोः भेदयोः मुक्ताभ्यर्हितः ॥ २-१० ॥

❀ **सूत्रार्थः**–जीव के संक्षेप से दो भेद हैं। संसारी और मुक्त। अर्थात्–संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के होते हैं ॥ २-१० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जीव अनन्त हैं और चैतन्य-चेतना रूप से वे सभी एक समान हैं। यहाँ पर उनके दो भेद पर्यायविशेष के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से कहे गये हैं। अर्थात् एक संसार रूप पर्याय वाले हैं और दूसरे मोक्षपर्याय वाले हैं। पहले प्रकार के जीवों को संसारी कहते हैं तथा दूसरे प्रकार के जीवों को मुक्त कहते हैं। जो जीव कर्म के वशीभूत हुए चौरासी लाख जीवायोनियों में और नरकादिक चारों गतियों में जन्म-मरण करते हुए परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं तथा मोक्ष में गये हुए मुक्त जीवों का संसार में फिर आवागमन नहीं है। कारण कि वे सभी जन्म, जरा और मरण के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गये हैं। इसलिए वे मुक्त कहलाते हैं।

बन्धन दो प्रकार के हैं—द्रव्यबन्धन और भावबन्धन। कर्मदल का विशिष्ट सम्बन्ध **द्रव्यबन्धन** है तथा राग-द्वेषादिक वासनाओं का सम्बन्ध **भावबन्धन** है। ये ही जीव-आत्माओं के लिये संसार रूप हैं।

द्रव्यबन्धन जीव–आत्माओं को तेरहवें सयोगी गुणस्थानक तक रहता है और भावबन्धन दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानक पर्यन्त रहता है। मुक्तात्मा में न तो द्रव्यबन्धन है और न भाव-बन्धन है। सर्व कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त केवल मुक्तात्मा तरीके मोक्ष के सभी जीव हैं।

(अ. २, सू. १०)

संसारीजीवानां भेदप्रभेदाः—

सूत्रम्—

समनस्काऽमनस्काः ॥ २-११ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

उपर्युक्तानां संसारिणां जीवानां द्वौ भेदौ भवतः। समनस्काश्च अमनस्काश्च। तान् पुरस्तात् वक्ष्यामः। मनसः युक्ताः समनस्काः, मनरहिता अमनस्काः। नारक-देवगर्भजमनुष्यतिर्यंचाः समनस्काः। अन्ये चाऽमनस्काः। शिक्षाक्रियाकलापादीन् गृह्णन्ति च ये ते समनस्काः। मनसोऽपि द्वौ भेदौ द्रव्यमनःभावमनश्च। मनोवर्गणाष्ट-दलकमलाकारनिर्मितः अन्तःकरणं द्रव्यमनः। जीवस्योपयोगरूपपरिणामभावमन-श्चेति ॥ २-११ ॥

❀ **सूत्रार्थः**—संसारी जीवों के संक्षेपतः दो भेद हैं—[१] समनस्क (संज्ञी) और [२] अमनस्क (असंज्ञी)। अर्थात्—संसारी जीव मन सहित और मनरहित के भेद से दो प्रकार के हैं। सिद्ध जीवों के मन नहीं होता है ॥ २-११ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

संसारी जीव अनन्त हैं। संक्षेप में उनके दो विभाग हैं। समनस्क और अमनस्क। अर्थात् मनसहित और मनरहित। इस तरह संसारी जीवों के दो विभाग किये गये हैं। जो मन सहित हैं उनको **समनस्क** (संज्ञी) कहते हैं तथा जो मनरहित हैं उनको **अमनस्क** (असंज्ञी) कहते हैं। अर्थात्—मन सहित जीव **संज्ञी** और मनरहित जीव **असंज्ञी** कहलाते हैं।

मन भी दो प्रकार का है। एक **द्रव्यमन** और दूसरा **भावमन**। मनोवर्गणाओं के द्वारा अष्टदल कमल के आकार में बने हुए अन्तःकरण-हृदय को **द्रव्यमन** कहते हैं और जीव-आत्मा के उपयोग रूप परिणाम को **भावमन** कहते हैं। मनन करने के लिए ग्रहण किये हुए मनोवर्गणा के पुद्गल ही द्रव्यमन हैं, तथा ग्रहण किये हुए मनोवर्गणा के पुद्गलों द्वारा मनन यानी विचार करने की जो शक्ति वही भावमन है। ये दोनों प्रकार के मन जिनके होते हैं, वे ही समनस्क (संज्ञी) हैं तथा जिनके ये नहीं होते हैं वे अमनस्क (असंज्ञी) हैं।

नारकी, देव, गर्भज मनुष्य तथा गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच, ये समस्त जीव समनस्क (संज्ञी) होते हैं। शेष एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त के तथा संमूर्छिम पंचेन्द्रिय जीव सभी अमनस्क (असंज्ञी) होते हैं।

समनस्क=संज्ञी जीव मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उनकी सहायता से विचार करते हैं।

अमनस्क=असंज्ञी जीव विशिष्ट प्रकार की शक्ति के अभाव से मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

सिद्ध जीव संज्ञी, असंज्ञी के भेद से रहित होते हैं। (अ. २, सू. ११)

अन्यरीत्या संसारिणः द्विविधाः—

सूत्रम्–

संसारिणस्त्रस–स्थावराः ॥ २-१२ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

संसारिणो जीवाः द्विविधा भवन्ति। त्रसाः स्थावराश्चेति। त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावराः। स्पन्दनशीलाः जीवाः त्रसाः, उक्तक्रियारहिताश्च जीवाः स्थावराः। पुनः त्रसनामकर्मोदयाद् जीवाः त्रसाः स्थावरनामकर्मोदयाच्च जीवाः स्थावराः अस्मिन्नपि संसारिणः समायुक्ताः ॥ २-१२ ॥

❋ **सूत्रार्थ**–संसारी जीव दो प्रकार के हैं। एक **त्रस** (गति करने वाले), और दूसरे **स्थावर** (गति नहीं करने वाले) इस तरह दो प्रकार के संसार के जीव हैं ॥ २-१२ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

त्रस और स्थावर इन दो भेदों से संसारी जीव दो भेदों में विभक्त हैं।

जिनके त्रसनामकर्म के उदय से सुख-दुःखादिक का अनुभव स्पष्टतया होता है, उनको **त्रस** कहते हैं। तथा जिनके स्थावर नामकर्म के उदय से उनका अनुभव स्पष्टतया नहीं होता है, उनको **स्थावर** कहते हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ निरुक्ति के अनुसार कोई-कोई ऐसा भी करते हैं कि—जो चलता-फिरता है वह **त्रस** है और जो एक जगह-स्थान पर स्थिर रहे वह **स्थावर** है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से वायुकाय के जीवों को भी त्रस मानना पड़ेगा तथा बेइन्द्रियादिक भी कुछ जीव ऐसे हैं, जो एक ही जगह-स्थान पर रहते हैं उनको भी स्थावर कहना पड़ेगा। इन दोनों भेदों में परस्पर संक्रम भी पाया जाता है। त्रस जीव मृत्यु पाकर स्थावर हो सकते हैं, तथा स्थावर जीव भी मृत्यु पाकर त्रस हो सकते हैं किन्तु ऐसा होते हुए भी इनमें त्रस पर्याय की प्रधानता है। कारण कि उनके सुख-दुःखादिक का अनुभव स्पष्टतया होता है। पूर्व के सूत्र में संसारी जीव के सम्बन्ध में समनस्क (मनसहित) और अमनस्क (मनरहित) दो भेद किये गये है, जिनमें समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। उसी तरह इस सूत्र में भी त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

(अ. २, सू. १२)

स्थितिशीलजीवाः—

सूत्रम्—

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ २-१३ ॥

* सुबोधिका टीका *

स्थावरजीवाः त्रिविधाः भवन्ति। तद्यथा—पृथ्वीकायिकाः, अप्कायिकाः, वनस्पतिकायिकाश्चेति। तत्र पृथ्वीकायिकोऽनेकविधः शुद्धपृथिवी-शर्करा-वालुकादिः। अप्कायोऽनेकविधः हिमादिः। वनस्पतिकायोऽपि अनेकविधः शैवलादिः। अत्र स्थावरत्रसशब्दार्थोऽपि द्विविधः क्रियापेक्षया कर्मोदयापेक्षया च। क्रियापेक्षया ये गति-हीनाः स्थानशीलाश्च ते स्थावराः। कर्मोदयापेक्षया स्थावरकर्मोदयाः, कर्मापेक्षया अग्निकाय–वायुकायौ अपि स्थावरौ ॥ २-१३ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव स्थावर हैं। अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय ये तीन काय के जीव स्थावर हैं। क्योंकि वे सभी स्थितिशील हैं ॥ २-१३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं। पृथिवीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक। इन तीनों में से **पृथिवीकायिक जीव**-शुद्ध पृथिवी शर्करा, बालुका, मृत्तिका, उपल इत्यादि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। अर्थात्—सर्व प्रकार की सचित्त मिट्टी के जीव **पृथ्वीकाय** हैं। **अप्कायिक जीव**—हिमादिक के भेद से अनेक प्रकार के हैं। अर्थात्—सर्व प्रकार के सचित्तपानी-जलरूप जीव **अप्काय** हैं। तथा **वनस्पतिकायिक जीव**—शैवल, मलक, आर्द्रक, पणक, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म एवं लता इत्यादि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। अर्थात्—सर्व प्रकार की सचित्त (लीली) हरी वनस्पति के जीव **वनस्पतिकाय** हैं। सर्व प्रकार की बेल, छोटे-बड़े छोड़वाँ, सभी प्रकार के तृण-घास, छोटे-बड़े वृक्ष, वृक्ष के पल्लव फूल, फल, अनाज इत्यादि का वनस्पतिकाय में समावेश होता है। (अ. २, सू. १३)

गतिशीलजीवाः—

सूत्रम्—

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ २-१४ ॥

* सुबोधिका टीका *

तेजःकायिका अङ्गारादयः, वायुकायिका उत्कलिकादयः, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रिया-श्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया एते त्रसाः भवन्ति। संसारिणस्त्रसाः स्थावरा इत्युक्ते

एतदुक्तं भवति, मुक्ताः नैव त्रसाः नैव स्थावरा इति। अत्र स्पष्टं यत् मुक्तजीवाः न त्रसाः न च स्थावराः। ते संसारी-अवस्थया सर्वथा रहिता एव भवन्ति ॥ २-१४ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—अग्निकायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव **त्रस** हैं। अर्थात्–तेउकाय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय, जीव **त्रस** कहलाते हैं। कारण कि ये जीव गतिशील हैं ॥ २-१४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद हैं। जैसे—अङ्गार, किरण, ज्वाला, मुर्मुर, शुद्धाग्नि अर्थात्—अग्नि, दीपक-दीवा, बत्ती, बिजली आदि तेउकाय अर्थात्–अग्निकायिक जीव हैं। वायुकायिक जीवों के अनेक भेद हैं। घनवात, तनुवात, उद्भ्रामक, उत्कलिका, मंडली इत्यादि। पवन, वायु वगैरह वायुकाय के जीव हैं। जिस तरह पूर्वसूत्र में स्थावर जीवों का उल्लेख क्रिया की मुख्यता से किया गया है। उसी तरह इस सूत्र में त्रस जीवों का भी विधान क्रिया की ही मुख्यता से जानना चाहिए। कारण कि, कर्म की अपेक्षा से बेइन्द्रियादिक जीव भी त्रस हैं।

पाँच स्थावरों के समान बेइन्द्रियादिक जीवों के भी अनेक भेद हैं। जैसे–शंख, शुक्ति, गिंडोला, कौड़ी और चनूना इत्यादि **बेइन्द्रिय** जीव हैं। घुण, मत्कुण (खटमल), जूं, चींटी इत्यादि **तेइन्द्रिय** जीव हैं। बिच्छू, भ्रमर, मक्खी, मच्छर, बर्र, पतंग और तितली इत्यादि **चउरिन्द्रिय** जीव हैं। सर्प, पक्षी, मत्स्यादि और मनुष्य तथा पशु **पंचेन्द्रिय** जीव हैं।

पाँच स्थावर जीवों के तथा त्रस जीवों के देह-शरीर का आकार इस प्रकार है—

- पृथ्वीकाय जीवों के देह-शरीर का आकार मसूर के समान है।
- अप्काय जीवों के देह-शरीर का आकार जलबिन्दु के समान है।
- तेउकाय जीवों के देह-शरीर का आकार सुइयों के पुंज के समान है।
- वायुकाय जीवों के देह-शरीर का आकार ध्वजा के समान है।
- वनस्पतिकाय जीवों के तथा त्रसकाय जीवों के देह-शरीर का आकार अनेक प्रकार का है।

यहाँ विशेष यह है कि–जो जीव त्रसनामकर्म के उदय से इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए और अनिष्ट वस्तु को दूर करने के लिए गति कर सकता है वह **'त्रस'** जीव कहा जाता है तथा जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए और अनिष्ट वस्तु को दूर करने के लिए गति नहीं कर सकता है वह **'स्थावर'** जीव कहा जाता है। इस दूसरी व्याख्या के आधार पर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाँचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव **'स्थावर'** हैं तथा बेइन्द्रियादि जीव **'त्रस'** हैं।

सारांश यह है कि—प्रथम व्याख्या के अनुसार तेउकाय और वायुकाय के जीव **त्रस** हैं, तथा द्वितीय व्याख्या के अनुसार **स्थावर** हैं। बेइन्द्रियादि जीव दोनों व्याख्याओं के अनुसार **त्रस** ही हैं। इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए अब प्रश्नोत्तर रूप में नीचे प्रमाणे कहते हैं—

(१) **प्रश्न**—मन किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके द्वारा विचार किया जा सके, उस आत्मशक्ति को **मन** कहते हैं। अथवा आत्मशक्ति द्वारा ग्रहण किये हुए विचारात्मक मनवर्गणा के सूक्ष्म परमाणुओं को भी **मन** कहते हैं। आत्मशक्ति को **भावमन** कहते हैं तथा मनोवर्गणा के सूक्ष्म परमाणुओं को **द्रव्यमन** कहते हैं।

(२) **प्रश्न**—मनरहित जीवों के द्रव्यमन या भावमन होता है या नहीं ?

उत्तर मनरहित जीवों के केवल **भावमन** ही होता है।

(३) **प्रश्न**—तब तो समस्त जीव मन वाले हुए, फिर समनस्क (मनसहित) और अमनस्क (मनरहित) का भेद क्यों ?

उत्तर—द्रव्यमन की अपेक्षा से ये भेद किये गये हैं। जैसे वृद्ध मनुष्य पाँव और चलने की शक्ति होते हुए भी लकड़ी के सहारे बिना नहीं चल सकता, वैसे ही इधर भाव मन होते हुए भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं कर सकता, इसलिए द्रव्य मन की मुख्यता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मनसहित और मनरहित विभाग किये गये हैं।

(४) **प्रश्न**—दूसरा विभाग करने का कहीं यह अर्थ तो नहीं है कि समस्त त्रस जीव समनस्क हैं और सभी स्थावर जीव अमनस्क हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं, किन्तु त्रस जीवों में भी कितनेक समनस्क (मनसहित) होते हैं, समस्त नहीं। तथा स्थावर जीव तो समस्त अमनस्क (मनरहित) ही होते हैं। स्थावर जीवों के पृथिवीकाय, अप्काय, और वनस्पतिकाय ये तीन भेद हैं। त्रस जीवों के तेउकाय और वायुकाय ये दो भेद हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार भेद भी हैं।

(५) **प्रश्न**—त्रस और स्थावर का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिसके त्रसनामकर्म का उदय हो, वह **त्रस** है तथा जिसके स्थावरनामकर्म का उदय हो वह **स्थावर** है।

(६) **प्रश्न**—त्रसनामकर्म के उदय की तथा स्थावरनामकर्म के उदय की क्या पहचान है ?

उत्तर—जिसमें दुःख को दूर करने की और सुख को प्राप्त करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में दिखाई देती हो, वह त्रसनामकर्म का उदय है। तथा जिसमें दुःख को दूर करने की और सुख को प्राप्त करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में दिखाई न देती हो वह स्थावरनामकर्म का उदय है। यही त्रसनामकर्म के उदय की तथा स्थावरनामकर्म के उदय की पहचान है।

(७) **प्रश्न**—बेइन्द्रियादि जीवों की तरह तेउकाय तथा वायुकाय जीव भी स्पष्ट रूप से गतिस्वभावी दिखते हैं तो क्या वे भी त्रस हैं ?

उत्तर—वे त्रस नहीं हैं।

(८) **प्रश्न**—तो फिर उनको पृथ्वीकाय आदि के समान स्थावर क्यों नहीं कहा है ?

उत्तर—उक्त लक्षण के अनुसार वे वास्तविकपने स्थावर ही हैं। यहाँ तो बेइन्द्रियादि के साथ गति की समानता देखकर उनको त्रस कहा है। अर्थात् त्रस दो प्रकार के होते हैं। एक **गतित्रस** और दूसरे **लब्धित्रस**। जिनके गतिनामकर्म का उदय है वे वास्तविक रूप से **लब्धित्रस** हैं। जैसे—बेइन्द्रिय जीव से लगाकर यावत् पंचेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय जीवों के स्थावरनामकर्म का उदय है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में तेउकाय तथा वायुकाय को त्रस माना है। यहाँ मात्र गतित्रस की ही सापेक्षता है। वास्तविक रूप से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये सभी स्थावर हैं तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये त्रस हैं। स्थावर सर्वथा मनरहित होते हैं और कितनेक त्रस मन वाले होते हैं तथा कितनेक मनरहित भी होते हैं। (अ. २, सू. १४)

इन्द्रियाणां संख्याः—

सूत्रम्—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ २-१५ ॥

* सुबोधिका टीका *

इन्द्रियाणि पञ्च भवन्ति। अस्य सूत्रस्यारम्भः नियमार्थकः। षडादि-प्रतिषेधार्थश्च। इन्द्रियाणि पञ्चैव, न तु षट् न च चत्वारः। इन्द्रस्य लिङ्गं इन्द्रियम्, इन्द्रलिङ्गमिन्द्रादिष्टामिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति। इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगात् विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। लिङ्गनात् सूचनात् प्रदर्शनात् उपष्टम्भनात् व्यञ्जनाद् वा जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्रियाणि एव चैतन्यं लिङ्गति। इन्द्रियप्रवृत्ति दृष्ट्वाऽनुमीयते यत् शरीरे जीवस्यास्तित्वम्। किन्तु सर्वेषु जीवेषु पञ्चेन्द्रियाणामभावः। केचिद् द्वि, केचित् त्रि, केचित् चतुरिन्द्रियाः भवन्ति जीवाः ॥ २-१५ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥ २-१५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

यहाँ इन्द्रियों की संख्या के निर्देश का उद्देश्य यह है कि इस पर से संसारी जीवों के विभाग करने हों तो कितने विभाग हो सकते हैं। इन्द्र यानी आत्मा, उसके पहचान की निशानी वह इन्द्रिय। देह-शरीर में आत्मा है या नहीं, वह इन्द्रियों से जान सकते हैं। वे इन्द्रियाँ पाँच हैं। समस्त संसारी जीवों के पूर्ण पाँच इन्द्रियाँ नहीं हैं। किसी के एक, किसी के दो, किसी के तीन, किसी के चार और किसी के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। एक इन्द्रियवाले जीव एकेन्द्रिय, दो इन्द्रियवाले जीव बेइन्द्रिय, तीन इन्द्रियवाले जीव तेइन्द्रिय, चार इन्द्रियवाले जीव चउरिन्द्रिय एवं पाँच इन्द्रियवाले जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं; इस प्रकार संसारी जीवों के पाँच भेद होते हैं। पाँच

इन्द्रियों के नाम (स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय) स्वयं सूत्रकार वाचकप्रवर श्रीउमास्वाति महाराज इस दूसरे अध्याय के बीसवें सूत्र में कहेंगे। (अ. २, सू. १५)

इन्द्रियभेदाः—

सूत्रम्–

द्विविधानि ॥ २-१६ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

द्विविधानीन्द्रियाणि भवन्ति। द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि च। आत्मनः असंख्येयप्रदेशापेक्षया अनन्तपुद्गलप्रदेशैः आकृतिविशिष्टानि द्रव्येन्द्रियाणि। कर्मणः क्षयोपशमापेक्षया आत्मनः विशिष्टपरिणतिः भावेन्द्रियत्वम् ॥ २-१६ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–पाँचों इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो-दो प्रकार की हैं। अर्थात्–प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय इस तरह दो भेद हैं ॥ २-१६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। एक **द्रव्येन्द्रिय** और दूसरी **भावेन्द्रिय**। जीव-आत्मा में रहे हुए असंख्यात प्रदेशों के द्वारा जो तत् तत् इन्द्रिय का आकार विशेष बनता है, उसे **द्रव्येन्द्रिय** कहा जाता है। तथा कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा जीव-आत्मा की जो परिणति विशेष होती है, उसे **भावेन्द्रिय** कहा जाता है। (अ. २, सूत्र १६)

द्रव्येन्द्रियभेदाः—

सूत्रम्–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ २-१७ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

द्रव्येन्द्रियस्य द्वौ भेदौ स्तः। निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रियं च। निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानोन्द्रियद्वाराणि कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः। निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्ययामूलगुणनिर्वर्तनेति। उपकरणं बाह्याभ्यन्तरश्च। निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति ॥ २-१७ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। (१) **निर्वृत्ति इन्द्रिय** और (२) **उपकरणेन्द्रिय**। (१) निर्माणनामकर्म और अङ्गोपाङ्गनामकर्म के निमित्त से भावेन्द्रिय के जिन द्वारों की रचना होती है, देह-शरीर के उस सस्कृत प्रदेश को **'निर्वृत्ति इन्द्रिय'**

कहते हैं। (२) जो निर्वृत्ति इन्द्रिय की स्थिति आदि में सहायता करती है, वह **'उपकरण इन्द्रिय'** कही जाती है ॥ २-१७ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से दो प्रकार की हैं। **निर्वृत्ति** यानी विशिष्ट आकार-आकृति की रचना। देह-शरीर पर दिखने वाली इन्द्रियों की पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना के रूप में जो आकार-आकृतियाँ हैं, उनको **निर्वृत्तिइन्द्रिय** कहते हैं। तथा निर्वृत्तिइन्द्रिय की बाहर एवं भीतर की पौद्गलिक शक्ति को **उपकरण इन्द्रिय** कहते हैं। जिसके बिना निर्वृत्ति इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ है।

सारांश यह है कि—अंगोपांग नामकर्म से एवं निर्माण नामकर्म के उदय से देह-शरीर के अंगोपांग की योग्य स्थान में जो प्रदेशरचना होती है, उसे निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। वह बाह्य और अभ्यन्तर रूप दो प्रकार से है। उस निर्वृत्ति इन्द्रिय की रक्षा के लिए उपकरण इन्द्रिय है। जैसे—नेत्र-आँख की रक्षा के लिए डोला, पलक, भांफणादि हैं। उक्त निर्वृत्ति और उपकरण दोनों द्रव्येन्द्रिय कहलाती हैं, तथा जड़ रूप भी हैं। वह निर्वृत्ति इन्द्रिय अनुपघात तथा अनुग्रह होने से उपकरण यानी उपकारी हो सकती है। वास्तविक रूप से नेत्र-आँख के आकार विशेष को बाह्य द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। तथा उसमें रही हुई काली टीकी में लौकिक शक्ति है, उसको अभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय कहते हैं अथवा निर्वृत्ति इन्द्रिय की बाह्य अभ्यन्तर पौद्गलिक शक्ति जिसके बिना निर्वृत्ति इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ रहती है, उसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। इस विषय को समझने हेतु असि यानी तलवार का उदाहरण कहा जाता है। बाह्यनिर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय असि-तलवार के समान है। अभ्यन्तरनिर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय असि-तलवार की धार समान है तथा उपकरण-द्रव्येन्द्रिय असि-तलवार की धार में रही हुई काटने की तीक्ष्ण शक्ति समान है।

बाह्य निर्वृत्ति रूप द्रव्येन्द्रिय का आकार मनुष्यादिक जीवों में भिन्न होता है। **अभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय** का आकार निम्न प्रमाण से है—

स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनियत है, शेष चारों इन्द्रियों का आकार नियत है।

- श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार यवनाली के समान है या चम्पा के पुष्प-फूल या वाजिंत्र के आकार है।
- चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र-आँख) का आकार मसूर की दाल के समान है या चन्द्र के आकार है।
- घ्राणेन्द्रिय (नासिका-नाक) का आकार अतिमुक्तक पुष्प-फूल के समान है।
- रसनेन्द्रिय (रसना-जिह्वा) का आकार अस्त्र (क्षुरप्र-खुरपी) के समान है।
- स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा, चामड़ी) का आकार शरीर के अनुसार अनेक प्रकार का होता है।

अभ्यन्तरनिर्वृत्ति रूप इन्द्रिय का प्रमाण निम्नलिखित प्रकार से है—

१. रसना (जीभ) इन्द्रिय का दो हाथ से नौ हाथ का प्रमाण है।

२. स्पर्शेन्द्रिय का स्व-शरीर प्रमाण है।

३. शेष इन्द्रियों का अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

बाह्य और अभ्यन्तर उपकरण निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय का बाह्य चीज-वस्तु से घात होने देते नहीं, तथा अपने कार्य में सहायता करते हैं। अतएव जिन बाह्य पदार्थों से उन इन्द्रियों को सहायता मिलती है, उनको उत्तरगुणनिर्वर्तना कहा जाता है। [इससे मूलगुणनिर्वर्तना शब्द उत्तरगुणनिर्वर्तना को भी सूचित करता है।] जैसे—नेत्र-आँख के लिए अञ्जन आदि के द्वारा संस्कार करना। (अ. २, सू. १७)

भावेन्द्रियाणां भेदाः—

सूत्रम्–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ २-१८ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

भावेन्द्रियस्यापि द्वौ भेदौ। लब्धिरुपयोगस्तु भावेन्द्रियं भवति। लब्धिर्नाम-गतिजात्यादिनामकर्मजनिता तदावरणीयकर्म क्षयोपशमजनिता च। इन्द्रियाश्रय-कर्मेन्द्रियनिर्वृता च जीवस्य भवति। लब्धेः पञ्चप्रकाराः सन्ति। तद्यथा–(१) स्पर्श-नेन्द्रियलब्धिः, (२) रसनेन्द्रियलब्धिः, (३) घ्राणेन्द्रियलब्धिः, (४) चक्षुरिन्द्रिय-लब्धिः, (५) श्रोत्रेन्द्रियलब्धिश्चेति। लब्धेरर्थः प्राप्तिः। उपर्युक्तकर्मोदयहेतुना तत् तद् इन्द्रियावरणकर्मक्षयोपशमैः जीवस्य तदेन्द्रियविषयग्राह्यशक्तिः उद्भूयते। एतदैव लाभः लब्धिः। इन्द्रियभेदैः लब्धेः पञ्चभेदाः ।। २-१८)

❋ **सूत्रार्थ**–भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं। **लब्धिभावेन्द्रिय** और **उपयोग भावेन्द्रिय**। गति, जाति, देह-शरीरादि नामकर्म के उदय और इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से जीव को पाँचों इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने की जो शक्ति प्राप्त होती है, उस लाभ को ही **लब्धि** कहते हैं ।। २-१८ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है। अर्थात्—भाव इन्द्रिय के लब्धि और उपयोग रूप दो भेद हैं। लब्धि यानी लाभ। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ज्ञानशक्ति का लाभ, वह **लब्धि** है। उपयोग यानी व्यापार। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिली हुई ज्ञानशक्तिरूप लब्धि का व्यापार वह **उपयोग** है। जीव के गति, जाति, देह-शरीरादि कर्मों के उदय से तथा इनके आवरणीय कर्मों के क्षयोपशम से एवं इन्द्रिय आश्रयभूत कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होता है, उसे ही **लब्धि भावेन्द्रिय** कहते हैं। इसके होने से उस-उस इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने की

जीव-आत्मा में योग्यता प्राप्त होती है। अतएव इन्द्रियभेद से इस भावेन्द्रिय लब्धि के भी पाँच भेद हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) स्पर्शेन्द्रिय लब्धि, (२) रसनेन्द्रिय लब्धि, (३) घ्राणेन्द्रिय लब्धि, (४) चक्षुरिन्द्रिय लब्धि और (५) श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि। उपर्युक्त निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि इन तीनों के सम्मिलित होने से जो रूपादि विषयों का सामान्य और विशेष बोध होता है, उसे **उपयोग भावेन्द्रिय** कहते हैं। इनके पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन रूप बारह भेद हैं। उपयोगेन्द्रिय मतिज्ञान रूप तथा चक्षु-अचक्षु दर्शनरूप हैं।

यहाँ उपयोग शब्द से मतिज्ञानादिक पाँचों प्रकार का सम्यग्ज्ञान अथवा तीन अज्ञान युक्त आठों ही प्रकार का उपयोग लिया जा सकता है। किन्तु अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान उपयोग शब्द से अभीष्ट नहीं है क्योंकि वे इन्द्रियों की तथा उनके कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिए यहाँ पर उपयोग शब्द से कौनसा उपयोग लेना चाहिए, इसे बताने के लिए अब आगे के सूत्र में कहते हैं। (अ. २, सू. १८)

उपयोगस्य विषयाणि—

सूत्रम्—

उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ २-१९ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

स्पर्शादिषु मतिज्ञानोपयोगः। स्पर्शादिविषयाणां मतिज्ञानं एव अत्रोपयोगः। वस्तुतः उपयोगः प्रणिधानम्। आयोगस्तद्भावः परिणाम इति। एषां च सत्यां निर्वृत्तावुपकरणोपयोगौ भवतः। सत्यां च लब्धौ निर्वृत्युपकरणोपयोगा भवन्ति। निर्वृत्यादीनामेकतराभावेऽपि विषयालोचनं न भवति। निवृत्तौ सति एवोपकरणोपयोगौ। तथा च लब्धिभावे एव निर्वृत्ति-उपकरणोपयोगः। निर्वृत्याभावे उपकरणाभावः। उपकरणाभावे उपयोगप्रवृत्याभावः॥ २-१९ ॥

❀ **सूत्रार्थ—**मतिज्ञान की वह प्रवृत्ति जिसके द्वारा स्पर्शनादि इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्दादि प्रतिनियत विषय ग्रहण किये जाते हैं, उसे **उपयोग** कहते हैं। उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है॥ २-१९ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

मतिज्ञानरूप उपयोग जिसे भावेन्द्रिय कहा गया है, वह अरूपी (अमूर्त) पदार्थों को जान सकता है, किन्तु उनके समस्त गुण एवं पर्यायों को नहीं जान सकता है। मात्र स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द पर्यायों को ही जान सकता है।

(१) स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श को जानने में उपयोग प्रवर्त्तता है।

(२) रसनेन्द्रिय के द्वारा रस को जानने में उपयोग प्रवर्त्तता है।

(३, घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध को जानने में उपयोग प्रवर्त्तता है।

(४) चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा वर्ण (रूप) को जानने में उपयोग प्रवर्त्तता है।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द को जानने में उपयोग प्रवर्त्तता है।

उन स्पर्शादिक रूपी पदार्थों के पर्याय हैं। उनमें ही भावेन्द्रिय रूप मतिज्ञान का उपयोग पवर्त्तता है।

उपयोग शब्द से इन्द्रियजन्य मतिज्ञानविशेष चैतन्य-परिणाम जानना चाहिए। यह उपयोग दो प्रकार का है। **विज्ञान रूप और अनुभवरूप**। घटादिक पदार्थों की उपलब्धि को **विज्ञान** कहते हैं तथा सुख-दुःखादि के वेदन को **अनुभव** कहते हैं। यह उपयोग पाँचों इन्द्रियों के द्वारा होता है, किन्तु एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा हुआ करता है। किसी ने एक ही समय में अनेक इन्द्रियों के द्वारा भी उपयोग होना माना है, किन्तु वह ठीक नहीं है। कारण कि उपयोग की गति अति सूक्ष्म होने से एक ही समय में प्रतीत होती है, किन्तु वास्तविक में उनका समय पृथग् भिन्न ही है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य और भावरूप से दो-दो भेद तथा उस द्रव्य-भाव के भी क्रमशः निर्वृत्ति-उपकरण रूप एवं लब्धि-उपयोगरूप दो-दो भेद किये हैं, किन्तु वे किस अनुक्रम से प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—लब्धिरूप भावेन्द्रिय के प्राप्त होने पर ही निर्वृत्ति सम्भवित है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नहीं। अर्थात्—लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग सम्भवित है।

सारांश यह है कि—पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तरोत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होती है, परन्तु पूर्वेन्द्रिय की प्राप्ति बिना उत्तरेन्द्रिय की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

इन्द्रियों की पदार्थ ग्रहण-शक्ति का माप नीचे प्रमाणे है—

श्रोत्रेन्द्रिय—बारह योजन दूर से आये हुए शब्द को श्रवण कर सकती है-सुन सकती है।

चक्षुरिन्द्रिय—एक लाख योजन से कुछ अधिक दूर रही हुई वस्तु-पदार्थ को देख सकती है। शेष तीन इन्द्रियाँ (स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय) नव योजन से आये हुए अपने विषय को जान सकती हैं। जैसे—यहाँ से नौ योजन दूर रहे हुए चन्दनादि पदार्थ के पुद्गल यहाँ यदि आ जायें तो उसकी गन्ध जान सके, किन्तु उससे अधिक दूर से आ जाय तो तीव्र घ्राणेन्द्रिय शक्ति से भी न जान सके।

इस तरह रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय के विषय भी जानना। पाँचों ही इन्द्रियों का जघन्य विषय अंगुल के असंख्यातवें भाग ही है। (अ. २, सू. १९)

इन्द्रियनामानि—

सूत्रम्–

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ॥ २-२० ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

अत्राह-प्रोक्तं भवता पञ्चेन्द्रियाणि । तत् कानि तानि इन्द्रियाणि ? कथ्यते–स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, चक्षुः, श्रोत्रम्, एतानि पञ्चेन्द्रियाणि । स्पृशतीति स्पर्शनम्, रसतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षुः, शृणोतीति, श्रोत्रम् । एतानि कर्तृसाधनानि मन्यन्ते । तथा–स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम्, रस्यते अनेन इति रसनम्, जिघ्रियते अनेन इति घ्राणम्, चेष्टते अनेन इति चक्षुः, श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम् । एतान्यपि करणसाधनानि मन्यन्ते ॥ २–२० ॥

❀ **सूत्रार्थ–स्पर्शन** (त्वचा-चमड़ी), **रसन** (जिह्वा-जीभ), **घ्राण** (नासिका-नाक), **चक्षु** (नेत्र-आँख) और **श्रोत्र** (कर्ण-कान) ये पाँच इन्द्रियों के नाम हैं ॥ २-२० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

प्रश्न–आपने **'पञ्चेन्द्रियाणि'** इस प्रकार पूर्व सूत्र के द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, ऐसा तो कहा, किन्तु वे कौनसी हैं और उनके नाम क्या हैं ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में पाँचों इन्द्रियों के नाम निम्न प्रमाण से हैं—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् क्रमशः ये पाँच इन्द्रियों के नाम हैं। ये सर्व नाम अन्वर्थ हैं तथा इनमें अभेद और भेद की विवक्षा से कर्तृसाधन तथा करण साधन दोनों ही घटित हैं। जो स्पर्श करे अर्थात् स्पर्श गुण को विषय करे उसको स्पर्शन कहते हैं। तथा जिसके द्वारा स्पर्श किया जाय, उसको भी स्पर्शन कहते हैं। इस तरह रसना आदि में भी समझना।

इन्द्रियाँ पाँच हैं, तो भी समस्त संसारी जीवों के पूर्ण पाँचों इन्द्रियाँ नहीं हैं। किसी के एक, किसी के दो, किसी के तीन, किसी के चार और किसी के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। जिसके एक इन्द्रिय है वह एकेन्द्रिय कहलाता है। दो इन्द्रिय वाला बेइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय वाला तेइन्द्रिय, चार इन्द्रिय वाला चउरिन्द्रिय तथा पाँच इन्द्रिय वाला पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

(१) **प्रश्न**—इन्द्रिय का क्या अर्थ होता है ?

उत्तर—जिससे ज्ञान प्राप्त हो, वह इन्द्रिय है।

(२) **प्रश्न**—क्या इन्द्रियाँ पाँच से अधिक नहीं हैं ?

उत्तर—नहीं ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। सांख्यादिक शास्त्रों में वाक्, पाणि, पाद, पायु

(गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या जननेन्द्रिय) को भी इन्द्रिय कहा गया है, किन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ तो पाँच से अधिक नहीं हैं। यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ही उल्लेख है।

(३) **प्रश्न**—ज्ञानेन्द्रिय किसे कहते हैं ? और कर्मेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिससे मुख्यतया जीवनोपयोगी ज्ञान हो, उसे **ज्ञानेन्द्रिय** कहते हैं तथा जिससे जीवनोपयोगी आहार, विहार और निहारादि क्रिया हो, उसे कर्मेन्द्रिय कहते हैं।

(४) **प्रश्न**—उपयोग तो ज्ञान विशेष है, जो इन्द्रिय का फल है। उसे इन्द्रिय कैसे कहते हो ?

उत्तर—वास्तविक रीति से तो लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों की समष्टि का कार्य उपयोग है, तो भी उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उपयोग को इन्द्रिय कहा है। (अ. २, सू. २०)

इन्द्रियाणां ज्ञेयविषयम्

सूत्रम्—

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः ॥ २-२१ ॥

✻ सुबोधिका टीका ✻

एतेषामिन्द्रियाणामेते स्पर्शादयोऽर्था भवन्ति यथासंख्यम्। एते शब्दाः कर्म-साधनाः। यथा स्पृश्यते इति स्पर्शः, रस्यते इति रसः, जीघ्र्यते इति घ्राणः, चष्टे इति चक्षुः, शृण्यते इति श्रोत्रश्चेति। एते नियतेन्द्रियातिरिक्तैः असम्भवाः ॥ २-२१ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—उपर्युक्त पाँचों इन्द्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पाँच विषय हैं ॥ २-२१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

स्पर्शन इत्यादि इन्द्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पाँच विषय हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है : जो छुआ जाय उसे **स्पर्श** कहते हैं। जो चखा जाय उसे **रस** कहते हैं। जो सूंघा जाय उसे **गन्ध** कहते हैं। जो देखा जाय उसे **वर्ण** (रूप) कहते हैं और जो सुना जाय उसे **शब्द** कहते हैं।

ये विषय नियत इन्द्रियों के बिना अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। कारण कि इन्द्रियों का तथा उनके विषयग्रहण का नियम दोनों ही तरफ से है। जैसे—स्पर्श विषय स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही जाना जा सकता है, अन्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श ही जाना जा सकता है, न कि रसादिक। अतएव पाँचों इन्द्रियों के क्रम से ये पाँच विषय कहे हैं। स्पर्शेन्द्रिय का विषय **स्पर्श** है। रसनेन्द्रिय का विषय **रस** है। घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय **वर्ण** रूप है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय **शब्द** है।

विशेष—विश्व में वस्तु-पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक है **मूर्त्त** और दूसरा है **अमूर्त्त**। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि हो उसे मूर्त्तमान कहते हैं। इस वस्तु-पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही होता है। इससे भिन्न वस्तु-पदार्थ को अमूर्त्त कहते हैं।

पाँचों इन्द्रियों के जो भिन्न-भिन्न विषय कहे हैं वे आपस में सर्वथा द्रव्यात्मक भिन्नावस्था तत्त्वरूप नहीं हैं, किन्तु एक ही द्रव्य के भिन्न-भिन्न अंश हैं अर्थात्—पर्याय रूप हैं। सारांश यह है कि पाँचों इन्द्रियाँ एक ही वस्तु-पदार्थ की परस्पर भिन्नता वाली अवस्थाओं को जानने के लिए प्रवृत्त होती हैं। इसलिए इस सूत्र में पाँच इन्द्रियों के जो पाँच विषय कहे गये हैं वे स्वतन्त्र द्रव्य रूप अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं, किन्तु वे एक ही वस्तु-पदार्थ के पर्याय हैं। अर्थात्— एक ही वस्तु-पदार्थ का पाँच प्रकार से बोध कराते हैं। प्रत्येक वस्तु-पदार्थ अनन्त-धर्मात्मक है। उससे पाँचों इन्द्रियाँ स्वग्राह्य विषय से भिन्न अवस्था दिखाने वाली हैं। जैसे—मिष्टान्न को पाँचों इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न रूप में जानती हैं।

(१) स्पर्शेन्द्रिय से वस्तु के शीत-उष्ण स्पर्श का ज्ञान होता है। अर्थात्—मोदकादि मिष्टान्न को अंगुली से छूकर उसके शीत-उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान कराती है।

(२) रसनेन्द्रिय-जिह्वा-जीभ मोदकादि मिष्टान्न को चखकर उसके खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान कराती है।

(३) घ्राणेन्द्रिय-नासिका-नाक सूंघकर उस मोदकादि मिष्टान्न की सुगन्ध या दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है।

(४) चक्षुरिन्द्रिय—नेत्र-आँख देखकर उस मोदकादि मिष्टान्न के श्वेत, रक्त, पीत, नील या श्याम रंग का ज्ञान कराती है।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय—कर्ण-कान उस कड़े मोदकादि मिष्टान्न को खाने आदि से उत्पन्न होते शब्दों या ध्वनि का ज्ञान कराता है। यहाँ ऐसा नहीं है कि उस मोदकादि मिष्टान्न में स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन पाँचों विषयों का स्थान अलग-अलग होता है। वे समस्त उसके सभी भागों में एक साथ रहते हैं। कारण कि, वे समग्र एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय हैं। उनका विभाग सिर्फ बुद्धि द्वारा इन्द्रियों से होता है। प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति पृथक्-पृथक् है। चाहे इन्द्रियाँ कितनी ही प्रबल और पटु क्यों न हों, वे अपने-अपने ग्राह्य विषय के अतिरिक्त अन्य विषय को जानने में समर्थ नहीं हैं इसीलिए पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय असंकीर्ण हैं। अर्थात् पृथक्-पृथक् यानी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न—इस सम्बन्ध में प्रश्न यह होता है कि—स्पर्शादिक पाँचों विषय सहचरित हैं, अर्थात् रूपी पदार्थ में वे एक साथ रहने वाले हैं तो भी किसी एक वस्तु-पदार्थ में उन पाँचों की एक साथ उपलब्धि न होकर केवल एक या दो की ही होती है। जैसे—अर्क-सूर्यादिक की प्रभा है, उसका एक ही रूप दिखता है। शेष स्पर्श, रस, गन्धादि नहीं दिखते हैं। इसी तरह पुष्पादिक से प्रमिश्रित वायु-पवन का स्पर्श ज्ञात होने पर भी रस, गन्ध आदि नहीं जान पड़ता ?

उत्तर—प्रत्येक रूपी द्रव्य में उपर्युक्त स्पर्शादिक पाँचों पर्याय होते हैं, किन्तु वे स्थूलविषयी

हों तो इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। कितने ही पदार्थों में स्पर्शादिक पाँचों विषय स्थूल रूप से दिखाई देते हैं तथा कितने ही पदार्थों में एक या दो पर्याय के बिना अन्य पर्यायें अनुत्कृष्ट अवस्थावाली होने से इन्द्रियग्राही नहीं होती हैं किन्तु वे सूक्ष्मरूप से अवश्य हैं। इन्द्रियों की पटुता यानी ग्रहणशक्ति भी सर्वजीवों की एक समान नहीं होती। एकजातीय जीवों में भी इन्द्रियों की पटुता विविध प्रकार की देखने में आती है। इसलिये स्पर्श आदि की उत्कृष्टता या अनुत्कृष्टता का विचार इन्द्रिय की पटुता के तारतम्य भाव पर निर्भर है।

प्रश्न—स्पर्श-रसादिक कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—(१) स्पर्श आठ प्रकार का है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर।

(२) रस पाँच प्रकार का है—मधुर, आम्ल, कटु, कषाय और तिक्त।

(३) गन्ध दो प्रकार का है—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

(४) वर्ण पाँच प्रकार का है—श्वेत, नील, पीत, रक्त और श्याम।

(५) शब्द गर्जित आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। अथवा अक्षर और अनक्षर इत्यादिक भेद रूप हैं। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का विषय कहा है। (अ. २, सू. २१)

मनसः विषयाणि

सूत्रम्—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।। २-२२ ।।

❀ सुबोधिका टीका ❀

श्रुतज्ञानं द्विविधम्। श्रुतज्ञाने अङ्गप्रविष्ट-अङ्गबाह्यभेदाभ्याम् द्वौ भेदौ। अङ्गप्रविष्टस्य आचाराङ्गादि द्वादशभेदाः। अङ्गबाह्यस्य चाऽनेकभेदाः ।। २-२२ ।।

❀ **सूत्रार्थः**—श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय (मन) का विषय है अर्थात्—मन का विषय श्रुत है ।। २-२२ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

मूल में श्रुतज्ञान के दो भेद कहे हैं। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। अङ्गप्रविष्ट के आचाराङ्गादि बारह भेद तथा अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं, जो पहले कहे गये हैं। यह पूर्ण भेद रूप श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय-मन का विषय है।

स्पर्शेन्द्रियादि पाँचों इन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक इन्द्रिय है, जो ज्ञान का साधन है। यह स्पर्शन आदि के समान बाह्य साधन नहीं है, किन्तु आन्तरिक साधन है। इसलिए इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। बाह्य इन्द्रियों के समान मन का विषय मर्यादित नहीं है।

बाह्य इन्द्रियाँ तो मात्र मूर्त्त वस्तु-पदार्थ को अंश रूप से ग्रहण करने वाली हैं, जबकि यह मन तो मूर्त्त-अमूर्त्त समस्त वस्तु-पदार्थों को अनेक रूप से ग्रहण करने वाला है। मन का कार्य

विचार-विमर्श करने का है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए और ग्रहण नहीं किये हुए विषयों का विकास की योग्यता के अनुसार विचार-विमर्श करता है। इस विचार-विमर्श को ही श्रुत कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि अनिन्द्रिय-मन का विषय श्रुत है। अर्थात् मूर्त्त-अमूर्त्त समस्त तत्त्वों का स्वरूप मन का प्रवृत्ति क्षेत्र है।

❀ **प्रश्न**—जिसे श्रुत कहने में आता है वह यदि मन का कार्य हो तथा मन एक प्रकार का स्पष्ट या विशेषग्राही ज्ञान है, तो फिर मन से मतिज्ञान क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर—होता है, किन्तु मन के द्वारा सबसे पूर्व सामान्य रूप से वस्तु-पदार्थ का ग्रहण होता है, तथा जिसमें शब्दार्थ-सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान और विकल्प रूप विशेषता न हो वही **मतिज्ञान** है। तत्पश्चात् उत्पन्न होने वाली विशेष विचारधारा ही **श्रुतज्ञान** है।

सारांश यह है कि—मनोजन्य व्यापार की धारा का प्राथमिक अल्पांश मतिज्ञान है। तत्-पश्चात् अधिकांश श्रुतज्ञान है। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से मात्र मतिज्ञान होता है। तथा मन से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों होते हैं। इनमें भी मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान की ही प्रधानता है अर्थात् श्रुतज्ञान की ही मुख्यता है। इसी कारण से श्रुतज्ञान को यहाँ मन का विषय कहा है।

❀ **प्रश्न**—मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा है ?

उत्तर—मन भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय ही है, तो भी रूपादि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय (ईषद् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा) कहा है।

प्रश्न—क्या नेत्रादि इन्द्रियों के समान मन भी देह-शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रहता है। या सर्वत्र रहता है ?

उत्तर—मन का देह-शरीर में नियत स्थान नहीं है, किन्तु वह सर्वत्रव्यापी है। क्योंकि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों से ग्रहण किये हुए सभी विषयों में मन की गति मति है। इसलिए उसको देह-शरीर में सर्वव्यापी मानना योग्य है। कहा जाता है कि—

"यत्र पवनस्तत्र मनः।" अर्थात्—'जहाँ पवन वहाँ मन'। यह मत श्री जैन श्वेताम्बर परम्परा का है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्यमन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नहीं, किन्तु केवल हृदय है। इस सूत्र का सारांश यह है कि—**'मन का विषय श्रुत है'** मन से ही भाव श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान का विषय घट-पटादि पदार्थ हैं। इससे घट-पटादि पदार्थ मन के भी विषय बनते हैं। इन्द्रियों द्वारा मुख्यतः मतिज्ञान और द्रव्य श्रुतज्ञान होता है। मन द्वारा मति और भाव श्रुत ये दोनों ज्ञान होते हैं। यहाँ पर इस सूत्र में मन का विषय श्रुतज्ञान है, यह जो कहा है वह मुख्य रूप भावश्रुत की अपेक्षा से है। कारण कि द्रव्यश्रुत तो इन्द्रियों का विषय हो सकता है। इन्द्रियों का विषय तो केवल रूपी पदार्थ ही है। जब मन का विषय रूपी और अरूपी सर्व पदार्थ हैं, तो यहाँ भावश्रुत भी शब्दोल्लेखयुक्त विशेष प्रकार का जानना चाहिए। क्योंकि, शब्दोल्लेख बिना सामान्य श्रुत मनरहित एकेन्द्रिय जीवों के भी होता है। (अ. २, सू. २२)

इन्द्रियाणां स्वामी

सूत्रम्–

वाय्वन्तानामेकम् ॥ २-२३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वं प्रोक्तं पृथिव्यप्वनस्पतितेजोवायवो द्विन्द्रीयादयश्च नवजीवनिकायाः। पञ्चेन्द्रियाणि चेति। तत् किं कस्येन्द्रियमिति। कथ्यतेऽत्र–पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानां जोवनिकायानामेकमेवेन्द्रियम्। सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमं स्पर्शेन्द्रियमेवेत्यर्थः ॥ २-२३ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही है। अर्थात्–पृथ्वी से लेकर वायु, वनस्पति पर्यन्त पाँच जीवनिकायों के एक ही इन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) होती है। इसलिए उनको एकेन्द्रिय कहते हैं ॥ २-२३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

एक इन्द्रिय किसके होती है? इसका निरूपण इस सूत्र में किया है। पूर्वोक्त सूत्र १३-१४ में संसारी जीवों के दो भेद बताये हैं। एक **'स्थावर'** और दूसरा **'त्रस'**। इन दोनों भेदों में मुख्यपने **नौ** जातियाँ हैं, जिनके नाम नीचे प्रमाणे हैं—

(१) पृथ्वी, (२) पानी [जल], (३) अग्नि (४) वायु और (५) वनस्पति ये **'स्थावर'** तथा **'एकेन्द्रिय'** कहलाते हैं। पृथ्वी इत्यादि पाँच स्थावरों के एक स्पर्श इन्द्रिय होती है। (६) द्वीन्द्रिय, (७) तीन इन्द्रिय, (८) चार इन्द्रिय और (९) पंचेन्द्रिय ये चार **'त्रस'** कहलाते हैं।

यद्यपि द्वीन्द्रियादिक शब्दों का उच्चारण करते ही यह अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण के अनुसार समझ में आ जाता है। किन्तु यह समझ में नहीं आता है कि—द्वीन्द्रिय जीवों के कौनसी दो इन्द्रियाँ हैं, तीन इन्द्रिय जीवों के कौनसी तीन इन्द्रियाँ हैं, चार इन्द्रिय जीवों के कौनसी चार इन्द्रियाँ हैं और पंचेन्द्रिय जीवों के कौनसी पाँच इन्द्रियाँ हैं? यह बात नीचे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ २-२३ ॥

द्वीन्द्रियादिकेन्द्रियाः क्व जीवान् वर्त्तन्ते? तस्य निरूपणमाह—

सूत्रम्–

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २-२४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

कृमीत्यादीनां पिपीलिकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां च यथासंख्यमेकैकवृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति। यथानुक्रमं, तद्यथा–कृमीत्यादीनां अपादिकनूपुरकगण्डूपदशङ्ख-

शुक्तिका-शम्बूका-जलोका-प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः एकेन वृद्धे स्पर्शन-रसनेन्द्रिये भवतः ।

ततोऽपि एकेन वृद्धानि पिपीलिका रोहिणिका उपचिका कुन्थु तुम्बरुक त्रपुसबीज कर्पासास्थिका शतपद्युत्पतक तृणपत्र काष्ठ-हारकादीनां त्रीणि स्पर्शन-रसन-घ्राणानि । ततोऽपि एकेन वृद्धानि भ्रमर-वटर-सारङ्ग-मक्षिका-पुत्तिका-दंश-मशक-वृश्चिक-नन्द्यावर्त-कीट-पतङ्गप्रभृतीनां चत्वारि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षूंषि । शेषाणां च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगभुजंगपक्षिचतुष्पदानां सर्वेषां च नारक-मनुष्य-देवानां पञ्चेन्द्रियाणीति । कृमीत्यादीनां अत्र इत्यादीनां शब्देन ते एव जीवाः ग्राह्याः येषां समेन्द्रियाणि ।। २-२४ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–(१) कृमि, शङ्ख, कौडी आदि जीवों के दो इन्द्रियाँ होती हैं–स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ।

(२) चींटी, दीमक आदि जीवों के तीन इन्द्रियाँ होती हैं। स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ।

(३) भ्रमर, बिच्छु आदि जीवों के चार इन्द्रियाँ होती हैं । स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय ।

(४) इनके सिवाय शेष तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारक जीवों के सभी पाँच इन्द्रियाँ होती हैं ।। २-२४ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

इस सूत्र में आदि शब्द का सम्बन्ध कृमि आदि, पिपीलिका आदि, इत्यादिक समझना चाहिए। इन जीवों के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक-अधिक होती गई है। अर्थात्—पृथिवी-कायादिक पाँच जीवनिकायों के एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) बताई है।

❀ उनकी अपेक्षा से कृमि आदिक अर्थात्—कृमि, कौड़ी, लट, नूपुरक, केंचुआ, शंख, सीप, घोंघा, जोंक इत्यादि जीवों के दो इन्द्रियाँ होती हैं....स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय।

❀ उनकी अपेक्षा से चींटी, पई, दीमक, कुन्थुआ, तुम्बरुक, त्रपुसबीज, कर्पासास्थिका, शतपद्युत्पतक, तृणपत्र, काष्ठहारक-घुण इत्यादिक तेइन्द्रिय जीवों के तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय।

❀ उनकी अपेक्षा से भ्रमर, वटर-वर्र, सारङ्ग-ततैया, मक्खी, पुत्तिका, डाँस, मच्छर, बिच्छू

नन्द्यावर्त्त, कीट, पतङ्ग इत्यादि जीवों के चार इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और चक्षुरिन्द्रिय।

❀ इनके सिवा शेष तिर्यंच-मत्स्य, दुमुही, सर्व प्रकार के पक्षी, चौपाये-गौ, भैंस, घोड़ा तथा हाथी आदि जीवों के एवं सभी नारकी, मनुष्य और देवों के सभी पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

(१) **प्रश्न**—इन्द्रियों की यह संख्या द्रव्येन्द्रिय की है या भावेन्द्रिय की है, या उभयेन्द्रिय की है ?

उत्तर—यहाँ केवल द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से ही इन्द्रियों का न्यूनाधिकपना कहा है। भावेन्द्रिय तो समस्त जीवों में पाँच होती ही हैं, इसलिए इसमें न्यूनाधिकता नहीं है।

(२) **प्रश्न**—क्या भावेन्द्रिय के बल से कृमि इत्यादि जीव हलन-चलन और देखना-सुनना इत्यादि क्रियायें कर सकते हैं ?

उत्तर—नहीं, अकेली भावेन्द्रिय उक्त क्रियायें करने में असमर्थ है। इसके साथ द्रव्येन्द्रिय का सहारा अवश्य चाहिए। इसीलिए भावेन्द्रिय होते हुए भी कृमि या चींटी इत्यादि जीव चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय रूप द्रव्येन्द्रिय न होने से हलन-चलन में तथा देखने-सुनने में समर्थ नहीं हैं। फिर भी वे जीव अपनी-अपनी द्रव्येन्द्रिय के बल से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करते हैं।

❀ पृथ्वीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक आठ निकायों के जीवों के तो मन नहीं होता है, इसलिए वे असंज्ञी कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं।

उपर्युक्त पंचेन्द्रिय जीवों के चार भेद हैं। देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच। देवता और नारकी में सभी संज्ञी होने से सभी के मन होता है तथा मनुष्य और तिर्यंच (पशु, पक्षी) संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। उनमें जो गर्भोत्पत्ति वाले जीव हैं वे संज्ञी अर्थात् मन वाले कहलाते हैं और सम्मूर्च्छिम मनुष्यों एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यंच जीवों के मन नहीं है, इसलिए वे असंज्ञी कहलाते हैं।

यहाँ सारांश यह है कि—पञ्चेन्द्रिय जीवों में सभी देवों, सभी नारकों, गर्भज मनुष्यों एवं गर्भज तिर्यञ्चों के मन होता है।

प्रश्न—यह किस तरह जाना जा सकता है कि इसके मन है या नहीं है ?

उत्तर—यह संज्ञा पर से जाना जाता है। जिसके संज्ञा है, उसी के मन है तथा जिसके संज्ञा नहीं है उसके मन भी नहीं है।

प्रश्न—वृत्ति को संज्ञा कहते हैं। न्यूनाधिक रूप में किसी-न-किसी प्रकार की वृत्ति सभी जीवों में होती है। जैसे कृमि, चींटी इत्यादि सभी जन्तुओं में भी आहार और भय आदि वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इससे क्या यह सिद्ध होता है कि समस्त जीव मनवाले हैं। इस तरह इन जीवों में मन क्यों नहीं माना जाता है ?

उत्तर—यहाँ पर संज्ञा का अर्थ साधारण वृत्ति नहीं, किन्तु विशिष्ट वृत्ति है। साधारण वृत्ति 'आहार, भय, मैथुन और परिग्रह' को यहाँ संज्ञा रूप नहीं माना है, किन्तु विशिष्ट वृत्ति को

माना है। विशिष्ट वृत्ति गुण-दोष की विचारणा रूप है, जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो सके। इस प्रकार की विशिष्ट वृत्ति को जैनागमशास्त्र में **सम्प्रधारण संज्ञा** कहते हैं। यही संज्ञा मन की वृत्ति रूप है अर्थात् मन का कार्य है, जो देवता, नारकी, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच जीवों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसलिए वे ही जीव मन वाले माने जाते हैं। इसी सम्प्रधारण संज्ञा को मुख्यपने ग्रहण करके संसारी जीवों के संज्ञी और असंज्ञी रूप दो प्रकार-दो भेद किये हैं।

प्रश्न—क्या कृमि, चींटी इत्यादि जीव अपनी-अपनी इष्ट वस्तु-पदार्थ को पाने के लिए तथा अनिष्ट वस्तु-पदार्थ को त्यजने के लिए अर्थात् त्याग करने के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते ?

उत्तर—कृमि, चींटी इत्यादि जीव इष्ट वस्तु-पदार्थ पाने के लिए और अनिष्ट वस्तु-पदार्थ त्याग करने के लिए यत्न-प्रयत्न कर सकते हैं—अर्थात् यत्न-प्रयत्न करते ही हैं।

प्रश्न—जब कृमि, चींटी इत्यादि जीव इष्ट वस्तु पाने के लिए और अनिष्ट वस्तु त्यजने के लिए प्रयत्न करते हैं, तब तो उनमें सम्प्रधारण संज्ञा और मन क्यों नहीं माना जाता है ?

उत्तर—कृमि, चींटी इत्यादि जीवों का पूर्वोक्त यत्न-प्रयत्न केवल देहमात्र के लिए उपयोगी है। **'ज्ञानबिन्दु'** इत्यादि ग्रन्थों में भी कहा है कि कृमि आदि जीवों के अल्प विषय रूप सूक्ष्म मन होता है, जिससे वे इष्ट और अनिष्ट ग्रहण या त्याग की प्रवृत्तियाँ करने के लिए यत्न-प्रयत्नशील होते हैं। तो भी देह-शरीरयात्रा के सिवाय अन्य वस्तु-पदार्थ के विशेष विचार-विमर्श के लिए असमर्थ हैं। इसलिए यहाँ उसकी गवेषणा न करके विशेष-विचार-विमर्श की योग्यता को ही सम्प्रधारण संज्ञा मानी है।

सारांश यह है कि जिन जीवों को पूर्वजन्म के स्मरण की योग्यता प्राप्त होती है, उन्हीं को यहाँ समनस्क कहा गया है। यह संज्ञा केवल देव, नारकी, गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यंच जीवों के ही होती है। यही सम्प्रधारण संज्ञा है और इसी संज्ञा से वे संज्ञी कहे जाते हैं।

(अ. २, सू. २४)

क्व जीवाः समनस्काः ? तस्य निरूपणमाह—

सूत्रम्—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २-२५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

सम्प्रधारणसंज्ञापेक्षया ये जीवाः संज्ञां धारयन्ति ते समनस्काः। ईहापाययुक्त-गुणदोषानां विचारः सम्प्रधारणः। सम्प्रधारण-संज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्काः भवन्ति। सर्वे नारकदेवाः गर्भव्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च केचित्। ईहापाययुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका सम्प्रधारणसंज्ञा। तां प्रति संज्ञिनो विवक्षिताः अन्यथा ह्याहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञाभिः सर्वे एव जीवाः संज्ञिनः ॥ २-२५ ॥

❀ **सूत्रार्थः**—ईहा और अपाय रूप द्वारा गुण तथा दोष दोनों के विचार करने की जो शक्ति है, उसको **सम्प्रधारण संज्ञा** कहते हैं। उसको धारण करने वाले जो जीव हैं, वे समनस्क-मन-वाले कहे जाते हैं। अर्थात्—संज्ञी जीव समनस्क-मन वाले हैं ॥ २-२५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

संसार में सम्प्रधान संज्ञा की अपेक्षा जो जीव संज्ञा को धारण करने वाले हैं, उनको **समनस्क** कहते हैं। देव, नारकी और मनुष्य समस्त जीव समनस्क हैं, किन्तु तिर्यंच जीवों में दो भेद हैं। समनस्क और अमनस्क। उनमें जो गर्भजन्म धारण करने वाले हैं, वे ही जीव समनस्क होते हैं। किन्तु वे समस्त समनस्क नहीं हैं। कारण कि, इनके सिवाय संसारी जितने जीव हैं वे वे सभी अमनस्क (मनरहित) हैं। इस तरह इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के विषय का निरूपण किया। इससे संज्ञी जीव मनयुक्त हैं और असंज्ञी जीव मनरहित हैं, यह भी सिद्ध हो जाता है। अर्थात्—जिनके संज्ञा होती है वे जीव संज्ञी हैं और जिनके संज्ञा नहीं होती है, वे जीव असंज्ञी हैं।

संज्ञा के तीन भेद हैं। (१) दीर्घकालिकीसंज्ञा, (२) हेतुवादासंज्ञा, तथा (३) दृष्टिवादासंज्ञा।

(१) भूतकाल, वर्त्तमान काल और भविष्यत् काल इन तीन कालों का आश्रय लेकर अपने हित या अहित के सम्बन्ध में दीर्घकालीन विचार करने की जो शक्ति है वह **दीर्घकालिकी संज्ञा** कही जाती है।

(२) केवल वर्त्तमान काल का विचार करने की जो शक्ति है वह **हेतुवादासंज्ञा** कही जाती है।

(३) तथा दृष्टिवाद अंग के (यानी श्रीतीर्थंकर भगवन्त भाषित और श्रीगणधर भगवन्त रचित आगमसूत्र के) उपदेश से प्राप्त हुई जो विशिष्ट शक्ति है वह **दृष्टिवादासंज्ञा** कही जाती है।

इन तीन संज्ञाओं में से यहाँ दीर्घकालिकी संज्ञा का आश्रय लेकर **संज्ञी** कहने में आया है। जो जीव तीनों कालों का आश्रय लेकर कौनसी प्रवृत्ति मुझको हितकारक है और कौनसी प्रवृत्ति अहितकारक है इत्यादिक दीर्घकाल का विचार करे वे जीव **संज्ञी** हैं तथा जो जीव दीर्घकाल का विचार नहीं कर सकते हैं, केवल वर्तमान काल पूरता ही सामान्य-साधारण विचार कर सकते हैं वे जीव **असंज्ञी** हैं।

बेइन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों को हेतुवादा संज्ञा होती है, किन्तु दीर्घकालिकी संज्ञा नहीं है। एकेन्द्रिय जीवों को तो इन तीनों में से एक भी संज्ञा नहीं है। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव **असंज्ञी** यानी बिना मन के ही होते हैं।

देव, नारक, गर्भज मनुष्य तथा तिर्यंच **संज्ञी** यानी मनवाले होते हैं। सम्यग् दृष्टिवन्त जीवों के दृष्टिवादा संज्ञा भी होती है। हेतुवादासंज्ञा में वर्त्तमान काल की तथा दीर्घकालिका संज्ञा में त्रिकाल की विचारणा दोनों संसार-सम्बन्धी होती हैं। दृष्टिवादासंज्ञा में जो त्रिकाल की

विचारणा होती है, वह विचारणा मोक्षमार्गानुसारी होती है। इसलिए वह विचारणा सर्वोत्कृष्ट है। (अ. २, सूत्र २५)

विग्रहगतौ योगः—

सूत्रम्—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २-२६ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

या क्रिया क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरं विदधाति सा गतिः। विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति। कर्मशरीरयोग इत्यर्थः। अन्यत्र तु यथा प्रोक्तः कायवाङ्मनोयोग इत्यर्थः ॥ २-२६ ॥

❋ **सूत्रार्थ—**विग्रहगति प्राप्त जीव के **कार्मण काययोग** ही होता है। अर्थात्—परभव में जाते हुए जीव के विग्रहगति में कार्मणकाययोग है ॥ २-२६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जिस क्रिया के द्वारा जीव-आत्मा को क्षेत्र से क्षेत्रान्तर की प्राप्ति हो, उसको **गति** कहते हैं। अर्थात्—देह धारण करने के लिए जो गति होती है, उसको विग्रह गति कहते हैं। यहाँ पर संसारी जीव का अधिकार है। संसारी का अर्थ है संसरण करने वाला जीव आत्मा। उसका संसरण दो प्रकार से होता है। एक देशान्तर-प्राप्ति रूप से और दूसरा भवान्तर-प्राप्ति रूप से। एक देह-शरीर को त्याग करके अन्य स्थान पर जाकर दूसरे देह-शरीर को धारण करना वह **'देशान्तर प्राप्ति'** है तथा मृत्यु पाकर उसी त्यजे-त्याग किये हुए देह-शरीर में उत्पन्न होना वह **'भवान्तर प्राप्ति'** है। यह दोनों ही प्रकार का संसरण चेष्टारूप योग के सिवाय नहीं हो सकता है। इसलिए त्यक्त और ग्राह्य देह-शरीरों के मध्य में जो जीव-आत्मा की गति होती है, उसको **'विग्रह गति'** कहते हैं। वह गति दो प्रकार की है—एक **ऋजुगति** और दूसरी **वक्रगति**। उनमें धनुष पर से छूटे हुए बाण के समान जो सीधी गति होती है, उसको ऋज्वी यानी **ऋजुगति** कहते हैं तथा जिसमें मोड़ा यानी समय का विश्राम लेना पड़े, उसे वक्रा यानी **वक्रगति** कहते हैं।

ऋजुगति में विशेषता यह है कि समय नहीं लगता है, कारण कि यहाँ पर पूर्व देह-शरीर का त्याग करना और उत्तर देह-शरीर को ग्रहण करना, वे दोनों कार्य एक ही समय में हो जाते हैं। अतएव उसमें दूसरा-भिन्न समय नहीं लगता है। किन्तु वक्रगति में संसारी जीव-आत्मा को मोड़ा लेना पड़ता है, इसलिए इसमें एक समय से लेकर तीन समय पर्यन्त लगते हैं। इस हेतु से ही वक्रगति में तीन भेद कहे हैं। (१) एकसमया वक्रगति, (२) द्विसमया वक्रगति तथा (३) त्रिसमया वक्रगति।

संसारी जीव को जब कोई भी क्रिया करनी होती है, तब उसे योग की आवश्यकता रहती है। मन, वचन और काया के द्वारा जीव-आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है

उसे **'योग'** कहते हैं। इसके मूलभेद तीन हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। उनके उत्तर-भेद पन्द्रह हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) **मनोयोग** चार प्रकार का है—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग अथवा इस तरह से भी चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्यासत्य और असत्यामृषा मनोयोग।

(२) **वचनयोग** भी मनोयोग की तरह चार प्रकार का है—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभय (सत्यासत्य) वचनयोग और अनुभयवचनयोग।

(३) **काययोग** के सात प्रकार हैं—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक-काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग। उपर्युक्त वक्रगति के समय जीव-आत्मा को केवल एक कार्मण काययोग ही होता है, किन्तु अन्य समय में दूसरे योग भी हो सकते हैं तथा होते भी हैं। इस सम्बन्ध में एक विशिष्टता यह भी है कि—विग्रहगति तथा केवलीसमुद्घात के सिवाय अन्य अवस्था में कार्मणयोग नहीं होता है, किन्तु शेष योग ही होते हैं।

विशेष—जीव परभव में दो प्रकार की गति से जाते हैं। कितनेक जीव विग्रह गति से और कितनेक जीव अविग्रहगति से परभव में जाते हैं। जब जीव विग्रहगति (यानी वलांक गति) से परभव में जाता है, तब उसके कौनसा योग सहायक होता है, वह प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि—परभव में जाते हुए जीव के मन योग और वचन योग नहीं होने से इन दोनों योगों का सर्वथा अभाव होता है। काययोग के औदारिक-औदारिक मिश्र, वैक्रिय-वैक्रियमिश्र, आहारक-आहारकमिश्र और कार्मण ये सात भेद हैं। परभव में जाते हुए जीव के औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक ये तीन योग नहीं होते हैं क्योंकि, इन तीन काया-शरीर को छोड़कर ही जीव-आत्मा परभव में जाता है तथा औदारिक मिश्र, वैक्रियमिश्र एवं आहारक मिश्र ये तीन मिश्रकाययोग भी नहीं होते हैं क्योंकि, मिश्रकाययोग तो उस-उस काययोग की उत्पत्ति के प्रारम्भ में होता है। अब तो केवल एक कार्मण योग ही शेष रहता है। इसलिए कहा है कि विग्रहगति द्वारा परभव में जाते हुए जीव-आत्मा के **'कार्मण काययोग'** होता है। कार्मण काययोग की सहायता से ही जीव-आत्मा परभव में अपने उत्पत्ति के स्थान में पहुँच जाता है।

प्रश्न—जब जीव-आत्मा परभव में विग्रहगति द्वारा जाते समय कार्मण योग की सहायता लेता है, उसी तरह अविग्रह गति (यानी वलांक रहित-ऋजु-सरलगति) द्वारा परभव में जाते समय कौनसे योग की सहायता लेता है?

उत्तर—अविग्रह-ऋजुगति एक ही समय की होती है। अर्थात्—अविग्रह गति द्वारा जीव-आत्मा एक ही समय में उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाता है। जैसे—पूर्व शरीर के प्रयत्न के वेग से ही धनुष में से छूटे हुए बाण की तरह इष्ट स्थान में पहुँच जाता है, वैसे इधर भी अविग्रह गति में जीव को पूर्वभव के शरीर के योग की सहायता से एक ही समय में उत्पत्ति के स्थान में जीव-आत्मा नियम से पहुँच ही जाता है।

(अ. २, सूत्र २६)

आकाशे जीव-पुद्गलयोः गतिः

सूत्रम्–

अनुश्रेणिगतिः ॥ २-२७ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

सर्वा-समस्ता गतिर्जीवानां पुद्गलानां च आकाशप्रदेशानुश्रेणिर्भवति । विश्रेणिर्न भवतीति । गतिसम्बन्धिनियमः सर्वजीवानां पुद्गलानां कृते वर्तते । किन्तु समग्रावस्थायां नैव ॥ २-२७ ॥

❋ **सूत्रार्थ**–जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यों की समस्त गति आकाशप्रदेश के अनुसार ही होती है । अर्थात्–भवान्तर को जाते समय जीव-आत्मा की गति आकाशप्रदेशों की श्रेणी के अनुसार अर्थात् सरल रेखा के अनुसार होती है ॥ २-२७ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

यह गति सम्बन्धी नियम समस्त जीव-पुद्गल द्रव्यों के लिए है, किन्तु उनकी सर्व अवस्थाओं के लिए नहीं है। केवल अवस्था विशेष के लिए है। इसलिए ही यह बात ध्यान में रखें।

धर्मास्तिकायादि छह प्रकार के द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दोनों ही **गतिशील** हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य की गति-यदि कोई बाह्य उपाधि न हो तो सीधी ही होती है।

भवान्तर में जाते समय जीव की जो गति होती है, वह गति भले ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् (तिरछी) किधर की भी हो; किन्तु आकाशप्रदेश पंक्ति के अनुसार ही होती है। इस तरह पुद्गल की जो स्वाभाविकी गति होती है, वह भी श्रेणी के अनुसार ही होती है। जैसे पुद्गल का एक अणु बिना किसी सहायक के चौदह राजलोक तक लोक के एक विभाग से दूसरे विभाग पर्यन्त एक ही समय में गमन करता है, यह आगमशास्त्र का वचन है कि पुद्गल की इस प्रकार की स्वाभाविकी गति अनुश्रेणि ही होती है, कभी विश्रेणि नहीं होती। लोक के मध्य भाग से ऊर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) इधर-उधर से आकाशप्रदेशों की श्रेणियाँ यानी रेखाएँ आई हैं। जैसे रेलगाड़ी पटरियों पर ही चलती है, वैसे जीव-पुद्गल आकाशप्रदेश की श्रेणी यानी रेखाओं पर ही चलते हैं।

जीव-पुद्गल की वक्र गति पर-प्रयोग से ही होती है। (अ. २, सू. २७)

सिद्धजीवानां गतिः

सूत्रम्–

अविग्रहा-जीवस्य ॥ २-२८ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

सिद्धयमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति । यः सिद्धयमानजीवः नास्ति

तस्य गतिः ऋजु-वक्रौ, किन्तु तस्य वक्रागतिः कीदृशी, कियद् वा तस्य विवेचनं अग्रेषु सूत्रेषु कृतम् ।

❀ **सूत्रार्थ–**जीवों की सिद्धचमानगति अर्थात्–स्व शरीर को छोड़कर लोक के अन्तभाग को जाते समय कर्ममुक्त जीवों की जो गति होती है, वह वक्ररहित ऋजु-सरल गति ही होती है ।

सारांश यह है कि–लोकान्त को जाते समय सिद्धचमान जीवों की गति वक्ररहित ऋजु (सरल-सीधी) ही होती है । अर्थात्–मोक्षप्राप्ति के समय जीव-आत्मा की अविग्रह गति होती है ।। २-२८ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्व के 'अनुश्रेणिगतिः' (२-२७) सूत्र में जीव और पुद्गल दोनों की अनुश्रेणिगति कही है । इसलिए यहाँ पर जीव और पुद्गल दोनों का ही बोध हो सकता था, किन्तु यहाँ जीव शब्द के ग्रहण होने से पुद्गल का निराकरण हो जाता है तथा आगे आने वाले सूत्र में संसारी शब्द का ग्रहण किया है, इसलिए इससे यहाँ पर भी जीव शब्द से सिद्धचमान (सिद्ध होने वाले) जीव का ही अभिप्राय है । अर्थात् उसे ही सिद्धचमान जीव समझना चाहिए । यह बात सामर्थ्य से ही उपलब्ध हो जाती है ।

जो सिद्धचमान जीव नहीं है, उसकी गति ऋजु तथा वक्र दोनों तरह की होती है । सिद्धचमान जीव की तो एक मात्र ऋजुगति ही होती है ।। २-२८ ।।

संसारीजीवानां गतिः, विग्रहगतेश्च कालः—

सूत्रम्–

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।। २-२९ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

संसारिणः जीवाः जात्यन्तरसंक्रान्तौ विग्रहवती चाविग्रहवती अवस्थायां गतिः क्रीयन्ते । उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यग्-ऊर्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भिः इति । येषां विग्रहवती तेषां विग्रहाः प्राक् चतुर्भ्यो भवन्ति । अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुः समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति । परतो न सम्भवन्ति, प्रतिघाताभावाद् विग्रहनिमित्ताभावाच्च । विग्रहो वक्रितं विग्रहोऽवग्रहः श्रेण्यन्तर-संक्रान्तिरित्यनर्थान्तरम् । पुद्गलानामप्येवमेव । शरीरिणां च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात्, न तु तत्र विग्रहनियमः । शरीरधारिणां कृते विग्रहस्य नैव नियम इति ।। २-२९ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–भवान्तर में जाने वाले संसारी जीवों की अपने जन्म-क्षेत्र की स्थिति के अनुसार विग्रहवती और अविग्रहवती दोनों प्रकार की गति होती है। विग्रह गति ऊँची, नीची तथा तिरछी, इन तीनों दिशाओं को मिलाकर चार समय के पूर्व-पूर्व हुआ करती है। अर्थात्–संसारी जीवों की गति अविग्रह, सविग्रह दोनों प्रकार की है। वह चार से पूर्व तीनादि समयवाली होती है।। २-२६ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

भवान्तर में जाने वाला संसारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीर को छोड़कर अन्य देह-शरीर को धारण करने के लिए गमन करता है, उस समय उसके विग्रहवती यानी विग्रहवाली-वक्र अथवा अविग्रहवाली-ऋजु-सरल गति होती है। इससे वह भवान्तर में अपने उत्पत्तिस्थान तक पहुँच जाता है। जैसा उपपाद क्षेत्र यानी जन्मक्षेत्र मिलता है, वैसी गति होती है। यदि विग्रहवती के योग्य क्षेत्र होता है, तो विग्रहवाली वक्र गति होती है तथा यदि अविग्रहवाली गति के योग्य जन्मक्षेत्र होता है तो अविग्रहवाली ऋजु-सरल गति होती है। किन्तु यह अविग्रहवाली गति तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधः इस तरह तीनों दिशाओं की मिलाकर चार समय के पहले-पहले ही हुआ करती है। इन गतियों में चार समय तक लगा करते हैं। इसलिए कालभेद की अपेक्षा से इन गतियों के चार भेद हैं—(१) अविग्रहा, (२) एकविग्रहा, (३) द्विविग्रहा, तथा (४) त्रिविग्रहा।

विशेष—मृत्युस्थान से जब उत्पत्तिस्थान समश्रेणी में होता है, तब जीव-आत्मा किसी प्रकार के वलाङ्क बिना अविग्रह गति से उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाता है। किन्तु जब उत्पत्ति स्थान मृत्युस्थान से समश्रेणी में नहीं होता है तब जीव-आत्मा को किसी समय एक, किसी समय दो, किसी समय तीन वलाङ्क से भी गति करनी पड़ती है। जिस गति में एक वलांक आता है, वह गति **एकविग्रहा** अर्थात् **एकवक्रा** कहलाती है। जिस गति में दो वलांक आते हैं, वह गति **द्विविग्रहा** अर्थात् **द्विवक्रा** कही जाती है। जिस गति में तीन वलांक आते हैं, वह गति **त्रिविग्रहा** अर्थात् **त्रिवक्रा** कहलाती है।

संसारी जीव-आत्मा को मृत्यु पाकर अर्थात् निज देह छोड़कर परभव-भवान्तर में जाते समय वलांक लेना पड़ता है, उसके दो कारण हैं। **एक कारण** तो यह है कि संसारी जीव-आत्मा को कर्म के आधीन होने से अपने कर्म के अनुसार दिशा-विदिशाओं में आड़े अवला स्थान में उत्पन्न होना पड़ता है। **दूसरा कारण** यह है कि जीव-आत्मा को आकाशप्रदेशों की श्रेणी के अनुसार ही गति करनी पड़ती है। जब जीव-आत्मा को ऊर्ध्वलोक के पूर्व दिशा के स्थान में मृत्यु पाकर अधोलोक की पश्चिम दिशा के स्थान में उत्पन्न होना हो तो प्रथम समश्रेणी के द्वारा नीचे उतरना पड़ता है। पश्चात् वह पश्चिम दिशा की तरफ वलाङ्क लेकर उत्पत्ति के स्थान पर पहुँचता है। इस प्रकार यह एक वक्रगति होती है।

❀ अब जिस जीव-आत्मा को ऊर्ध्वलोक के अग्निकोण में मृत्यु पाकर अधोलोक के वायव्यकोण में उत्पन्न होना हो तो भी, प्रथम समय में वह समश्रेणी से आता है। बाद में दूसरे

समय में अधोलोक की तरफ मुड़कर समश्रेणी से अध:-नीचे उतरता है, फिर तीसरे समय में वायव्य कोण की तरफ मुड़कर वह उत्पत्ति के स्थान पर पहुँच जाता है। इससे यह दूसरी वक्रगति होती है।

❀ त्रसनाड़ी के बाहर रहा हुआ जब कोई संसारी जीव-आत्मा ऊर्ध्वलोक की दिशा में से त्रसनाड़ी के बाहर अधोलोक की विदिशा में उत्पन्न हो तब, पहले समय में समश्रेणी से त्रसनाड़ी में प्रवेश करेगा, दूसरे समय में मुड़कर समश्रेणी द्वारा अधोलोक में आयेगा, फिर तीसरे समय में मोड़ा लेकर समश्रेणी द्वारा त्रसनाड़ी के बाहर की दिशा में जायेगा तथा चौथे समय में मोड़ा लेकर समश्रेणी से विदिशा में उत्पत्ति के स्थान पर आयेगा। इस गति में तीन वलांक (मोड़ा) होने से यह गति त्रिवक्रा कही जाती है।

❀ त्रसनाड़ी के बाहर स्थित कोई जीव-आत्मा जब ऊर्ध्वलोक की विदिशा में से त्रसनाड़ी के बाहर अधोलोक की विदिशा में उत्पन्न हो तब, पहले समय में समश्रेणी द्वारा त्रसनाड़ी के बाहर ही विदिशा में से दिशा में आवे, दूसरे समय में वलांक लेकर समश्रेणी से त्रसनाड़ी में प्रवेश करे, तीसरे समय में वलांक लेकर अधोलोक में आवे, चौथे समय में वलांक लेकर त्रसनाड़ी के बाहर आवे, तथा पाँचवें समय में वलांक लेकर विदिशा में उत्पत्ति के स्थान पर पहुँचे। यद्यपि यहाँ पर चार वलांक आ जाने से चतुर्वक्रागति भी होती है, किन्तु ऐसा किसी-किसी जीवात्मा के ही बनता है। त्रसकाय में से पुनः त्रसकाय में उत्पन्न होने वाले जीव-आत्माओं में एकवक्रागति और द्विवक्रागति सम्भवतीत है। त्रसकाय में से स्थावरकाय में उत्पन्न होने वाले जीव-आत्माओं में त्रिवक्रागति भी हो सकती है। तथा स्थावरकाय में से स्थावरकाय में उत्पन्न होने वाले जीव-आत्माओं में चतुर्वक्रागति भी हो सकती है। किन्तु यह चतुर्वक्रागतिक्वाचित् ही होती है। इसलिए सूत्र में उसका निर्देश नहीं किया है।

सारांश यह है कि—एकवक्रागति दो समय की होती है, द्विवक्रागति तीन समय की होती है, त्रिवक्रागति चार समय की होती है तथा चतुर्वक्रार्गति पाँच समय की भी होती है। क्योंकि सर्व प्रकार की वक्रगति में पहले समय की गति तो अवक्रगति ही होती है ॥ २-२९ ॥

अविग्रहगतेः कालः—

सूत्रम्—

एकसमयोऽविग्रहः ॥ २-३० ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

अविग्रहागतिः एकसमयवर्त्तिनी भवति। अविग्रहागतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति। एकविग्रहाद्वाभ्याम्, द्विविग्रहा, त्रिभिः, त्रिविग्रहा चतुर्भिः। अत्र भङ्ग-प्ररूपणा कार्येति ॥ २-३० ॥

❀ **सूत्रार्थ**—एक समय की गति को **अविग्रह** कहते हैं। अर्थात्—लोकान्त को

जाने वाले जोव-आत्मा की और भवान्तर-जन्मान्तर को जाने वाले जीव-आत्मा की भी विग्रहरहित (ऋजु-सरल) गति एक समय को ही होती है ।। २-३० ।।

卐 विवेचनामृत 卐

संसारवर्ती जीव-आत्मा को जहाँ उत्पन्न होना है वहाँ एक ही समय में पहुँच जाय तो वह अविग्रहगति से ही जाता है। यदि उत्पत्ति के स्थान में जाने में एक से अधिक समय लगे तो भी प्रथम समय में अविग्रहगति ही होती है। शेष समयों में विग्रहगति होती है, क्योंकि दूसरे समय से वलाङ्क का प्रारम्भ हो जाता है तथा वलाङ्क बदलते ही आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है। यही आनुपूर्वी नामकर्म जैसे बैल को नाथ पकड़ के मालिक इष्ट स्थान में ले जाने में आता है, वैसे संसारी जीव-आत्मा को उत्पत्ति के स्थान में आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार ले जाता है।

विशेष—अविग्रह गति एक समय की होती है। इसमें विग्रह नहीं पाया जाता है। यदि यह गति लोकान्तप्रापिणी हो, तो भी वह एक ही समय के द्वारा होती है। उसमें अधिक समय नहीं लगते। अतएव जिसमें एकविग्रह पाया जाता है, वह दो समय के द्वारा, तथा जिसमें दो विग्रह पाये जाते हैं, वह तीन समय के द्वारा एवं जिसमें तीन विग्रह पाये जाते हैं, वह चार समय के द्वारा होती है। इस तरह से इस विषय में भङ्गप्ररूपणा लगा लेनी चाहिए। अर्थात्—समझ लेनी चाहिए।

प्रश्न—विग्रहगति को धारण करने वाले जीव-आत्मा आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

उत्तर—विग्रहगति को धारण करने वाले जीव-आत्मा अनाहारक अर्थात् आहार बिना के ही होते हैं। क्योंकि, वहाँ पर कार्मणयोग के सिवाय दूसरा कोई भी योग नहीं पाया जाता है।

प्रश्न—यदि वे जीव-आत्मा अनाहारक ही होते हैं, तो उनकी अनाहारकता का काल कितना होता है ?

उत्तर—इसका उत्तर नीचे दिये हुए सूत्र से जानना-समझना। (अ. २, सू. ३०)

परभवगमने सति अनाहारस्य कालः—

सूत्रम्—

एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।। २-३१ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

उपर्युक्तविग्रहगतिप्राप्तो जीवः एकं वा समयद्वौ वा समयावनाहारको भवति। शेषं कालमनुसमयमाहारयति। कथमेकं द्वौ वाऽनाहारको न बहूनीत्यत्र भङ्गप्ररूपणा कार्या। आहारशब्देनौदारिकवैक्रियिकशरीरस्य पोषकपुद्गलानां ग्रहणेनाभिप्रायः ।। २-३१ ।।

❀ **सूत्रार्थ**—एक या दो समय तक जीव-आत्मा अनाहारक होता है। अर्थात् विग्रहगति प्राप्त जीव-आत्मा एक समय या दो समय के लिए अणाहारी होता है—आहार लेता नहीं है ।। २-३१ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

विग्रहगति को प्राप्त संसारी जीव-आत्मा एक समय मात्र के लिए या दो समय के लिए अनाहारक होता है, किन्तु शेष समय में प्रतिक्षण आहार को ग्रहण करता ही है। वह एक समय पर्यन्त या दो समय तक अनाहारक यानी आहार बिना क्यों रहता है? तथा अधिक समय तक अनाहारक क्यों नहीं रहता, इसका कारण क्या है? इसके लिए भङ्गप्ररूपणा करने से यह बात समझ में आ जायेगी।

पुनर्जन्म मानने वाले प्रत्येक दर्शन के समक्ष अन्तराल-गत्यन्तर सम्बन्धी पाँच प्रश्न उपस्थित होते हैं। वे निम्नलिखित प्रकार से हैं—

(१) जब संसारी जीव-आत्मा जन्मान्तर या मोक्ष के लिए गति करता है, तब अर्थात् अन्तराल गति के समय स्थूल देह-शरीर न होने से वह प्रयत्नशील कैसे हो सकता है?

(२) गतिशील वस्तु-पदार्थ किस प्रकार के नियम से गतिक्रिया करते हैं?

(३) गतिक्रिया के कितने भेद हैं और कौन-कौन से जीव-आत्मा किस-किस गतिक्रिया के अधिकारी हैं?

(४) अन्तरालगति का जघन्य या उत्कृष्ट कालमान कितना है तथा यह कालमान किस नियम पर अवलम्बित है?

(५) अन्तगति के समय जीव-आत्मा आहार लेता है या नहीं? अगर नहीं लेता है तो जघन्य या उत्कृष्ट कितने काल तक? तथा अनाहारक स्थिति का कालमान किस प्रकार के नियम पर अवलम्बित है?

जो सर्वव्यापी जीव-आत्मा मानने वाले हैं उन व्यापक आत्मवादियों, दर्शनों को भी उपर्युक्त इन पाँच प्रश्नों पर अवश्य विचार करना चाहिए। क्योंकि उन्हें भी पुनर्जन्म की उत्पत्ति के लिए सूक्ष्म शरीर का गमन तथा अन्तरालगति दोनों को मानना ही पड़ता है। किन्तु जैनदर्शन तो नितान्त देहव्यापी आत्मवादी ही है।

इसलिए उसे तो उपर्युक्त पाँचों ही प्रश्नों पर अवश्य विचार करना योग्य है। यहाँ क्रमशः यही विचार—पूर्व के २६ वें सूत्र से लेकर इस ३१ वें सूत्र तक—का किया जा रहा है—

(१) **योग**—अन्तरालगति यानी अन्तरगति दो प्रकार की होती है। एक **ऋजुगति** और दूसरी **वक्रगति**। इसमें ऋजुगति से स्थानान्तर जाते हुए जीव-आत्मा को किसी प्रकार का भी नूतन-नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उस समय उसको

पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है। उसी के बल से दूसरे प्रयत्न के बिना ही वह धनुष से छूटे हुए बाण के समान सीधे अपने नये स्थान पर पहुँच जाता है।

अब दूसरी वक्रगति से जाने वाले जीव-आत्मा को नया प्रयत्न करना पड़ता है। क्योंकि, पूर्वशरीरजन्य प्रयत्न से समश्रेणी जाता हुआ जीव जब विश्रेणी को प्राप्त होता है, उस समय पूर्व देह-शरीरजन्य प्रयत्न मन्द हो जाता है। किन्तु उस समय भी जीव-आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर तो रहता ही है। वही सूक्ष्म-शरीरजन्य प्रयत्न कार्मण योग कहलाता है। इस आशय से ही सूत्र में कहा है कि विग्रहगति में कार्मण काय योग होता है।

सारांश यह है कि—वक्रगति से जाने वाला जीव-आत्मा मात्र पूर्वदेह-शरीर जन्य प्रयत्न से नये स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसके लिए तो नया प्रयत्न कार्मण—सूक्ष्म शरीर द्वारा ही साध्य है। क्योंकि उस समय अन्य कोई स्थूल शरीर नहीं रहता। स्थूलशरीर के बिना मनोयोग और वचन योग भी नहीं होते। यही **विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥** इस सूत्र का सारांश है।

(२) **गति का नियम**—गतिशील पदार्थ दो ही हैं। एक जीव और दूसरा पुद्गल। इन्हीं दोनों में गतिक्रिया की शक्ति है। इसलिए निमित्त मिलते ही वे अपनी गतिक्रिया में परिणत होकर गति करने लगते हैं। बाह्य उपाधि से वे भले वक्रगति यानी बाँकी गति करे, किन्तु उनकी स्वाभाविक गति तो समश्रेणी अर्थात् सीधी ही होती है। सीधी गति का आशय तो यह है कि पहली बार जिस आकाश-क्षेत्र में जीव या पुद्गल-परमाणु स्थित हों, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश-क्षेत्र की सीधी सरल रेखा में ऊँचे, नीचे या तिरछे चाहे भले चले जाते हों, उसे **समश्रेणी** कहते हैं। समश्रेणी की स्वाभाविक अपेक्षा से यहाँ सूत्रकार महर्षि ने इनको **अनुश्रेणिगतिः** कहा है। किन्तु उसमें भी कोई प्रतिघातक कारण उपस्थित हो जाता है तो वे जीव या पुद्गल श्रेणी (सरल रेखा) को छोड़कर वक्ररेखा (बाँकी रेखा) से भी गमन करते हैं। यदि गतिक्रिया के प्रतिघातक कोई निमित्त न हों तो वे समश्रेणीगामी ही होते हैं। इस तरह **अनुश्रेणिगतिः ॥ २७ ॥** इस सूत्र का यह सारांश है।

(३) **गति के भेद**—पूर्वोक्त सूत्र में कहा गया है कि—गति ऋजु या वक्र दो प्रकार की है। उसमें ऋजुगति यह है कि जिसमें पूर्व स्थान में से नये स्थान तक जाने में सीधी-सरल रेखा का भंग न हो, अर्थात् एक भी मोड़ घुमाव न हो उसको **ऋजुगति-सरलगति** कहते हैं। तथा जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में ऋजु-सरल रेखा का भंग हो अर्थात् कम-से-कम भी एक मोड़ घुमाव अवश्य हो तो उसे **वक्रगति-वाँकगति** कहते हैं।

ऊपर यह भी कहा गया है कि—जीव और पुद्गल दोनों इन ऋजु और वक्र दोनों गतियों के अधिकारी हैं। किन्तु यहाँ पर तो मुख्यता जीव-आत्मा की है। पूर्व देह-शरीर को छोड़कर नये स्थान में जाने वाले जीव-आत्मा दो प्रकार के हैं। एक **मोक्षगामी** यानी मोक्ष में जाने वाले, और दूसरे **संसारवर्त्ती** यानी संसार में रहने वाले हैं। जो जीव-आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों देह-शरीर को सर्वथा ही सदा के लिए छोड़कर जाता है, वह जीव मोक्ष में जाने वाला कहलाता है। तथा जो जीव पूर्व के स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करता है, वह अन्तराल गति के समय सूक्ष्मशरीर से अवश्य वेष्टित आच्छादित होता है। इसलिए वह जीव संसारी अर्थात्

संसार में रहने वाला कहलाता है। मुच्यमान जीव-आत्मा मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजु-सरलगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं। क्योंकि, मोक्ष जाने वाले जीव समश्रेणीगामी ही होते हैं।

संसारी जीवों के लिए उत्पत्तिस्थान का कोई नियम नहीं है। किसी भी समय वे उत्पत्ति-स्थान से समश्रेणीगत स्थान को जाते हैं। वे ऋजुगतिगामी हैं। किसी समय उनको वक्रगति का भी अनुकरण करना पड़ता है।

यह वक्रगति तीन प्रकार की होती है—(१) पाणिमुक्ता वक्रगति, (२) लांगलिका वक्रगति और (३) गौमुत्रा वक्रगति।

जिसमें—(१) एक बार ऋजु-सरल रेखा का भंग होता है, उसे **पाणिमुक्ता वक्रगति** कहते हैं। (२) दो बार भंग होता है, उसे **लांगलिका वक्रगति** कहते हैं और (३) तीन बार भंग होता है, उसे **गौमुत्रा वक्रगति** कहते हैं। जीव-आत्मा की कोई भी ऐसी वक्रगति नहीं होती है कि जिसमें तीन से अधिक घुमाव करने पड़े। क्योंकि जीव-आत्मा नूतन उत्पत्तिस्थान भले कितना ही विश्रेणिपतित (अर्थात्—वक्ररेखा स्थित) क्यों न हो, वह तीन घुमाव में तो नितान्त-अवश्य प्राप्त हो ही जाता है। पुद्गल की वक्रगति में तो घुमाव की संख्या का किसी प्रकार से कोई नियम नहीं है, उसका आधार तो प्रेरक निमित्त है। अर्थात् वह प्रेरक की प्रेरणा के आधार पर है।

सारांश यह है कि—कर्म विविध प्रकार के होने से संसारी जीवों के गति का एक नियम नहीं है, वे ऋजु तथा वक्र दोनों गतिगामी होते हैं। मुक्ति-मोक्षस्थान को गमन करने वाले निर्मल जीव-आत्मा की मात्र एक ऋजुगति होती है।

भले उसको ऋजुगति कहो, सरलगति कहो या इषुगति कहो ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। वक्रगति के भी पाणिमुक्ता, लांगलिका तथा गौमुत्रा ये तीन नाम हैं। वक्रगति द्वारा गमन करने वाले जीव-आत्मा तीन से अधिक वांकवाली टेढ़ी गति नहीं करते हैं। उनको क्रम से यावत् दो, तीन, चार समय लगता है। पूज्य श्रीपंचमाङ्ग-भगवती सूत्र की वृत्ति-टीका में यावत् पाँच समय की विग्रहगति भी कही है। पुद्गल के वक्रगति के वक्र-वांक का कोई नियम नहीं है, किन्तु वह प्रेरक की प्रेरणा के आधार पर है। (२८-२९)

(४) **गति का कालमान**—अन्तराल-अन्तरगति का कालमान जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट चार समय का है। जब ऋजुगतिवाला जीव-आत्मा जिस समय पूर्वदेह-शरीर का त्याग करता है तब उसके उत्तर समय में नया शरीर धारण कर लेता है। इसलिए उसकी गति एक समय की कही है। जब वक्रगतिवाला जीव-आत्मा हो तब उसके दो, तीन और चार समय कहा है। समय की वृद्धि का आधार वक्र-वांक की संख्या की वृद्धि के आधार पर है।

उनकी स्थापना का दृश्य

ऋजु **एकवंका** **द्विवंका** **त्रिवंका**

❀ जिस गति में जीव-आत्मा को जाने के लिए एक वाँक है, उसका कालमान दो समय का है।

❀ जिस गति में जीव-आत्मा को जाने के लिए दो वांक है, उसका कालमान तीन समय का है।

❀ जिस गति में जीव-आत्मा को जाने के लिए तीन वांक है, उसका कालमान चार समय का है।

सारांश यह है कि—जब जीव-आत्मा को एक विग्रहगति से उत्पत्ति के स्थान में जाना हो तब पूर्व के स्थान से वांक वाले स्थान पर पहुँचने के लिए एक समय लगता है तथा वांक वाले स्थान से उत्पत्ति वाले स्थान को जाने के लिए जीव-आत्मा को एक समय एवं दो समय लगते हैं। इस तरह इस नियम के अनुसार दो विग्रहगति में तीन समय लगते हैं। तथा तीन विग्रहगति में चार समय लगते हैं। भले ऋजुगति हो या वक्रगति हो भवान्तर-जन्मान्तर के लिए पूर्व का आयुष्य पूर्ण होने के पहले ही नये-नूतन आयुष्य, गति, आनुपूर्वी नामकर्म का बन्ध पड़ता है। इसलिए वहाँ पर जीव-आत्मा तदनुसार ही उदयावली को प्राप्त होता है। **"एकसमयोऽविग्रहः"** यह तीसवीं गाथा-सूत्र का सारांश है।

(५) **अनाहार का कालमान**—मुच्यमान जीव-आत्मा के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न नहीं रहता है। क्योंकि, वह जीव-आत्मा सूक्ष्म और स्थूल सब देह-शरीरों से मुक्त है। किन्तु संसारवर्त्ती संसारी जीव-आत्मा के लिए आहार सम्बन्धी प्रश्न अन्तरगति के लिए उपस्थित होता है। क्योंकि, वे सूक्ष्म देह-शरीर से तो रहित कभी नहीं हो सकते हैं। तथा जब जीव-आत्मा को बादर नामकर्म का उदय होता है तब उस समय वे बादर देह-शरीर को धारण करते हैं। इसलिए संसारवर्त्ती संसारी जीव-आत्मा कभी किसी अवस्था में अशरीरी नहीं रह सकत।

शरीरयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करना ऐसा संसारवर्त्ती संसारी जीवों के लिए अन्तराल-अन्तरगति समय में भी उपस्थित है। परन्तु स्थानाभाव के कारण वे नहीं ग्रहण कर सकते हैं। जब स्थान का सद्भाव होगा तब जीव-आत्मा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके स्वदेह-शरीरपने परिणमाते हैं। पूर्व भव के शरीर द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का समय या नूतन-नये स्थान में ग्रहण किये हुए आहार का समय वही ऋजु-सरलगति का समय है।

एक विग्रहगति वाले जीव-आत्मा का प्रथम समय पूर्व भव द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है तथा द्वितीय समय उत्पत्ति के स्थान में पहुँचने का है, जो नूतन देह-शरीर को धारण करके आहार को ग्रहण करता है। किन्तु तीन समय की दो विग्रहगति वाली और चार समय की तीन विग्रहगति वाली गति है, वही अनाहारक स्थिति संप्राप्त है। क्योंकि इसका यह कहना है कि उक्त दोनों गति में प्रथम-पहला समय त्यक्त देह-शरीर द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है, तथा अन्तिम समय उत्पत्ति स्थान में प्राप्त किये हुए आहार का है। इस तरह प्रथम और अन्तिम समय को छोड़कर मध्य के समय अनाहारक रहता है। द्विविग्रह गति में भी एक समय और तीन विग्रहगति में भी दो समय अनाहारक कहा है। कई ग्रन्थों में अनाहारक दशा तीन, चार समय की भी कही है। वह पाँच समय प्राप्त चार विग्रहवाली गति की सम्भावना की अपेक्षा से मानी गयी है। यह बात पूज्य श्री भगवती सूत्र शतक-७ उद्देश-२ में आती है।

❀ **प्रश्न**—अन्तराल-अन्तरगति में देह-शरीर-पोषक आहार रूप से स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का अभाव तो ज्ञात हुआ, परन्तु प्रश्न यह होता है कि उस समय कर्म पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं ?

उत्तर—कर्म पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं।

प्रश्न—कर्मपुद्गल किस तरह ग्रहण किये जाते हैं ?

उत्तर—संसारवर्त्ती संसारी जीव-आत्मा के अन्तराल-अन्तरगति के समय में भी कार्मण शरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण-योग कहते हैं, वह अवश्य होता है। जहाँ योगदशा है वहाँ कर्म पुद्गलों का भी ग्रहण अनिवार्य है। क्योंकि योग ही कर्मवर्गणा के आकर्षण का कारण है। जैसे—जल की वृष्टि के समय फेंका हुआ संतप्त बाण जल के कणों को ग्रहण करके शोषण करता हुआ चला जाता है, वैसे ही इधर भी अन्तराल-अन्तरगति के समय कार्मण योग की चञ्चलता से जीव-आत्मा भी कर्मवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उसको अपने साथ सम्मिलित करके स्थानान्तर की ओर गतिमान हो जाता है। यह "**एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।। ३१ ।।**" सूत्र का सारांश है।

इस तरह पाँचों प्रश्नों के प्रत्युत्तर के साथ २६ वें सूत्र से लेकर ३१ वें सूत्र तक का प्रश्नोत्तरी रूपे सारांश प्रतिपादन किया है।

जन्म-भेदाः

सूत्रम्—

सम्मूर्छन-गर्भोपपाता जन्म ।। २-३२ ।।

❋ सुबोधिका टीका ❋

त्रिविधं जन्म, सम्मूर्छनं गर्भं उपपातेति। यत्र जीवः उत्पद्यते तत्र पुद्गलद्रव्यस्य तत् शरीररूपपरिणमनं सम्मूर्छनमिति ।। २-३२ ।।

❀ **सूत्रार्थः**—जन्म के तीन प्रकार हैं अर्थात्—तीन भेद हैं। **१. सम्मूर्छन, २. गर्भ** और **३. उपपात।**

(१) जिस स्थान पर जीव-प्राणी को उत्पन्न होना है, उस स्थान के पुद्गल द्रव्य का उस जीव-प्राणी के देह-शरीररूप में जो परिणमन करना, वह '**सम्मूर्छन**' कहलाता है।

(२) माता और पिता के रज-वीर्य के संयोग से बनने वाले देह-शरीर को '**गर्भ**' जन्म कहते हैं।

(३) देव और नारकी जीवों-प्राणियों के देह-शरीर के परिणमन को '**उपपात**' जन्म कहते हैं ।। २-३२ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

संसारवर्त्ती संसारी जीव-आत्माएँ पूर्वभव पूर्ण होने पर नूतन नया भव धारण करती हैं। इसके लिए इनको जन्म लेना पड़ता है। परन्तु सब जीवों-प्राणियों का जन्म एक समान नहीं होता। इसलिए उसका वर्णन-विवेचन करना यह प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है।

पूर्वभव के स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद केवल कार्मण शरीर के साथ नूतन-नये स्थान में आकर भवधारणीय स्थूल शरीर के लिये योग्य पुद्गलों को पहले-पहल ग्रहण करना, उसको **जन्म** कहते हैं। अर्थात्—उत्पत्ति क्षेत्र में आकर नूतन-नवीन भव के स्थूल देह-शरीर के योग्य पुद्गलों को सर्वप्रथम ग्रहण करना, यही **जन्म** है।

जन्म के तीन प्रकार अर्थात् तीन भेद हैं—(१) **सम्मूर्छन**, (२) **गर्भ** और (३) **उपपात**।

(१) माता-पिता के संयोग बिना ही उत्पत्ति स्थान में आकर प्रथम-पहले समय में ग्रहण किये हुए औदारिक पुद्गलों को शरीररूप में परिणत करना, यह **'सम्मूर्छन जन्म'** कहलाता है।

(२) तथा माता-पिता के संयोग-सम्बन्ध से शुक्र और शोणित के पुद्गलों को प्रथम—पहले शरीर के लिए ग्रहण करना अर्थात् शरीर बनाना, यही **'गर्भ जन्म'** अर्थात् **गर्भज-जन्म** कहलाता है।

(३) एवं माता-पिता के संयोग-सम्बन्ध सिवाय उत्पत्ति के स्थान में वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत अर्थात् परिणमन करना **'उपपात जन्म'** कहलाता है। जन्म के ये तीन भेद जन्मस्थान के भेदों की अपेक्षा हैं।

❀ **विशेष जानकारी**—उपर्युक्त जन्म के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नीचे प्रमाणे है—

(१) **सम्मूर्छन जन्म**—जिस स्थान में जीव-प्राणी को उत्पन्न होना है, उसी स्थान में रहे हुए पुद्गल द्रव्य का उस जीव-प्राणी के देह-शरीर के रूप में परिणमन करना, इसको **'सम्मूर्छन'** कहते हैं। जैसे—काष्ठ-लकड़े इत्यादिक में घुण लग जाता है, फल वगैरह में कीड़े पड़ जाते हैं, तथा सर्दी या गर्मी आदि का निमित्त पाकर देह-शरीर में या वस्त्रादिक में जूँ प्रमुख पड़ जाते हैं, जल-पानी इत्यादिक का निमित्त पाकर अन्न-अनाज में अंकुर तथा भूमि-जमीन में घास आदि उत्पन्न हो जाते हैं, इत्यादिक देह-शरीरों की उत्पत्ति को **सम्मूर्छन जन्म** कहा जाता है। क्योंकि, उस स्थान पर जीव-प्राणी के आने के साथ ही पुद्गल-परमाणु देह-शरीर रूप परिणत हो जाते हैं। ज्ञानी महापुरुष इसी को सम्मूर्छन-जन्म कहते हैं।

विश्व में एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव-प्राणियों का सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

(२) **गर्भ जन्म**—माता-पिता का संयोग-सम्बन्ध होने पर उनके रज-वीर्य के अर्थात् शुक्र-शोणित के संयोग से जो देह-शरीर बनता है, उसे **'गर्भ जन्म'** कहते हैं। जैसे—मनुष्य का, पशुओं का या पक्षियों का शरीर होता है।

(३) **उपपात जन्म**—उत्पत्ति के स्थान में रहे हुए वैक्रिय पुद्गलों को सर्वप्रथम ग्रहण करना,

उसको **'उपपात-जन्म'** कहते हैं। जैसे—देव और नारकियों के शरीर-परिणमन ही उपपात-जन्म रूप हैं।

सम्मूर्छन जन्म में तथा उपपात जन्म में नियत और अनियत स्थान की अपेक्षा अन्तर जानना चाहिये। क्योंकि—सम्मूच्छन जन्म का स्थान तथा आकार नियत नहीं है, किन्तु देवों के और नारकियों के स्थान तथा आकार दोनों नियत हैं।

सम्मूर्च्छन जन्म के द्वारा एवं गर्भ जन्म के द्वारा उत्पन्न हुआ देह-शरीर स्थूल (औदारिक) हुआ करता है, परन्तु उपपात जन्म से प्राप्त हुआ देह-शरीर सूक्ष्म (वैक्रियिक) होता है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में जन्म के तीन भेद, जन्मस्थान के भेद की अपेक्षा से जानना। (२-३२)

योनि-भेदाः

सूत्रम्—

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशः तद्योनयः ॥ २-३३ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

अष्टविध-कर्मस्वरूपीसंसारे पतितानां जीवानां जन्म त्रिविधः। संसारे जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन एताः सचित्तादयः सप्रतिपक्षामिश्राश्चैकशो योनयो भवन्ति। तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा, संवृता, विवृता, संवृतविवृता, इति। तत्र नारकदेवानामचित्ता योनिः, तथा गर्भजन्मनां मिश्रा योनिः। त्रिविधाऽन्येषाम्। गर्भजन्मनां देवानां च शीतोष्णा योनिः। तेजः कायस्योष्णा योनिः। त्रिविधाऽन्येषाम्। नारकैकेन्द्रिय-देवानां संवृता योनिः। गर्भजन्मनां मिश्रा योनिः। संवृतविवृता योनिश्चाऽन्येषामिति।

अर्थात्—संसारिणः जीवाः शरीरस्य विनष्टे सति उत्तरवपुयोग्यपुद्गलद्रव्यं यत्र संग्राह्य कार्मणेन सह योजयति, तत् स्थानं **योनिरिति**। मूले स सचित्तादिकैः नवविधः कथिता एव। किन्तु तस्योत्तरचतुरशीतिभेदाः। पुद्गलयोनिसम्बद्धाः सचित्ता। ये च तत् स्वरूपेण अपरिणता तेऽचित्ताः, एतौ पुद्गलजन्माधारौ। अतः मिश्रोच्यते। यावन्तः कायजातयभेदाः तावन्तः योनिभेदाः सन्ति ॥ २-३३ ॥

❀ **सूत्रार्थः**—जीव-आत्मा के उत्पत्ति स्थान को **'योनि'** कहते हैं। इसके नौ भेद हैं। उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—(१) सचित्तयोनि, (२) शीतयोनि, (३) संवृतयोनि, (४) अचित्तयोनि, (५) उष्णयोनि, (६) विवृतयोनि, (७) सचित्ताचित्तयोनि, (८) शीतोष्णयोनि, तथा (९) संवृतविवृत-योनि ॥ २-३३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

अष्टविध कर्मरूप संसार के बन्धन में पड़े हुए जीव-प्राणियों के जन्म के लिए तीन प्रकार बताये हैं। सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात। इनकी योनि-आधारस्थान सचित्तादिक तीन तथा इनके प्रतिपक्षी अचित्तादिक तीन एवं एक-एक के मिश्ररूप तीन; इस तरह सब मिलकर कुल नौ योनियाँ हैं।

संसारवर्त्ती संसारी जीव-प्राणियों को जन्म के लिए कोई स्थान अवश्य चाहिए। जिस स्थान पर रहकर जीव प्रथम स्थूल शरीर के लिए औदारिकादि पुद्गलों को कार्मण शरीर के साथ उष्ण लोहे में जल की माफिक ग्रहण करता है, उस स्थान को **'योनि'** कहते हैं। वह योनि **नौ** प्रकार की है। उनके नाम नीचे प्रमाणे हैं—१. सचित्त, २. शीत, ३. संवृत, ४. अचित्त, ५. उष्ण. ६. विवृत, ७. सचित्ताचित्त, ८. शीतोष्ण और ९. संवृत-विवृत।

(१) जो योनि जीव-आत्मप्रदेशों से अधिष्ठित-व्याप्त हो, उसको **'सचित्त योनि'** कहते हैं।

(२) जो योनि जीव-आत्मप्रदेशों से व्याप्त न हो अर्थात् अव्याप्त हो, उसको **'अचित्त योनि'** कहते हैं।

(३) जो योनि कुछ भाग में जीव से अधिष्ठित-व्याप्त हो और कुछ भाग में व्याप्त न हो, उसको **'सचित्ताचित्त-मिश्र योनि'** कहते हैं।

(४) जिस उत्पत्तिस्थान में शीत स्पर्श हो, उसको **'शीत योनि'** कहते हैं।

(५) जिस उत्पत्तिस्थान में उष्ण स्पर्श हो, उसको **'उष्ण योनि'** कहते हैं।

(६) जिस उत्पत्तिस्थान के कुछ भाग में शीतस्पर्श हो और कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो, उसे **'शीतोष्ण-मिश्रयोनि'** कहते हैं।

(७) जो उत्पत्तिस्थान ढका हुआ हो या दबा हुआ हो, उसे **'संवृत योनि'** कहते हैं।

(८) जो उत्पत्तिस्थान ढका हुआ न हो अर्थात् खुला हो, उसे **'विवृत योनि'** कहते हैं।

(९) जो उत्पत्तिस्थान कुछ ढका हुआ हो और कुछ खुला हो, उसे **'संवृतविवृत-मिश्रयोनि'** कहते हैं।

कौन-कौन से जीव किस-किस योनि में उत्पन्न होते हैं, इसका स्पष्टीकरण-विवरण इस प्रकार नीचे प्रमाणे है—

जीव	**योनि**
❀ नारक (नारकी) और देव (देवता) की योनि....	**अचित्त**
❀ गर्भज मनुष्य और तिर्यंच की योनि....	**सचित्ताचित्त [मिश्र]।**
❀ शेष सब जीव अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन सभी जीवों की योनि....	त्रिविध-**सचित्त, अचित्त,** तथा **मिश्र [सचित्ताचित्त] है।**

❀ गर्भज मनुष्य, तिर्यंच तथा देव जीवों की योनि....	**शीतोष्ण** [मिश्र] है।
❀ तेजःकायिक (अग्निकायिक-तेजस्काय) जीवों की योनि....	**उष्ण** है।
❀ शेष चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक इन सभी जीवों की योनि....	त्रिविध—**शीत, उष्ण** और **शीतोष्ण** [मिश्र] है।
❀ नारक (नारकी), देव (देवता) तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि ...	**संवृत** है।
❀ गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य जीवों की योनि ...	**संवृत-विवृत** [मिश्र] है।
❀ शेष सब अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य एवं तिर्यंच इन सभी जीवों की योनि ...	**विवृत** है।

सारांश—उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि—

(१) देव तथा नारकी जीवों की अचित्त योनि, गर्भज प्राणियों की मिश्रयोनि, शेष जीवों की यथासम्भव तीन प्रकार की योनियाँ होती हैं। गर्भज प्राणियों के आत्मप्रदेशों को स्पर्श किये हुए शुक्र और शोणित **सचित्त** होते हैं, तथा आत्मप्रदेशों को नहीं स्पर्श किये हुए शुक्र और शोणित दोनों **अचित्त** होते हैं। इस सम्बन्ध में कितनेक मत वाले शुक्र को **अचित्त** और **शोणित** को **सचित्त** कहते हैं। अन्य मत वाले आचार्यों की यह मान्यता है कि—शुक्र और शोणित दोनों **अचित्त** हैं, किन्तु उत्पत्ति के स्थान रूप आत्मा के प्रदेश **सचित्त** हैं। इसलिए गर्भज तिर्यंच-मनुष्य जीवों की **योनि 'मिश्र'** कही जाती है।

(२) देव और गर्भज मनुष्य तिर्यंच जीवों की **शीतोष्ण** (मिश्र) **योनि** होती है। तेउकाय (अग्निकाय) के जीवों की **उष्ण योनि** होती है। नारकी जीवों में पहली तीन में (रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा तथा वालुकाप्रभा में) **उष्ण योनि** होती है। छठी (तमःप्रभा) में तथा सातवीं (तमस्तमःप्रभा) में **शीतयोनि** होती है। चौथी (पंकप्रभा) में तथा पाँचवीं (धूमप्रभा) में कितनेक नरकावासों में **शीतयोनि** तथा कितनेक नरकावासों में **उष्णयोनि** होती है। इसलिए नरकों में सामान्य से **शीत** और **उष्ण** ये दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं। इसमें भी विशेषता यह कहने में आई है कि—वृत्ति-टीका में नरक के जीवों की **मिश्र योनि** भी कही है। परन्तु वह मनुष्यादिक की माफिक एक नारक जीव की अपेक्षा से नहीं, किन्तु चौथी-पाँचवीं नरक में रहे हुए अनेक जीवों की अपेक्षा से दोनों प्रकार की होने से इन दो पृथ्वियों की अपेक्षा से **मिश्र** कही है। शेष जीवों की तो यथासम्भव तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं।

(३) देव, नारक और एकेन्द्रिय जीवों की **संवृतयोनि**, विकलेन्द्रिय तथा सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रिय जीवों की **विवृतयोनि** एवं शेष गर्भज तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय और मनुष्य जीवों की **मिश्रयोनि** होती है।

विशेष—मूल में सचित्तादिक के भेद से योनि नौ प्रकार की कही है, किन्तु उसके उत्तर भेद चौरासी (८४) लाख होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीवों की सात लाख योनि हैं।
(२) अप्काय एकेन्द्रिय जीवों की सात लाख योनि हैं।
(३) तेउकाय एकेन्द्रिय जीवों की सात लाख योनि हैं।
(४) वाउकाय एकेन्द्रिय जीवों की सात लाख योनि हैं।
(५) प्रत्येक वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीवों की दस लाख योनि हैं।
(६) साधारण वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीवों की चौदह लाख योनि हैं।
(७) बेइन्द्रिय जीवों की दो लाख योनि हैं।
(८) तेइन्द्रिय जीवों की दो लाख योनि हैं।
(९) चतुरिन्द्रिय जीवों की दो लाख योनि हैं।
(१०) देवों की चार लाख योनि हैं।
(११) नारकी जीवों की चार लाख योनि हैं।
(१२) तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जीवों की चार लाख योनि हैं।
(१३) मनुष्य जीवों की चौदह लाख योनि हैं।

इस प्रकार चौरासी लाख (८४०००००) जीवायोनियाँ जाननी।

प्रश्न—योनि और जन्म में क्या भेद है?

उत्तर—योनि **'आधार'** है और जन्म **'आधेय'** है। अर्थात्—स्थूल काया के लिए योग्य पुद्गलों का प्रारम्भिक ग्रहण **जन्म** है, और वह ग्रहण जिस स्थान में हो वह **योनि** है।

प्रश्न—योनियाँ तो चौरासी लाख कही हैं परन्तु यहाँ नौ योनि ही क्यों कही गयी हैं?

उत्तर—चौरासी लाख योनियों का कथन वह विस्तार की अपेक्षा से है। पृथ्वीकाय इत्यादि जिस-जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि तरतम भाव वाले जितने उत्पत्तिस्थान होते हैं उन सबको भिन्न-भिन्न गिनने से चौरासी लाख योनि हो जाती हैं। यहाँ पर उन्हीं चौरासी लाख योनियों के सचित्त आदि रूप से संक्षेप में नौ भेद कहे गये हैं।

मूल नौ प्रकार की योनियों में से किस-किस जन्म वाले जीवों के कौन-कौनसी योनि होती है, वह ऊपर कहा गया है। तथा ऊपर जन्म के तीन भेद बताये हैं, इतना ही नहीं किन्तु उनके आधार रूप योनियों के भेद-प्रभेद भी गिनाये हैं। अब किस-किस जीव-आत्मा के कौन-कौनसा जन्म होता है, तथा उन जन्मों के स्वामी कौन हैं? इसको बताने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं। (अ. २, सू. ३३)

गर्भरूपजन्म-निरूपणम्

सूत्रम्–

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥ २-३४ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

के च जरायुजाः? जरायुजानां मनुष्यगोमहिषीजाविकाश्च खरोष्ट्रमृगचमर-वराहगवयसिंहव्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वशृगालमार्जारादीनाम् । अण्डजानां सर्पगोधाकृकलाशगृह-कोकिलिकामत्स्यकूर्मनक्रशिशुमारादीनां पक्षिणां च लोमपक्षाणां हंसचाषशुकगृध्रश्येन-कपोतकाकमयूरसारङ्गमद्गुबकबलाकादीनां । पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविल्लापक-शशसारिका-नकुलमूषिकादीनां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूका वल्गुलिभारण्डपक्षि-विरालादीनां गर्भो जन्मेति च ।

अन्यच्च, जरायुजाण्डज-पोतजानां जीवानां त्रिभिः एतैः जन्मैः गर्भ-जन्म प्रादुर्भवति । अर्थात् एतेषां त्रिप्रकाराणां जीवानां गर्भजन्मैव भवति । अन्यच्च यत् एतेषां त्रिकाराणां जीवानामेव गर्भजन्म भवति ।

जालमिव लिप्यते समन्तात् जीवस्य शरीरे सः जरायुः । मातुः च पितुः रजवीर्याणि नखस्य त्वचायाः तुल्यकाठिन्यं धारयित्वा गर्भस्थस्य गोलाकारे आवृणोति गर्भं सः अण्डः । शरीरावयवानि पूर्णत्वं प्राप्य गतिसामर्थ्यं धारयन्ति ते पोताः । ये च जीवेषु जरायुजाः तेऽभ्यर्हिताः । ते च क्रियारम्भक-शक्तिसम्पन्नाः तेषु च कुत्र-चित् महती बलवत्ता मोक्षमार्गस्य फलञ्चापि लभ्यते ॥ २-३४ ॥

❀ **सूत्रार्थः**–जरायुज, अण्डज तथा पोतज जीवों का गर्भ जन्म ही होता है । गर्भ में जीव-प्राणी के शरीर के चारों तरफ जाल की तरह लिपटे हुए पदार्थ को **'जरायु'** कहते हैं । उसको **अण्ड** अथवा **अण्डा** भी कहते हैं । देह-शरीर के अवयवों के पूर्ण हो जाने पर जिसमें चलने-फिरने का सामर्थ्य प्राप्त होता है, उसको **पोत** कहते हैं । इस तरह **जरायु, अण्ड** (अण्डा) और **पोतज** कहलाते हैं ॥ २-३४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

(१) जरायुज, (२) अण्डज और (३) पोतज जीव-प्राणी गर्भ जन्म वाले होते हैं ।

(१) **जरायुज**—जरायु यानी गर्भाशय में जीव-प्राणी पर रहा हुआ मांस तथा रुधिर-खून का पटल (जाल), अर्थात्—जीव-आत्मा ऊपर वींटाया हुआ ओल का पारदर्शक पर्दा । उस जरायु से उत्पन्न होने वाले जीव-प्राणी **'जरायुज'** कहलाते हैं । जैसे—मनुष्य, गाय तथा बकरी आदि ।

यहाँ पर ग्रादि शब्द से बैल, भेड़, अश्व-घोड़ा, गधा, ऊँट, हिरण, चमरी गौ, शूकर, नीलगाय, सिंह, व्याघ्र, भालू, गैंडा, कुत्ता, शृगाल, बिल्ली, वगैरह जीव जरायुज हैं।

(२) **अण्डज**—अण्ड यानी अण्डा। अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीव-प्राणी **'अण्डज'** कहलाते हैं। जैसे—सर्प, गोह, छिपकली, गृहकोकिलिका, कछुआ, मछली, मगरमच्छ इत्यादि जीव अण्डज हैं। तथा लोमपक्षवाले पक्षियों में मयूर, हंस, नीलकण्ठ, कबूतर, कौआ, तोता, बाज, गीध, बक, बलाका, टिट्टिभ आदि जीव भी अण्डज हैं। चींटा, टीड़, बिच्छू इत्यादि कई सम्मूर्च्छिम जाति के जीव भी अण्डों से उत्पन्न होते हैं।

(३) **पोतज**—जिन जीवों-प्राणियों के बच्चों पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता है, वे जीव प्राणी **'पोतज'** कहलाते हैं। अर्थात्—जो जीव-प्राणी गर्भ से बाहर निकलते ही चलने की आदत वाले हों, तथा गर्भाशय में किसी भी प्रकार के आवरण से रहित हों, वे **पोतज** होते हैं। जैसे—हाथी, खरगोश, शारिका, चरक, नकुल, मूषक आदि जीव पोतज हैं तथा पक्षियों में चर्मपक्षवाले जीव और विडाल, जलूका, वलगुली, भारण्डपक्षी, इत्यादि जीव भी **पोतज** हैं।

इस तरह जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीन प्रकार के जीवों-प्राणियों का उपर्युक्त तीन तरह के जन्मों में से **गर्भ-जन्म** होता है। इन तीन प्रकार के जीवों-प्राणियों में से जो जरायुज हैं, वे अभ्यर्हित हैं। क्योंकि, उनमें क्रिया तथा प्रारम्भक शक्ति अधिक पाई जाती है। एवं उनमें भी किसी-किसी जीव-प्राणी में महान् प्रभाव तथा मुक्ति-मोक्षमार्ग का फल भी पाया जाता है। इसलिए उसका सबसे पहले ग्रहण किया है। इसके पश्चात् अण्डज का ग्रहण इसलिए किया है कि वह पोतज की अपेक्षा से अभ्यर्हित होता है। (२-३४)

उपपात जन्म-निरूपणम्

सूत्रम्—

नारक-देवानामुपपातः ॥ २-३५ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

नरकगतिनां नारकाणां देवानां जीवानामुपपात-जन्मेति। उपपातजन्मस्वामी द्वौ गतिवन्तौ नारक-देवौ। अर्थात्—नारक-देवानां उपपात-जन्म एव भवति, अन्यच्च नारकदेवानामेव उपपातजन्मः ॥ २-३५ ॥

❀ **सूत्रार्थः**—देवता और नारकी दोनों उपपात जन्म वाले होते हैं। अर्थात्—नरकगति के और देवगति के जीवों-प्राणियों का **उपपात जन्म** होता है ॥ २-३५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

देवों और नारकियों के जन्म के लिए विशेष नियत स्थान होता है, जिसे **उपपात** कहते हैं। अर्थात्—देवता और नारकी जीव जिस नियत स्थान में उत्पन्न होते हैं, उसे उपपात कहते हैं। जैसे—देवशय्या के ऊपर का दिव्य वस्त्र से आच्छादित भाग देवों का उपपात क्षेत्र है। **तथा वज्रमय**

भींत का गवाक्ष (कुम्भी) नारकों का उपपात क्षेत्र है। क्योंकि, इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रियपुद्गलों को वे स्वदेह-शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। अर्थात्--वे अपने उपपात क्षेत्र में रहे हुए वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर-पर्याप्ति संप्राप्त होते हैं।

सारांश—इस सूत्र का सारांश यह है कि—देवलोक में अमुक स्थल में विशिष्ट प्रकार की दिव्यशय्याएँ होती हैं। उनमें से या उन पर देवता स्वदेह-शरीर की ऊँचाई, कान्ति तथा युवावस्था इत्यादि के साथ तैयार होकर अन्तर्मुहूर्त्त में जन्म लेते हैं। उस समय निज पुण्य बल से उनको गर्भ के दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ता है। जैसे देवलोक में जीवों की उत्पत्ति के लिए दिव्य शय्या होती है, वैसे ही नरक में जीवों के उत्पन्न होने के लिए वज्रमय भींत में गवाक्ष (गोखला) कुंभी आकार के स्थान होते हैं। उनमें नारक भी देवों की भाँति अपने-अपने देह-शरीर की ऊँचाई आदि के साथ तैयार होकर अन्तर्मुहूर्त्त में जन्म लेते हैं अर्थात्—उत्पन्न होते हैं। किन्तु पाप के प्रबल उदय से उस समय वे जीव अत्यन्त ही कष्ट का अनुभव करते हैं।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि—नारक-देवों के उपपातजन्म ही होता है तथा दूसरा यह है कि नारक-देवों के ही उपपात जन्म होता है। (२-३५)

सम्मूर्छनजन्म-निरूपणम्

सूत्रम्—

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ २-३६ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

जरायुजाण्डपोतजनारकदेवातिरिक्ता ये च जीवाः सन्ति, तेषां सम्मूर्छनं जन्म। उभयावधारणं चात्र भवति। जरायुजादीनामेव गर्भः, गर्भ एव जरायुजादीनाम्। नारकदेवानाम् एव उपपातः। उपपात एव नारकदेवानाम्। शेषाणां एव सम्मूर्छनम्, सम्मूर्छनमेव शेषाणाम्॥ २-३६ ॥

❁ **सूत्रार्थ**—शेष जीवों-प्राणियों का **सम्मूर्छन जन्म** ही होता है। अर्थात्-शेष पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज मनुष्य, तिर्यंच सम्मूर्छन जन्म वाले होते हैं॥ २-३६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जरायुज, अण्डज, पोतज, नारक और देव इतने जीवों-प्राणियों को छोड़कर शेष—बाकी के जीवों के **सम्मूर्छन जन्म** होता है।

'जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥ २-३४ ॥'

तथा 'नारक-देवानामुपपातः ॥ २-३५ ॥'

पूर्वोक्त इन दोनों सूत्रों में गर्भ, तिर्यंच और मनुष्यों एवं नारक-देवताओं के जन्म का निरूपण हो गया है। इसलिए यहाँ एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सम्मूर्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य शेष-बाकी रहते हैं। उन्हीं जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

❀ **प्रश्न**—यहाँ पर प्रश्न यह है कि तोड़, मक्खी तथा वींछी इत्यादि जीव-प्राणियों में मैथुन-सेवन दृष्टिगोचर होता है। इसलिए उनका जन्म गर्भ रूप होना चाहिए, जबकि उनका यहाँ सम्मूर्छन जन्म कहा गया है, उसका क्या कारण है?

उत्तर—तीड़, मक्खी इत्यादि जीव-प्राणी मैथुन संज्ञा के संस्कार से ऐसी चेष्टाएँ करते हैं, फिर भी नपुंसक अवस्था होने से उनको गर्भ रहता नहीं है। अथवा जैसे दो पुरुषों को या नपुंसकों के भी मैथुन सेवन होते हुए भी गर्भ रहता नहीं है, वैसे यहाँ पर समझना। इससे उनका जन्म गर्भ-रूप नहीं, किन्तु सम्मूर्छन रूप जानना।

❀ **प्रश्न**—कीड़ी, मधुमक्खी (मधुमाखी) इत्यादि जीव-अण्डा (इंडा) मूकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए उनके गर्भ रूप जन्म क्यों नहीं?

उत्तर—कीड़ी, मधुमक्खी इत्यादि जीव जहाँ रहते हैं, वहाँ उनकी आजू-बाजू में उन जीव-प्राणियों के सूक्ष्म मल खरड़ाये हुए रहते हैं। उस मल में उन जीवों-प्राणियों की जाति के जीव उत्पन्न होते हैं। उसमें उत्पन्न हुए जीवों के देह प्रारम्भ में जब अपक्व स्थिति में होते हैं तब बारीक श्वेत-सफेद अण्डे जैसे दिखाई देते हैं। पश्चात् उसमें से रूपान्तर हुए जीवों को अपन देख सकते हैं, वैसे देह-शरीर होते हैं। जैसे मनुष्यों के मल, मूत्र और श्लेष्मादि पदार्थों में सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न होते हैं वैसे अन्य प्राणियों के मल में तथा आजू-बाजू रहे हुए अन्य मल में भी सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। ऐसा होते हुए भी किसी जीव के लिए गर्भ जैसी स्थिति बनती हो तो भी अल्पता के कारण। इसलिए यहाँ विवक्षा न की हो, ऐसी भी सम्भावना होती है।

पूर्वोक्त योनियों में उपर्युक्त जन्मों के धारण करने वाले जीव-प्राणियों के देह-शरीर कितने प्रकार के हैं तथा उनके क्या-क्या लक्षण होते हैं, यह बताने के लिए ही आगे का सूत्र कहते हैं। (अ. २, सू. ३६)

शरीर-भेदाः

सूत्रम्—

औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि-शरीराणि ॥ २-३७ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

सांसारिकजीवानां पञ्चशरीराणि भवन्ति। तानि च एतानि-औदारिकं, वैक्रियं, आहारकं, तैजसं, कार्मणं इति एतानि।

अनेन निर्दिष्टं यत्-संसारिणां जीवानां पञ्चशरीराणि एव भवन्ति। अत्र संसारातीताः शरीरभेदैः मुक्ताः, ते तु शरीरकर्माणि मुक्ताः। अन्येषाञ्च शरीराणां

रचना अन्तरङ्ग-पुद्गलविपाकीशरीरनाम-कर्मोदयापेक्षया भवति। तेषाञ्च पञ्चभेदाः औदारिक-वैक्रियाहारक-तैजसकार्मणानि ॥ २-३७ ॥

❀ **सूत्रार्थः**—संसारी जीव-प्राणियों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हुआ करते हैं ॥ २-३७ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं। इस शरीर के आरम्भ का कारण **जन्म** है। इसलिए जन्म के पश्चात् शरीर का वर्णन किया गया है। देह-शरीर से सम्बन्धित विविध प्रश्नों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

❀ **शरीर के भेद**—विश्व में देह-शरीरधारी जीव अनन्त हैं। उनके शरीर भिन्न-भिन्न होने से व्यक्ति भी अनन्त हैं। किन्तु कार्य-कारण आदि की समानता की दृष्टि से संक्षिप्त उनके पाँच भेद कहे हैं—जिनके नाम औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस तथा कार्मण हैं।

(१) जीव-आत्मा के क्रिया करने का साधन देह-शरीर है। जिस अंग-शरीर का छेदन, भेदन और प्रजालनादिक हो सके उसे **'औदारिक शरीर'** कहते हैं। उदार यानी स्थूल। औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जो उदार पुद्गलों से बना हुआ शरीर है उसे औदारिक समझना। अन्य सर्वशरीर के पुद्गलों से औदारिक शरीर के पुद्गल अधिक-विशेष स्थूल हैं। देव और नारक जीवों के बिना सर्व जीवों के मूलदेह-शरीर औदारिक होते हैं। यह अपना दिखने वाला शरीर भी औदारिक है।

(२) वैक्रियशरीरनामकर्म का उदय होने पर जो देह-शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी दुर्बल-पतला, कभी सबल स्थूल मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि विविध प्रकार के रूप को धारण कर सके, उसे **'वैक्रिय शरीर'** कहते हैं। इस वैक्रिय शरीर के दो भेद हैं। **भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर** और **लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर**। देव और नारक जीवों के भवप्रत्यय अर्थात् भव के कारण से ही वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रियलब्धिवाले कोई मनुष्य या तिर्यंच को लब्धिप्रत्यय शरीर होता है। जब वैक्रियलब्धिवन्त जीवों की इच्छा होती है तब वे लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर की रचना करते हैं। लब्धि यानी आत्मिक शक्ति और प्रत्यय यानी निमित्त। इच्छा होते ही आत्मसामर्थ्य से विविध प्रकार से शरीर की रचना हो सके, वह लब्धिप्रत्यय वैक्रियशरीर है। तथा इच्छा बिना ही केवल भव-जन्म से ही जो विशिष्ट प्रकार का देह-शरीर मिले, वह भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर है।

(३) अति सूक्ष्म तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा इत्यादिक निमित्त से चौदह पूर्वधर प्रमत्त मुनिराज ही आहारकशरीर नामकर्म का उदय होने पर जिस देह-शरीर की रचना करते हैं, वह **आहारक शरीर** कहलाता है। केवल चौदह पूर्वधर मुनिवर ही एक हाथ प्रमाण सूक्ष्म और दिव्य देह-शरीर (आहारक) बनवा कर उस दिव्य देह-शरीर को श्रीतीर्थंकर परमात्मा की ऋद्धि देखने के

लिए या अपने धार्मिक प्रश्न-शंका का समाधान करने के लिए लोकालोक-प्रकाशक सर्वज्ञविभु श्री तीर्थंकर भगवान के पास भेजते हैं, उसे **आहारक शरीर** कहते हैं। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही है। यह शरीर आहारक लब्धिवंत चौदह पूर्वधर मुनिराज ही बना सकते हैं; आहारक लब्धि सिवाय के कोई भी चौदह पूर्वधर मुनिवर नहीं बना सकते। किन्तु आहारकलब्धि भी चौदह पूर्वधर मुनिराज को ही प्राप्त होती है, अन्य किसी को भी आहारक लब्धि प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसा नियम ही है।

(४) तेजस् का अर्थ है अग्नि। तैजसशरीरनामकर्म का उदय होने पर तेजोगुणयुक्त पुद्गलद्रव्यवर्गणाओं के द्वारा जो बनता है, उसे **तैजसशरीर** कहते हैं। तेजोमय अर्थात् ग्रहण किये हुए आहारादि को पचाने तथा देदीप्यमान-तेजस्वी करने में कारणभूत यह तैजस शरीर है। अपने में और जठराग्नि में जो उष्णता-गर्मी रही हुई है, वह भी एकजाति का शरीर है, उसको तैजस शरीर कहने में आता है। जो यह तैजस शरीर न हो तो अपन सब आहार-खुराक को पचा न सकें, तथा अपने शरीर में उष्णता-गरमी भी न टिक सके। मृत्यु-मरण होते ही इस तैजस शरीर के न रहने से मृत्युवाले का शरीर ठण्डा हो जाता है।

तैजस शरीर के **सहज और लब्धि प्रत्यय** इस तरह दो भेद हैं। खाये हुए आहार को पचाने में कारणभूत शरीर **सहज तैजसशरीर** है। संसारवर्त्ती सर्व जीवों के यह सहज तैजसशरीर होता है। विशिष्ट प्रकार के तपादिक से उत्पन्न हुई **तेजोलब्धि (तेजोलेश्या) लब्धिप्रत्ययतैजस-शरीर** है। उसके भी **उष्ण और शीत** इस प्रकार दो भेद हैं। उष्णतेजोलब्धि के द्वारा अन्य जीव का अपकार होता है तथा शीततेजोलब्धि द्वारा अन्य जीव का उपकार होता है। जैसे—वैशिकायन नाम के तापस ने गोशालक को मारने के लिए उस पर **उष्णतेजोलेश्या** छोड़ी, किन्तु श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ने **शीततेजोलेश्या** छोड़कर गोशालक को बचा लिया।

(५) जीव-आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् एकमेक हुए अष्टविध कर्मों के समूह को **कार्मणशरीर** कहते हैं। संसारवर्त्ती जीव-आत्मा प्रत्येक समय में कर्म का बन्ध करता ही है। इसलिए जीव-आत्मा के साथ बँधे हुए ये कर्मसमूह ही कार्मण शरीर हैं।

इन औदारिक आदि पाँच शरीरों की परस्पर में विशेषता अनेक कारणों से बताई है। उसमें भी तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर संसारवर्त्ती-संसारी सर्व जीव-प्राणिमात्र के अवश्य होते हैं। क्योंकि जीव-आत्मा का संसार अनादिकाल से होने से ये दोनों तैजस-कार्मण शरीर भी अनादिकाल से ही हैं। जन्मान्तर-भवान्तर में भी ये दोनों शरीर साथ में अवश्य ही जाते हैं। जब जीव-आत्मा अष्ट कर्मों से सर्वथा मुक्त-रहित हो जाय अर्थात् जीव-आत्मा मोक्ष में जाय तब ही ये तैजस और कार्मण दोनों शरीर जीव-आत्मा से सर्वथा छूटते हैं। मोक्ष में जीव-आत्मा सदा के लिए सत्‌चिदानन्द स्वरूप में तथा सादि अनन्त स्थिति में रहता है। (अ. २, सू. ३७)

शरीरेषु सूक्ष्मतायाः विचारणा

सूत्रम्—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ २-३८ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

एतेषु औदारिकादि-पञ्चशरीरेषु पूर्वपूर्वशरीरापेक्षयोत्तरोत्तरशरीराणि सूक्ष्माच्च-

सूक्ष्मं वेदितव्यम् । तद्यथा-औदारिकाद् वैक्रियं सूक्ष्मं, वैक्रियाद् आहारकं सूक्ष्मं, आहारकात् तैजसं सूक्ष्मं, तैजसात् कार्मणं सूक्ष्ममिति ।। २-३८ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–उपर्युक्त औदारिकादिक पाँच शरीरों में से पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर अधिकाधिक सूक्ष्म होते हैं। अर्थात्–औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म होता है, वैक्रियशरीर से आहारक शरीर सूक्ष्म होता है, आहारक से तैजस शरीर सूक्ष्म होता है, एवं तैजस शरीर से भी कार्मणशरीर सूक्ष्म होता है ।। २-३८ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

उक्त पाँचों शरीरों में औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है, वैक्रिय शरीर उससे सूक्ष्म है। आहारक शरीर वैक्रिय शरीर से भी सूक्ष्म है। तैजस शरीर आहारक शरीर से सूक्ष्म है, तथा कार्मण शरीर तैजस शरीर से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर है।

प्रश्न–-यहाँ सूक्ष्म और स्थूल कहने का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—यहाँ पर स्थूल और सूक्ष्म का अर्थ है शरीर-रचना की शिथिलता तथा सघनता, औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, परन्तु आहारक से स्थूल है। इसी प्रकार आहारकादिक शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से सूक्ष्म और उत्तर—उत्तर की अपेक्षा से स्थूल है। अर्थात् यह स्थूल-सूक्ष्मभाव अपेक्षाकृत है—परस्पर की सापेक्षता से है।

सारांश यह है कि—जिस देह-शरीर की रचना अन्य शरीर की रचना से शिथिल हो वह उससे स्थूल है और जो स्थूल अपेक्षा से सघन हो वह सूक्ष्म है। शरीर-रचना की शिथिलता और सघनता दोनों का आधार पौद्गलिक परिणति पर निर्भर है। क्योंकि, पुद्गलों में भी अनेक प्रकार के परिणमन की शक्ति होती है। इसलिए परिमाण में अल्प-न्यून होने पर भी जब वे शिथिल रूप में परिणत होते हैं तब स्थूल कहलाते हैं। तथा परिमाण में विशेष अधिक होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं वैसे-वैसे ही वे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कहलाते हैं। जैसे—(१) आक और शीशम की लकड़ी दोनों तौल में बराबर परिमाण वाली होने पर भी इनके आकार में न्यूनाधिकपना दिखाई देता है, इसमें इनकी सघनता और शिथिलता कारण है। ऐसा दूसरा उदाहरण यह भी है कि भिंडी की फली और गजराज–हाथी के दाँत। दोनों समान आकार के होते हुए भी भिंडी की रचना शिथिल है और दाँत की रचना ठोस और मजबूत है। इस तरह परिमाण (आकार) समान होने पर भी समझना चाहिए कि भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है।

विशेषता–-इस सूत्र में विशेषता यह है कि यहाँ पर सूक्ष्म शब्द से आपेक्षिकी सूक्ष्मता ग्रहण करने की है। किन्तु सूक्ष्मनामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्मता नहीं लेनी है। क्योंकि, जो चर्म चक्षुओं द्वारा न देखी जा सके, या जो अन्य से न रुके और न दूसरे को रोके। इस प्रकार चतुरिन्द्रियगोचर पुद्गलद्रव्य की पर्याय को सूक्ष्म कहा जाता है। स्वाभाविकपने मनुष्य और तिर्यंच जीवों-प्राणियों का शरीर देखने में आता है। इसलिए वह सबसे अधिक स्थूल है। वैक्रिय

शरीर दिखाने पर विक्रिया द्वारा देखने में आता है, किन्तु स्वभाव से देखने में नहीं आता। इसलिए वह औदारिक शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है और आहारक शरीर की अपेक्षा स्थूल है। इसलिए इसकी सूक्ष्मता आपेक्षिकी सूक्ष्मता कहने में आती है। इसी भाँति वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस तथा तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है। सर्वाधिक सूक्ष्मता तो कार्मण शरीर में है, क्योंकि जिन पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा इन शरीरों की रचना होती है, उनका प्रचय उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म तथा घनरूप है। परन्तु अन्तिम कार्मण शरीर का प्रचय सबसे अधिक सूक्ष्म घनरूप है। (अ. २ सू. ३८)

शरीरेषु प्रदेशानां विचारणा

सूत्रम्–

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ २-३९ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

यद्यपि एतेषु शरीरेषूत्तरोत्तरं सूक्ष्मत्वं भवति। तेषाञ्च शरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात्। औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशाः असंख्येयगुणाः वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्यः आहारकशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा इति। अत्र तर्कयते यत् औदारिकशरीरस्योत्कृष्टप्रमाणं सहस्रयोजनपर्यन्तम्। वैक्रियशरीरस्य च प्रमाणं लक्षयोजनपर्यन्तम्। किन्तु नैवेतद्–शरीरावगाहनाभिः सह तेषां प्रदेशानां सम्बन्धस्यापेक्षा नैव। यत् औदारिकी उत्कृष्टावगाहनाशरीरे यावन्तः प्रदेशाः तेभ्योऽपि वैक्रियजघन्यावगाहनशरीरप्रदेशाः असंख्याताः ॥ २-३९ ॥

❋ **सूत्रार्थ**–यद्यपि उक्त शरीरों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, लेकिन तैजस शरीर के पूर्ववर्ती तीनों शरीरों के प्रदेश परस्पर उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं ॥ २-३९ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

औदारिक आदि उक्त पाँचों शरीरों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, किन्तु उत्तरोत्तर ही इन शरीरों के प्रदेश असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हैं। औदारिक देह-शरीर के जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियशरीर के प्रदेश होते हैं तथा जितने वैक्रियशरीर के प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुणे आहारक शरीर के प्रदेश होते हैं।

जिसके दो विभाग न हो सके ऐसा अन्तिम भाग, वह प्रदेश है, इस तरह प्रदेश का अर्थ प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ तो प्रदेश का यह अर्थ नहीं लेना है। यहाँ तो प्रदेश का स्कन्ध अर्थ है। प्रदेश तो अनन्त गुणा हो जाता है। जैसे—औदारिक शरीर में जितने प्रदेश-स्कन्ध होते हैं, उनसे असंख्यगुणे प्रदेश वैक्रिय शरीर में होते हैं। उनसे आहारक शरीर में असंख्यगुणे प्रदेश अधिक-विशेष होते हैं। इसका कारण यही है कि उत्तरोत्तर शरीर विशेष घन रहता है। समान क्षेत्र में रही हुई रुई की अपेक्षा स्वर्ण (सोने) में पुद्गल विशेष सघन होते हैं। क्योंकि रुई शिथिल है और स्वर्ण

(सोना) सघन है। इस तरह प्रस्तुत में भी औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर अधिक-विशेष घन है।

यहाँ पर जिस प्रकार समान परिमाण वाले रुई, काष्ठ, पत्थर और लोहे के गोले के प्रदेशों में उत्तरोत्तर अधिकाधिकता है, उसी तरह प्रस्तुत में भी समझना चाहिए। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि इन औदारिकादि देह-शरीरों के प्रदेश उत्तरोत्तर सूक्ष्म भी हैं। सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होते हुए भी इनके प्रदेश अधिकाधिक हैं। यही इनकी विशेषता है। (अ. २, सू. ३९)

उपर्युक्त सूत्र में तैजसशरीर के पूर्व तीन शरीरों के प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे बता दिये। अब आगे के सूत्र में तैजस और कार्मण दोनों शरीरों के प्रदेशों में भी क्या विशेषता है, उसे बताने के लिए नीचे का सूत्र कहते हैं—

तैजस-कार्मणशरीरयोः प्रदेश-विचारणा

सूत्रम्—

अनन्तगुणे परे ॥ २-४० ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

परे द्वे शरीरे तैजस-कार्मणे पूर्वतः-पूर्वतः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणे भवतः। अर्थात्—आहारकात् तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणं, तैजसात् कार्मणमनन्तगुणमपि भवतीति ॥ २-४० ॥

❀ **सूत्रार्थ**—अन्तिम तैजस और कार्मण ये दो शरीर प्रदेशों (स्कन्धों) की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं ॥ २-४० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

औदारिक आदि पाँच शरीरों में से अन्तिम तैजस और कार्मण ये दो शरीर प्रदेशों-स्कन्धों की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं। उत्तरोत्तर अर्थात्—आहारक शरीर के जितने प्रदेश हैं, उनसे भी तैजसशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। तथा जितने तैजस शरीर के प्रदेश हैं उनसे भी अनन्तगुणे कार्मणशरीर के प्रदेश हैं। आहारकशरीर से तैजसशरीर तथा तैजसशरीर से कार्मणशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं, तो ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं।

इस सूत्र का सारांश यह है कि—आहारक शरीर के प्रदेशों से तैजस शरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। तथा तैजसशरीर से कार्मणशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। यहाँ पर भी उत्तरोत्तर शरीर की घनता ही कारण है।

इसके अतिरिक्त इन दोनों शरीरों में और भी जो विशेषतायें हैं, उन्हें बताने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं। (अ. २, सू. ४०)

तैजस-कार्मणशरीरयोः विशेषता

सूत्रम्—

अप्रतिघाते ॥ २-४१ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

एते द्वे तैजस-कार्मणे अन्यमपि वैशिष्टयं भवति। यत् एते द्वे शरीरे अप्रतिघाते, अन्यत्र लोकान्तात् सर्वत्र अप्रतिघाते भवतः। वज्रपटलेनापि अनयोः गति अप्रतिहता। किन्तु एतयोः अप्रतिघातः समग्रलोकेषु भवति। लोकान्ते च प्रतिहतः। यत् जीव-पुद्गलद्रव्ययोः गतिस्थितिहेतुभूतधर्माधर्मद्रव्ये समग्रलोके व्याप्तम्। लोकान्ते च तयोः अभावः अतः सहकारी निमित्ताभावे लोकान्ते तैजसकार्मणाभावः ॥ २-४१ ॥

❋ **सूत्रार्थ**—तैजस शरीर और कार्मण शरीर ये दोनों प्रतिघात रहित हैं। अर्थात्—ये दोनों किसी को रोकते नहीं है और किसी से रुकते भी नहीं हैं ॥ २-४१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्वोक्त विशेषता के अतिरिक्त भी तैजस और कार्मण इन दो शरीरों में एक और भी विशेषता यह है कि—तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। इनको समस्त लोक में किसी भी वस्तु-पदार्थ की रुकावट होती नहीं है। ये कठोर से कठोर वज्र समान वस्तुओं में भी किसी प्रकार की रुकावट के बिना सरलता से प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि मूर्त्तिमान वस्तु-पदार्थ से मूर्त्तिमान वस्तु पदार्थ का प्रतिघात होता है। यह भी मात्र स्थूल वस्तु-पदार्थों के लिए है, सूक्ष्म वस्तु-पदार्थों के लिए नहीं है। क्योंकि, सूक्ष्म वस्तु-पदार्थ तो समस्त लोक में रुकावट बिना प्रवेश करते हैं। जैसे—लोह में अग्नि प्रवेश करती है, उसी तरह इधर भी जानना।

इस सूत्र का सारांश यह है कि—तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर प्रतिघात से रहित हैं। किसी भी जाति के प्रतिघात बिना ये समस्त लोक में सर्वत्र जा सकते हैं। किसी प्रकार की घनवस्तु भी इनको अटका सकती नहीं। यद्यपि वैक्रिय और आहारक इन दोनों शरीरों को भी कोई वस्तु-पदार्थ नहीं अटका सकते। इसलिए इस दृष्टि से ये दोनों शरीर भी अप्रतिघाती हैं। यहाँ पर प्रतिघात का अर्थ मात्र गति का निरोध नहीं है, परन्तु समस्त लोक में गति का निरोध यही अर्थ है। इस दृष्टि से वैक्रियशरीर और आहारकशरीर अप्रतिघाती नहीं हैं। क्योंकि उनकी गति लोक के अमुक विभाग में ही (अर्थात्—त्रसनाड़ी में ही) होती है; जबकि तैजस और कार्मण शरीर की गति तो समस्त-सम्पूर्ण लोक में होती है।

विशेष—तैजस और कार्मणशरीर का यह अप्रतिघात सम्पूर्ण लोक के भीतर ही है। किन्तु लोक के अन्त में ये भी प्रतिहत हो जाते हैं। क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्य की गति तथा स्थिति दोनों के कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, वे समस्त लोक में तो व्याप्त हैं, लेकिन लोक के अन्त में उनका अर्थात् इन दोनों का अभाव है। इसलिए सहकारी निमित्त के न रहने से लोक के अन्त में तैजस और कार्मण दोनों शरीरों की भी गति नहीं हो सकती है। (अ. २, सू. ४१)

सूत्रम्–

अनादिसम्बन्धे च ॥ २-४२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

एताभ्यां तैजस-कार्मणाभ्यां शरीराभ्यां जीवस्यानादिकालात् सम्बन्धः अतः एतौ द्वौ अनादिसम्बन्धी। यावत् संसारस्य अस्तित्वं तावत् जीवेन सह एताभ्यां द्वाभ्यां शरीराभ्यामपि सम्बन्धः। अनादिकालात् संसारीजीवः संसारी। अतः तैजस-कार्मणशरीरसम्बन्धोऽपि अनादिः स्यात् ॥ २-४२ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–उक्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरों का जीव के साथ प्रवाह रूप से अनादि काल से सम्बन्ध है ॥ २-४२ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जीव-आत्मा के साथ तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरों का सम्बन्ध रहता ही है। क्योंकि, जैसे संसार अनादि है वैसे इन दोनों शरीरों का सम्बन्ध भी अनादि है। यह अनादिपना द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से है, न कि पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा से है। प्रवाह रूप से इन दोनों ही शरीरों के साथ जीव-आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से पाया जाता है। परन्तु पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा तो इनका सम्बन्ध सादि के रूप में है। कारण यह है कि—इनका बन्ध मिथ्यादर्शनादि कारणों के द्वारा प्रतिक्षण हुआ करता है। तथा इनकी स्थिति आदि भी नियत है। किन्तु इनके बन्ध का प्रारम्भ अमुक समय से हुआ है, ऐसा नहीं है। जैसे—खान के भीतर रहे हुए सुवर्ण-पाषाण का मल के साथ सम्बन्ध स्वभाव से हो स्वतः जैसा अनादि है, वैसा प्रस्तुत में भी समझना। अतएव तैजस और कार्मणशरीर का जीव-आत्मा के साथ अनादिसम्बन्ध भी है तथा सादिसम्बन्ध भी है।

इस सूत्र का सारांश यह है कि—अनादिकाल से जीव और आत्मा का सम्बन्ध तैजस तथा कार्मणशरीर के साथ भी है। किन्तु औदारिकादि तीन शरीरों का सम्बन्ध अनादिकाल से नहीं है। यद्यपि अव्यवहार राशि वाले जीवों के औदारिक शरीर होने से औदारिक शरीर का सम्बन्ध भी अनादि से है, परन्तु यहाँ अनादि सम्बन्ध का अर्थ मात्र अनादि सम्बन्ध रूप नहीं है। कारण कि, अनादि सम्बन्ध होते हुए भी नित्य सम्बन्ध भी चाहिए। जहाँ तक जीव संसार में है वहाँ तक उसका अंश मात्र वियोग न हो अर्थात् नित्य रहे, ऐसा अर्थ है। इसलिए इस अर्थ के अनुसार औदारिक शरीर अनादि सम्बन्ध रूप नहीं है। क्योंकि जीव जब मृत्यु पाकर अन्य स्थल में उत्पन्न होता है, तब अन्तरालगति में औदारिक देह-शरीर का वियोग होता है। लेकिन तैजस और कार्मण शरीर तो अन्तरालगति में भी संसारी जीव के अवश्य होते हैं। इन दोनों तैजस-कार्मणशरीर का वियोग तो जब जीव सकल कर्म का क्षय कर मुक्ति-मोक्ष पाता है तभी होता है। (अ. २, सू. ४२)

सूत्रम्—

सर्वस्य ॥ २-४३ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

संसारिणो जीवस्य सर्वस्य एते तैजस-कार्मणशरीरे भवत एव। किन्तु एकेन तेन एव जीवस्य अनादिसम्बन्धः केचनाचार्याः नयवादापेक्षं व्याचक्षते। तेषां मतं कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिः न सर्वस्य कस्यचिदेव भवति। क्रोधप्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिसर्गशीत-रश्मिनिसर्गकरं तथा भ्राजिष्णुप्रभासमुदयच्छाया-निर्वर्तकं तैजसं शरीरेषु मणिज्वलन-ज्योतिष्कविमानवदिति ॥ २-४३ ॥

❀ **सूत्रार्थ**—उक्त ये दोनों शरीर-तैजस और कार्मण सभी संसारी जीवों के होते हैं ॥ २-२६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के रहा करते हैं। किन्तु इस विषय के सम्बन्ध में कोई-कोई आचार्य महाराज इस सूत्र को नयवाद की अपेक्षा से कहते हैं कि—एक कार्मण शरीर के साथ जीव-आत्मा का अनादि काल से सम्बन्ध है, न कि तैजस शरीर के साथ। कारण कि तैजस शरीर तो लब्धि की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। वह तैजस लब्धि भी सर्व जीवों के नहीं होती है, किन्तु किसी-किसी के ही होती है। जैसे—शरीर के बाहर जिसके निमित्त से तैजस पुतला निकलता है, वही तैजस लब्धि है। क्रोध-कोप के आवेश से शाप देने के लिए अग्निपुञ्ज के समान स्फुलिङ्गों से युक्त जो पुतला निकलता है, वह अशुभ उष्ण तैजस कहा जाता है, जो गोशालक से निकला था। यह तैजस पुतला जिस पर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्मीभूत कर देता है। दूसरा शुभ तैजस कहा जाता है। जो किसी पर अनुकम्पा करने के लिए मन की प्रसन्नता से छोड़ा जाता है, यह शुभ शीत तैजस है। इसके निमित्त से संताप दूर होकर उसे अत्यन्त ही सुख का अनुभव कराता है। जैसे—श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ने इस शीत तैजस निसर्ग के द्वारा उसी गोशालक पर जिसका शरीर उष्ण तेजोलेश्या के द्वारा व्याप्त हो रहा था, अनुग्रह किया था। अर्थात् गोशालक को शीततेजो लेश्या द्वारा संरक्षण करके बचा लिया था। इस प्रकार कोई-कोई तैजस शरीर को लब्धिप्रत्यय ही मानते हैं, इसलिए उसे नित्यसम्बन्ध रूप मानते नहीं हैं।

इस विषय में किसी-किसी का तो कहना यह भी है कि—तैजसशरीर का नित्य सम्बन्ध नहीं है। वह लब्धिप्रत्ययवंत होने से सबके नहीं होता है, किन्तु किसी-किसी के ही होता है। आहार को पचाने की शक्ति कार्मणशरीर में है, इतना ही नहीं किन्तु उसी के द्वारा यह कार्य हो जाता है।

अन्य आचार्यों का कहना है कि ग्रन्थकर्त्ता का यह आशय नहीं है। कार्मणशरीर की तरह तैजस शरीर का भी नित्य सम्बन्ध है और वह भी सर्व जीवों के रहता है। यही बात भाष्यकार को

भी इष्ट है। इन दोनों शरीरों का सम्बन्ध अनादि से है। ये समस्त जीवों के युगपत् अर्थात् एक साथ पाये जाते हैं। तैजस और कार्मणशरीर सर्वसंसारी जीवों के सदा होते हैं। औदारिक आदि अन्य शरीर किसी संसारी जीव के होते हैं और किसी जीव के नहीं भी होते हैं।

❀ **प्रश्न**—जिसका जीव-आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है, उसका तो फिर कभी अभाव नहीं होना चाहिए ?

उत्तर—उपर्युक्त तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रवाह की अपेक्षा से भले अनादि काल से हैं, परन्तु व्यक्तिगत अपेक्षा अनादिकालीन नहीं हैं। इसलिए उनका अपचय तथा उपचय हुआ करता है। विश्व में जो वस्तु-पदार्थ भावात्मक व्यक्ति रूप से अनादि होता है, उसका विनाश नहीं होता है। जैसे—परमाणु।

संसारवर्त्ती जितनी जीव-आत्माएँ हैं, वे सभी तैजस और कार्मणशरीर को धारण करने वाली हैं। किन्तु औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर को पूर्ण रूप में अर्थात् सम्पूर्ण जीव-आत्माएँ धारण नहीं करती हैं। जैसे—देवगति में देवों के तथा नरकगति में नारकों के केवल वैक्रियशरीर होता है। चौदह पूर्वधारी लब्धिवंत प्रमत्त मुनिराज हो आहारकशरीर बनाते हैं, इत्यादिक कितनेक जीव औदारिक देह-शरीर के स्वामी हैं।

❀ **प्रश्न**—तैजस और कार्मणशरीर के अन्योन्य-परस्पर कौनसी विशेषता है तथा इनमें कितना अन्तर होता है ?

उत्तर—संसारवर्त्ती संसारी जीवों के सम्पूर्ण शरीरों का मूल कारण कार्मणशरीर ही है। कारण कि वह कर्मस्वरूप है तथा समस्त कार्यों का निमित्त कारण है। इसलिए वह भी कर्म हो है। कार्मणशरीर के समान तैजसशरीर कारण रूप नहीं है। क्योंकि, वह सभी के साथ अनादिकालीन सम्बन्ध से रहकर भुक्त भोजन-आहार के पाचनादिक में सहायक होता है। (अ. २, सू. ४३)

एकस्मिन् जीवे युगपदेकस्मिन् कतिविधानि शरीराणि

सूत्रम्–

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ २-४४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

सर्वत्र संसारे तैजस-कार्मणे भवतः। ते आदिनौ। तैजसकार्मणे यावत् संसारभाविनौ आदिं कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जोवस्य भाज्यान्याचतुर्भ्यः। तद्यथा– तैजसकार्मणे वा स्याताम्, तैजसकार्मणौदारिकाणि वा भवेयुः, तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा भवेयुः। तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा भवेयुः। तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवेयुः। कार्मणमेव वा स्यात्, कार्मणौदारिके वा स्याताम्, कार्मणवैक्रिये वा स्याताम्, कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः,

कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणतैजसौदारिकाऽहारकाणि वा स्युः, न तु कदाचित् युगपत् पञ्च भवन्ति, नापि वैक्रियाहारके युगपद् भवतः। वस्तुतः कस्याऽपि जीवस्य एकस्मिन् काले युगपत् पञ्चशरीराणि नैव भवन्ति। न च वैक्रियाहारकौ युगपद् भवतः। अस्य हेतु अनयोः स्वामिवैशिष्टयमिति वक्ष्यते ।। २-४४ ।।

❀ **सूत्रार्थ**—एक जीव-आत्मा के उक्त तैजस-कार्मण इन दोनों शरीरों के साथ एक काल में चार शरीर अनियत रूप से हो सकते हैं ।। २-४४ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

संसारवर्त्ती संसारी जीवों के संसार काल पर्यन्त तैजस और कार्मण शरीर अवश्य होते हैं। अर्थात्—तैजस और कार्मण ये दो शरीर समस्त संसार में रहने वाले हैं। परन्तु औदारिक आदि शरीर बदलता रहता है अर्थात् उनका अवस्था के कारण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह प्रश्न होता है कि संसारवर्त्ती प्रत्येक जीव के एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट कितने शरीर होते हैं ? इसी का उत्तर इस सूत्र द्वारा कहते हैं। संसारवर्त्ती एक जीव के जघन्य से एक साथ दो शरीर होते हैं, तथा उत्कृष्ट से चार शरीर होते हैं। किन्तु पाँच शरीर तो एक साथ किसी समय भी नहीं होते हैं।

❀ जिस समय जीव के दो शरीर होते हैं, उस समय तजस और कार्मण ये दो ही होते हैं।

❀ जिस समय जीव के तीन शरीर होते हैं, उस समय पूर्वोक्त तैजस और कार्मण के साथ औदारिक या वैक्रिय इन दोनों में से एक होता है।

❀ जिस समय जीव के चार शरीर होते हैं उस समय तैजस-कार्मण, औदारिक और वैक्रिय या तैजस-कार्मण, औदारिक और आहारक इस तरह विकल्प से होते हैं। परन्तु पाँचों शरीर एक साथ नहीं होते हैं।

❀ जो दो शरीर बताये हैं, वे गत्यन्तर में होते हैं। उस समय अन्य शरीर नहीं रहते हैं।

❀ जो तीन शरीर बताये हैं, वे मनुष्य, तिर्यंच, देवता या नारकी जीवों में आजन्म रहते हैं।

❀ जो चार शरीरों के दो विकल्प बताये हैं उनमें पहला विकल्प यह है कि—[तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय] वैक्रिय प्रयुंजक मनुष्य, तिर्यञ्चों में होता है। तथा दूसरा विकल्प यह है कि—सिर्फ चौदह पूर्वधर मुनिराज के ही आहारक शरीर प्राप्त होता है। वैक्रिय और आहारक इन दोनों शरीरों की लब्धि यानी शरीर रचने का सामर्थ्य तो चौदह पूर्वधर बिना अन्य किसी जीव में नहीं है। केवल वैक्रिय शरीर बनाने की-रचने की शक्ति अन्य जीवों में हो सकती है, किन्तु वैक्रिय और आहारक इन दोनों शरीरों को बनाने का रचने का सामर्थ्य तो केवल चौदह पूर्वधर मुनियों में ही होता है। जब चौदह पूर्वधर मुनिराज वैक्रिय शरीर की रचना करते हैं तब प्रमत्त-प्रमाद युक्त होते हैं। वैक्रिय शरीर की रचना के बाद भी जहाँ तक उसका उपभोग होता है वहाँ

तक वे मुनिराज प्रमत्त ही होते हैं। चौदह पूर्वधर मुनिराज जब तक आहारक शरीर की रचना करते हैं तब तक प्रमत्त होते हैं। परन्तु आहारक शरीर की रचना होने के बाद, उसके उपभोग काल में अप्रमत्त होते हैं। इस प्रकार चौदह पूर्वधर मुनिराज वैक्रियशरीर के उपभोग काल में प्रमत्त होते हैं, तथा आहारक शरीर के उपभोग काल में अप्रमत्त होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि चौदह पूर्वधर मुनिराज जब तक प्रमत्त होते हैं तब तक वैक्रिय शरीर वाले हो सकते हैं, किन्तु आहारक शरीर वाले प्रमत्त नहीं हो सकते। चौदह पूर्वधर मुनिराज भी जब तक अप्रमत्त होते हैं तब तक आहारकशरीर वाले हो सकते हैं, परन्तु वैक्रियशरीर वाले नहीं हो सकते। इस तरह चौदह पूर्वधर मुनिराज में दोनों प्रकार के शरीर की लब्धि हो सकती है, किन्तु वैक्रियशरीर और आहारक शरीर दोनों एक जीव में एक साथ नहीं हो सकते हैं।

औदारिक आदि पाँच शरीर एक साथ नहीं होने का कारण यह है कि— वैक्रिय और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ नहीं होता है, क्योंकि वैक्रिय लब्धि है, यह केवल प्रमत्तदशा में होती है तथा आहारक लब्धि के प्रयोग के पश्चात् चौदह पूर्वधर मुनिराज अप्रमत्तदशा को प्राप्त होते हैं। प्रयोग के समय तो प्रमत्त रहते हैं, परन्तु आहारक शरीर की रचना करने के बाद आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय सम्भवित होने से अप्रमत्तभाव प्रगट हो जाता है।

चार शरीर तो एक साथ हो सकते हैं, पाँचों शरीर एक साथ नहीं होते हैं। यद्यपि आहारक लब्धि वाले मुनिराज को वैक्रिय लब्धि की योग्यता भी सम्भवती है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र केवल आविर्भावापेक्षी है। आत्मा की शक्ति रूप से औदारिकादिक पाँचों शरीर एक साथ रहते हैं।

❀ **प्रश्न**—उक्त कथन से तीन या चार शरीरों के साथ एक समय में एक जीव-आत्मा का सम्बन्ध कैसे घट सकता है?

उत्तर—जैसे एक दीपक का प्रकाश अनेक वस्तु-पदार्थों पर एक साथ पड़ता है, वैसे ही एक जीव-आत्मा के प्रदेश अनेक शरीरों के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हो सकते हैं।

❀ **प्रश्न**—क्या किसी भी समय एक जीव-आत्मा के एक ही शरीर नहीं हो सकता?

उत्तर—एक जीव-आत्मा के एक शरीर नहीं होता क्योंकि सामान्य सिद्धान्त यह है कि तैजस और कार्मण ये दो शरीर कभी भी पृथग् नहीं होते। इसलिए किसी एक शरीर की सम्भावना नहीं है।

इस विषय में किसी आचार्य का मत है कि तैजस शरीर, कार्मण शरीर की तरह यावत् संसारभावी नहीं है, वह आहारक शरीर की तरह लब्धिजन्य ही है। इस मत के अनुसार अन्तराल गति में मात्र कार्मण शरीर होता है तथा चतुर्थ-कर्मग्रन्थ में अनाहारक मार्गणा विषयक एक कार्मण काय-योग ही कहा है एवं सामायिक चारित्र मार्गणा में तैजस कार्मण योग का अभाव कहा है, इत्यादि अनेक प्रकार के मतान्तर अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं तथा एक शरीर की भी सम्भावना होती है। (अ. २, —सू. ४४)

शरीराणां प्रयोजनम्

सूत्रम्—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ २-४५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अन्त्येति शब्देन कार्मणशरीरस्य ग्रहणं कृतम् । तच्च कार्मणं निरुपभोगम् । सुखदुःखे तेन नैवोपभुज्यते । न च तेन कर्म बध्यते न वेद्यते नापि निर्जीर्यत इति । शेषाणि तु सोपभोगानि । यस्मात् सुख-दुःखे तैरुपभुज्येते कर्म बध्यते, वेद्यते, निर्जीर्यते च तस्मात् सोपभोगानीति ।

यस्मात् सुख-दुःखे तैरुपभुज्येते कर्म बध्यते वेद्यते निर्जीर्यते च तस्मात् सोपभोगानि । तदनुरूपमेव वैक्रियाहारतैजसशरीराणि बोध्यानि । यतः औदारिकेव एतानि त्रीण्यपि सोपभोगानि । वैक्रियेनैवापि अङ्गोपाङ्गनिर्वृत्ति-उपकरण-रूपाणि इन्द्रियाणां स्फुटतया इष्टानिष्टविषयाणि सेव्यन्ते । आहारकेनापि अप्रमत्तमुनिप्रयोजनं सिद्धयति । तैजसेनापि निग्रहानुग्रहोपमुक्ताहारपचनञ्च तेनैव सुखादिकानुभवं भूयते । अन्यच्च कार्मणशरीरं कर्मसमवायस्वरूपम्, अत उपभोग्यं तु वर्त्तते किन्तु उपभोजकं नैव ।। २-४५ ।।

❀ **सूत्रार्थ—**अन्तिम कार्मण शरीर के द्वारा सुख या दुःख का उपभोग नहीं होता, न कर्मबन्ध होता है, न कर्मफल का अनुभवन होता है और न निर्जरा ही हुआ करती है । अतएव इस देह-शरीर को **निरुपभोग** कहते हैं ।। २-४५ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

प्रयोजन—विश्व में प्रयोजन बिना कोई वस्तु नहीं होती है । प्रत्येक वस्तु में कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता ही है । इसलिए शरीर भी प्रयोजन युक्त होना चाहिए । इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि उनका मुख्य प्रयोजन क्या है ? तथा वह सभी शरीरों के लिए समान है या विशेषवन्त है ? शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है । जो पहले चार शरीरों से सिद्ध है । सिर्फ अन्तिम कार्मण शरीर से उपभोग सिद्ध नहीं होने से उसे निरुपभोग अर्थात् उपभोग रहित कहा गया है ।

❀ **प्रश्न**—उपभोग किसे कहा जाता है ?

उत्तर—कर्णेन्द्रियादि द्वारा शुभाशुभ शब्दादि विषयों को ग्रहण कर के सुख-दुःख का अनुभव करना तथा हाथ, पाँव इत्यादि अवयवों द्वारा दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध करना, बद्ध-कर्म के शुभ-अशुभ विपाक का अनुभव करना तथा पवित्र धर्मानुष्ठानों द्वारा कर्म की निर्जरा करना अर्थात् कर्म का क्षय करना, इसको **उपभोग** कहते हैं ।

❀ **प्रश्न**—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर सेन्द्रिय (इन्द्रिय सहित) तथा सावयव (हस्तपादादि युक्त) हैं। इसलिए उक्त प्रकार का उपभोग उनसे साध्य हो सकता है, तैजस शरीर से वह असम्भवित है, क्योंकि यह इन्द्रिय और अवयवों से रहित है। इसलिए उससे उक्त उपभोग कैसे सम्भव है ? बिना इन्द्रिय और अवयवों के उपभोग का अनुभव नहीं हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव नहीं है तो भी उसका उपभोग पाचन इत्यादि कार्य में हो सकता है। उससे सुख-दुःख का अनुभव सिद्ध नहीं है तथापि उसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह रूप है। अर्थात् अन्न-पाचन इत्यादि कार्य में तैजस शरीर का उपभोग समस्त संसारी जीव करते हैं, परन्तु जो विशिष्ट तपस्वी तपस्या-जन्य विशिष्ट प्रकार की लब्धि प्राप्त कर लेते हैं, वे कुपित होकर उस शरीर के द्वारा अपने कोपभाजन को भस्मीभूत कर सकते हैं—अर्थात् जला भी सकते हैं तथा प्रसन्न होकर उस शरीर से अनुग्रह-पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते हैं—शान्ति भी दे सकते हैं। इस प्रकार तैजस शरीर का उपभोग शाप, अनुग्रहादिक में हो सकता है। अतः सुख और दुःख का अनुभव तथा शुभाशुभ कर्म का बन्ध इत्यादि होता है। इस हेतु से उसका उपभोग युक्त माना गया है।

❀ **प्रश्न**—इस तरह सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कार्मण शरीर तैजस शरीर के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नहीं है तो भी उसे उपभोग युक्त माना जा सकता है, क्योंकि अन्य शरीरों की उत्पत्ति का मूल कारण यही कार्मण शरीर है अर्थात् यह सब शरीरों की जड़ है। इसलिए अन्य शरीरों का उपभोग वास्तविक रूप से कार्मण शरीर का उपभोग मानना चाहिए, क्योंकि कार्मण के बिना उनकी उत्पत्ति ही नहीं है। इसलिए इसको निरुपभोग कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—कहना तो ठीक है। उपर्युक्त रीति से कार्मण को भी सोपभोग कह सकते हैं, किन्तु यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जहाँ तक अन्य शरीर सहायक न हों, वहाँ तक केवल कार्मण शरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नहीं होता, अर्थात्— उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने के लिए औदारिकादि चारों शरीर ही साक्षात् साधन हैं। इस हेतु से इन चारों को उपभोग युक्त माना है तथा कार्मण शरीर को परम्परया साधन होने के कारण उसे निरुपभोग कहा है।

स्पष्टीकरण—यहाँ पर उपभोग शब्द से सुख-दुःख का अनुभव, कर्मबन्ध, कर्मफल का अनुभव तथा कर्मनिर्जरा ये चार विवक्षित हैं। परभव जाते हुए विग्रहगति में एक कार्मण शरीर ही होता है। उस समय कार्मण शरीर से ये चार नहीं होते। जैसे—औदारिकादि शरीर से इन्द्रियों और विषय के सम्पर्क से सुख-दुःख का व्यक्त रूप में अनुभव होता है, वैसे कार्मण शरीर से सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि, कार्मण शरीर इन्द्रियों से रहित है। जैसे—औदारिकादि शरीर से हिंसादिक व्यापार तथा मन-वचन-काया से व्यक्त रूप में कर्मबन्ध होता है, वैसे कार्मण शरीर से कर्मबन्ध नहीं होता। क्योंकि, कार्मण शरीर हाथ-पाँव इत्यादिक से तथा मन-वचन से रहित है। जैसे—औदारिकादि शरीर से कर्मफल का अनुभव तथा कर्म की निर्जरा ये दोनों कार्य व्यक्त रूप में होते हैं, वैसे यहाँ कार्मण शरीर से नहीं होते।

इस तरह कार्मण शरीर से सुख-दुःख के फल का अनुभव इत्यादि न होने से वह उपभोग रहित है। यहाँ पर इतना ध्यान रखना अतिआवश्यक है कि कार्मण शरीर से उक्त रीति से व्यक्त

रूप में भले सुख-दुःख का अनुभवादिक न हो, तो भी अव्यक्त-सामान्य रूप से वे चारों होते हैं। कारण कि, विग्रहगति में भी कर्म का उदय होता है तथा मिथ्यात्व आदि निमित्तक कर्मबन्धन भी होता है एवं भोगे हुए कर्म की अकामनिर्जरा भी होती है। अन्य शरीर उपभोगयुक्त हैं। अर्थात् औदारिकादि शरीर से सुख-दुःख का अनुभव, विशिष्ट प्रकारेण कर्मबन्ध, कर्म के फल का अनुभव तथा कर्म की निर्जरा होती है।

तात्पर्य इतना ही है कि, कार्मण शरीर को निरुपभोग कहने का अभिप्राय उपभोग सामान्य के निषेध करने का नहीं, किन्तु उपभोग विशेष के निषेध करने का है। अभिव्यक्त सुख-दुःख और कर्मानुवन्ध अनुभव तथा निर्जरा आदि कार्मण शरीर के द्वारा नहीं हो सकते, यही उसकी निरुपभोगता है। इसके बिना एक बात यह भी है कि, कार्मण शरीर कर्मों के समूह रूप है। इसलिए वह उपभोग्य तो हो सकता है किन्तु उपभोजक नहीं हो सकता है। अन्य बात यह भी है कि, छद्मस्थ जीवों का उपभोग असंख्यात समय से कम में नहीं हो सकता। किन्तु कार्मण शरीर का योग जहाँ पर पाया जाता है, उस विग्रहगति का अधिकतम काल मात्र चार समय पर्यन्त का ही है। इत्यादि कारणों से ही कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है। आहारक शरीर अप्रमत्त के होता है, अतएव उसके द्वारा उपभोग नहीं हो सकता है। यदि कोई इस प्रकार की शंका करे तो वह भी ठीक नहीं है। कारण कि, उपभोग का तथा प्रमाद का सहचर नियम नहीं है। उपभोग होते हुए भी प्रमाद का अभाव होता है। अतएव अप्रमत्त मुनिराज भी आहारक शरीर के द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों के अभिव्यक्त होते हुए भी उसी प्रकार से शब्दादिक के ग्रहणरूप उपभोग किया करते हैं। अतएव यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि, उक्त उन शरीरों में से कौनसा शरीर किस जन्म से होता है? अर्थात्—किस-किस प्रकार के जन्म के द्वारा कौन-कौनसा शरीर प्राप्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही अब आगे का सूत्र कहते हैं। (अ. २, सू. ४५)

औदारिकशरीरस्य कारणानि

सूत्रम्—

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ २-४६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

आचार्यदेवैः पञ्चशरीराणां पाठसूत्रैः यैः क्रमैः विवक्षितं तेषु आद्यमितिसूत्रक्रम-प्रामाण्यादौदारिकमाह। तद् गर्भे सम्मूर्च्छने वा जायते। औदारिकशरीरं गर्भसम्मूर्छ-जन्मना जायते। नात्रावधारणं ज्ञेयम्। तदरिक्तं तैजस-कार्मणेऽपि च ॥ २-४६ ॥

❀ **सूत्रार्थ—**आद्य-औदारिक शरीर गर्भ से और सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होता है। अर्थात्—गर्भज और सम्मूर्छिम जीवों के औदारिक शरीर होता है ॥ २-४६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जन्मसिद्धता और कृत्रिमता—यहाँ पर यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त औदारिकादि पाँच शरीरों में कितने जन्मसिद्ध हैं और कितने कृत्रिम हैं? तथा जन्मसिद्ध में कौनसा शरीर किस जन्म

से उत्पन्न होता है ? और कृत्रिम कहने का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ चार सूत्रों में दिया गया है।

तैजस और कार्मण ये दो शरीर जन्मसिद्ध भी नहीं हैं तथा कृत्रिम भी नहीं हैं। क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों अवस्थाओं में होते हैं, इसलिए अनादि सम्बन्ध वाले हैं। औदारिक देह-शरीर जन्मसिद्ध ही है। जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो प्रकार के जन्म से पैदा-उत्पन्न होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यंच हैं।

सारांश— इस सूत्र का सारांश यह है कि पूर्व में तीन प्रकार के जन्म बताये हैं। उनमें से गर्भ और सम्मूर्छन इन दो प्रकार के जन्मों से उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है। गर्भज और सम्मूर्छिम जीवों के औदारिक शरीर ही होता है ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि, अन्य कार्मण इत्यादि शरीर भी होते हैं। किन्तु औदारिक शरीर गर्भज और सम्मूर्छिम जीवों के ही होता है। (अ. २, सू. ४६)

वैक्रियशरीरस्य कारणानि

सूत्रम्—

वैक्रियमौपपातिकम् ॥ २-४७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

औपपातिकं वैक्रियशरीरं भवति। नारकाणां देवानाञ्च। द्विविधं वैक्रियशरीरं यत्तुपपातजन्मजं भवति। तयोराद्यं भवधारकं अन्यच्च उत्तरवैक्रियम्। द्वयोः शरीरयोः जघन्यप्रमाणमङ्गुलस्यासंख्यप्रमाणस्य भागमात्रं, किन्तु उत्कृष्टप्रमाणस्य भवधारकस्य पञ्चशत-धनुषं, उत्तरवैक्रियस्य लक्षयोजनप्रमाणम् ॥ २-४७ ॥

❀ **सूत्रार्थ—वैक्रियशरीर उपपात से होता है। अर्थात्—उपपात जन्म वाले नारक और देवों के वैक्रियशरीर होता है ॥ २-४७ ॥**

卐 विवेचनामृत 卐

वैक्रिय शरीर औपपातिक है, उसके भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय जो दो भेद बताये हैं, उनमें भवधारणीय वैक्रिय शरीर जन्म से जीवन पर्यन्त रहता है तथा उत्तर वैक्रिय शरीर जब इच्छा होती है, तब बनाते हैं। उपपातजन्म के द्वारा प्राप्त होने वाले वैक्रिय शरीर के भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय दोनों शरीरों का जघन्य प्रमाण अङ्गुल के असंख्यातवें भागमात्र है, किन्तु उत्कृष्ट प्रमाण भवधारणीय का पाँच सौ धनुष और उत्तर वैक्रिय का एक लाख योजन प्रमाण है। वैक्रिय शरीर औपपातिक के बिना अन्य प्रकार का भी होता है। (अ. २, सू. ४७)

सूत्रम्–

लब्धिप्रत्ययं च ॥ २-४८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

लब्धिप्रत्ययशरीरं च वैक्रियं भवति । तिर्यग् योनीनां मनुष्याणां चेति । अत्र औदारिकशरीरवन्तानां वैक्रियशरीरं जन्मजन्यं न भवति । किन्तु लब्धिकारणकमेव भवति । वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव, शेषतिर्यग्योनिजानां मध्ये, नान्यस्येति ॥ २-४८ ॥

❀ **सूत्रार्थ**–मनुष्य और तिर्यंचों के वैक्रिय शरीर लब्धि-प्रत्यय हुआ करता है ॥ २-४८ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

वैक्रिय शरीर औपपातिक अर्थात् उपपात निमित्त से होता है । वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार से होता है । जो जन्मसिद्ध है वह उपपातजन्म के द्वारा उत्पन्न होता है तथा देवों और नारकी जीवों के ही होता है । कृत्रिम वैक्रिय शरीर का कारण लब्धि है । वह एक प्रकार के तप से उत्पन्न होने वाली शक्ति है । उस लब्धि से उत्पन्न होने वाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च प्राणी ही हैं । कृत्रिम वैक्रिय शरीर की कारणभूत एक अन्य प्रकार की भी लब्धि है, जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही प्राप्त होती है । इस प्रकार की लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवों में ही मानी गई है । इसलिए वे भी लब्धिजन्य कृत्रिम वैक्रिय शरीर के अधिकारी हैं ॥ (अ. २, सू. ४८)

आहारकशरीरस्य स्वामी

सूत्रम्–

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥ २-४९ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

आहारकशरीरमपि शुभम्, यत् शुभद्रव्योपचितं शुभपरिणामकञ्च । तस्याकृति-परिणामं आकृति-संस्थानञ्चापि शुभचतुरस्रम् । विशुद्धमिति विशुद्धद्रव्योपचितम-सावद्यमञ्च । अव्याघातीति आहारकं न व्याहन्ति न व्याहन्यते चेत्यर्थः । तच्चतुर्दश-पूर्वधर-मुनिवर एव कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्त सूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिगमार्थे क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकदेहेनाशक्यगमनं ज्ञात्वा लब्धिप्रत्ययमेव परिणमति सर्वज्ञविभुं विलोक्य छिन्नसन्देहः (संशयः) पुनरागत्य अन्तर्मुहूर्तस्य व्युत्सृजति ।

तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति । कार्मणशरीरं एतेषां निबन्धनमाश्रयः जायते । कार्मणस्य हेतु कर्म एव अन्येषां च शरीराणां सूर्यप्रभावत् । यथा सूर्यः स्वं प्रकाशयति इतराणि शरीराणि न, न चास्यान्यः प्रकाशकः, एवं कार्मणमात्मनश्च कारणं अन्येषां च शरीराणामिति । तर्कयतेऽत्रौदारिकमित्येतदादीनां शरीरसंज्ञानां कः पदार्थः ? अत्रोच्यते–उद्गतारमिति उदारम्, उत्कटारमुदारम्, उद्गम एव वोदारम्, उपादानात् इत्यादि अनुसमयमुद्गच्छति वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् । नैवं शेषाणि तेषां हि परं परं सूक्ष्ममिति ।

वैक्रियमिति–विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरणमित्यनर्थान्तिरम् । विविधं क्रियते एकं भूत्वानेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं भवति, अणुभूत्वा महद् भवति, महच्च भूत्वाणु भवति, एकाकृति भूत्वानेकाकृति भवति, अनेकाकृति भूत्वा एकाकृति भवति । एवमेव दृश्यमदृश्यं, अदृश्यं दृश्यञ्च, भूमिचरं खेचरं, खेचरं भूमिचरञ्च, प्रतिघातिऽप्रतिघाती, अप्रतिघाति प्रतिघातिञ्च भवति । युगपच्चैतान् भावाननुभवति । नैवं शेषाणीति । विक्रियायां भवति विक्रियायां भूयते तस्यामेव निर्वर्त्यते विक्रियैव वा वैक्रियमिति ।

आहारकमाह–आह्रियते आसमन्तात् ह्रियते इति आहार्यम् । आहारकस्यान्तर्मुहूर्त्तं स्थैर्यम् । नैवं शेषाणि ।

तेजसो विकारस्तैजसम्, तेजोमयं तेजः स्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनम् । नैवं शेषाणि ।

कर्मणो विकारः कर्मात्मकं कर्ममयमिति **कार्मणम्** । नैवं शेषाणि ।

एभ्यः अर्थविशिष्टेभ्यः शरीराणां नानात्वं प्रतिपादितम् । अन्यमपि चाह–हेतुतः विषयतः स्वामितः प्रयोजनतः प्रमाणतः प्रदेशसंख्यातः अवगाहनतः स्थिततः अल्पबहुत्वतः इत्येतेभ्यश्च नवविशेषेभ्यः शरीराणां नानात्वमत्र प्रतिपादितं सिद्धं वेति ।। २-४६ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–आहारक शरीर चौदह पूर्वधर मुनिवरों को लब्धि की प्रत्यय से हुआ करता है । इसकी रचना-आकृति संस्थान की अपेक्षा शुभ और विशुद्ध पुद्गलों के द्वारा होती है । यह शरीर अप्रतिघाती-व्याघातरहित होता है ।। २-४६ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

आहारक शरीर शुभ, अत्यन्त विशुद्ध और अप्रतिघाती है । क्योंकि उसकी रचना जिसके

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इष्टरूप हैं, ऐसे द्रव्यों से हुआ करती है तथा उसका परिणाम, आकृति और संस्थान भी शुभ चतुरस्र होता है तथा वह विशुद्ध भी होता है। जिन पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा वह बनता है, वे स्फटिक के समान स्वच्छ-निर्मल होती हैं। उसमें सर्व वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इससे किसी भी पदार्थ का व्याघात-विनाश नहीं होता तथा न किसी पदार्थ के द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है। क्योंकि, आहारक शरीर सूक्ष्म होने से न किसी को रोकता है और न किसी से रुकता है। जब मन में सन्देह-संशय उत्पन्न होता है तब उसके समाधान के लिए या सर्वज्ञविभु श्रीतीर्थंकर परमात्मा की अति अद्भुत दिव्य समवसरण आदि की ऋद्धि देखने की इच्छा से उनके पास जाने के लिए चौदह पूर्वधर लब्धिवन्त मुनिवर सर्वज्ञविभु का सन्निधान न हो, तब वे औदारिक शरीर से महाविदेह आदि क्षेत्र में जाने की बात असम्भव देखकर अपनी विशिष्ट लब्धि का उपयोग-प्रयोग करते हैं तथा उसके द्वारा एक हाथ प्रमाण शुद्ध स्फटिक समान आहारक शरीर बनाते हैं। वह शुभ पुद्गलों से अतीव सुन्दर और अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इस प्रकार के शरीर से वे महाविदेह आदि क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञविभु के समीप पहुँचकर अपने संशय-सन्देह का निवारण करके पुनः अपने स्थान पर लौट आते हैं। यह सब कार्य केवल अन्तर्मुहूर्त्त में ही समाप्त हो जाता है और उसके पूर्ण होते ही वह आहारक शरीर भी औदारिक शरीर में प्रवेश कर विघटित होता है।

तैजस—जिसका लक्षण उष्णता है और जो उपभुक्त आहार को पकाने वाला है, वह सब प्राणियों में रहने वाला तेज प्रसिद्ध है। इस तेज की विकार-अवस्था को ही तैजस कहने में आता है। इस तैजस शरीर को भी कितनेक आचार्य लब्धिजन्य मानते हैं और कितनेक नहीं भी मानते हैं। किन्तु जैसा वैक्रिय, आहारक शरीर का यथास्वरूप आविर्भाव है वैसा तैजस शरीर का नहीं है। यह केवल प्रयोग कार्यजन्य लब्धिरूप है। अतएव यह कार्य विशेषता ही उसका लक्षण समझना।

कार्मण—ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मों की विकार अवस्था विशेष होने से इसे कार्मण शरीर कहते हैं। यह कर्मस्वरूप या कर्ममय ही है। इसका कार्य भी अन्य शरीर के द्वारा नहीं हो सकता है। इसलिए इसे भी सबसे विशिष्ट समझना। इस विषय का विशिष्ट रूप से ज्ञान कराने के लिये अब नौ प्रकार से उन शरीरों का नानात्व और भी सिद्ध करके कहते हैं। वे नौ प्रकार कारणादि क्रम से इन्हीं विशेषों के द्वारा शरीरों के नानात्व को निम्नलिखित नोचे प्रमाणे सिद्ध करते हैं—

(१) **कारण**—जिन उपादान कारणस्वरूप पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा इन औदारिकादिक शरीरों की रचना हुआ करती है, वे सभी क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर हैं। यही कारणकृत विशेषता है—

(२) **विषय**—विषय नाम क्षेत्र का है। इसलिए कौनसा शरीर कितने क्षेत्र पर्यन्त गमन कर सकता है। इस तरह की विभिन्न शक्ति के कथन को ही विषयभेद कहते हैं। जैसे—औदारिक शरीर वालों में जो विद्याधर हैं, वे अपने औदारिक शरीर के द्वारा आठवें **नन्दीश्वर द्वीप** तक जा सकते हैं। किन्तु जो जङ्घाचारण वाले हैं, वे **रुचकपर्वत** पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यह तिर्यक् क्षेत्र की अपेक्षा से विषयभेद है। ऊर्ध्वदिशा में औदारिक देह-शरीर के द्वारा **पाण्डुकवन** पर्यन्त गमन हो सकता है तथा वैक्रिय शरीर असंख्यात द्वीप-समुद्र तक जा सकता है एवं केवल आहारक

शरीर ही महाविदेह क्षेत्र पर्यन्त गमन किया करता है। तैजस शरीर और कार्मरण शरीर दोनों का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकमात्र है।

(३) **स्वामी**—औदारिक आदि ये पाँच शरीर किस-किस के हुआ करते हैं? इसके निरूपण-वर्णन को ही स्वामी भेद कहते हैं। जैसे—औदारिक शरीर संसारी प्राणियों में से मनुष्य और तिर्यंच प्राणियों के ही होता है। वैक्रिय शरीर देवों और नारकियों के ही होता है, किन्तु किसी-किसी मनुष्य तथा तिर्यंच प्राणी के भी हो सकता है, जिसको वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो जाया करती है। आहारक शरीर चतुर्दश पूर्वधारी संयमी मुनिवर के ही होता है तथा तैजस और कार्मण शरीर दोनों ही संसारी जीव-प्राणी मात्र के होते हैं।

(४) **प्रयोजन**—जिसका जो असाधारण कार्य कहलाता है, वही उसका प्रयोजन कहा जाता है। जैसे कि **औदारिक शरीर** का प्रयोजन धर्म-अधर्म का साधन या केवलज्ञानादिक की प्राप्ति होना है। यह कार्य अन्य शरीर के द्वारा नहीं हो सकता है। **वैक्रिय शरीर** का प्रयोजन स्थूल-सूक्ष्म या एक-अनेकादिक रूप धारण करना, पृथ्वी, पानी तथा आकाश में गमन करना एवं अणिमादि ऋद्धियों का लाभ होना ही इस वैक्रिय शरीर का असाधारण कार्य है।

आहारक शरीर का प्रयोजन भी इसी प्रकार का है, सूक्ष्म व्यवहित तथा दुरवगाह वस्तु-पदार्थों के विषय में उत्पन्न हुए सन्देह-संशयों को दूर करना। अथवा असंयम का परिहारण होना इत्यादि जानना।

तैजस शरीर का प्रयोजन है आहार का पाक होना तथा शाप देने और अनुग्रह करने की शक्ति का प्रकट होना। **कार्मण शरीर** का प्रयोजन है जीव-आत्मा का भवान्तर को जाना इत्यादि।

(५) **प्रमाण**—औदारिक शरीर का प्रमाण एक हजार योजन से कुछ-कंइक अधिक है। वैक्रिय शरीर का प्रमाण एक लाख योजन का है। यह प्रमाण विक्रिया की अपेक्षा से है, मूल शरीर की अपेक्षा से नहीं। आहारक शरीर का प्रमाण एक हाथ से कुछ कम (रत्नि-बद्धमुष्टि) प्रमाण है। तैजस शरीर और कार्मण शरीर का लोकमात्र प्रमाण है।

(६) **प्रदेश संख्या**—तैजस शरीर के पूर्व शरीरों के प्रदेश असंख्यात गुणे हैं तथा अन्तिम दो शरीरों के प्रदेश अनन्त गुणे हैं। अर्थात्—औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणे हैं। वैक्रिय शरीर से आहारक शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणे हैं। लेकिन आहारक शरीर के प्रदेश से तैजस शरीर के प्रदेश तथा तैजस शरीर के प्रदेश से कार्मण शरीर के प्रदेश अनन्त गुणे हैं।

(७) **अवगाहना**—औदारिक आदि पाँचों शरीरों में जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त प्रमाण से ही समझनी चाहिए। जैसे कि—औदारिक शरीर की अवगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक जाननी, इत्यादि।

(८) **स्थिति**—औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है। वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम प्रमाण की है। आहारक शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार की स्थिति

अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है। तैजस शरीर और कार्मण शरीर दोनों की स्थिति अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादिसान्त है।

(६) **अल्प-बहुत्व**—औदारिकादिक पाँच शरीरों में से किस शरीर के धारण करने वाले कम-अल्प हैं और किस शरीर के धारण करने वाले बहु-अधिक हैं, इसके जानने को ही अल्प-बहुत्व कहते हैं। सबसे कम यानी अल्प संख्या आहारक शरीर वालों की है। यह आहारक शरीर कभी होता है और कभी नहीं भी होता है। क्योंकि इस आहारक शरीर का एक समय से लेकर छह महीने तक का अन्तरकाल माना गया है।

आहारक शरीर से वैक्रिय शरीर वालों का प्रमाण असंख्यातगुणा कहा है। वैक्रिय शरीर से औदारिक शरीर वाले जीवों का प्रमाण असंख्यातगुणा बताया है तथा औदारिक शरीर से तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरों के प्रमाण अनन्तगुणा कहने में आते हैं। इस तरह विशिष्ट रूप से उन शरीरों का नानात्व भी सिद्ध करके बताया है॥ (अ. २, सू. ४६)

वेदस्य [लिङ्गस्य] प्रतिपादनम्

सूत्रम्–

नारक-सम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ २-५० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

नारकगतिवन्तः सर्वे जीवाः सम्मूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवन्ति, न स्त्री पुमान् इति। न स्त्री न पुमान् इति नपुंसकम्। तेषां हि चारित्रमोहनीय-नो-कषायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेवैकमशुभगतिनामापेक्षं पूर्वबद्धनिकाचित-मुदयप्राप्तं भवति, नेतरे इति।

यस्य फलमवश्यमेव भोक्तव्यम् तद् निकाचितम्। यस्य च उदीरणा-संक्रमणोत्कर्षणापकर्षणानि एतानि चत्वारि अवस्थास्थानानि नैव जायन्ते। ग्रहणं कृतेनेव दुग्धजलमिव एकात्म्यं भवति चाध्यवसायविशेषैः अविभागिरूपेणात्मप्रदेशैः सह सम्बद्धाः कर्मविशेषा निकाचितबन्धाः॥ २-५० ॥

❀ **सूत्रार्थ**–नारकी और सम्मूर्च्छन (संमूर्छिम) जीव नपुंसक होते हैं। अर्थात्–नरकगति वाले और सम्मूर्च्छन जन्म धारण करने वाले समस्त जीव नपुंसक ही होते हैं॥ २-५० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्व के सूत्रों में औदारिक आदि पाँचों शरीरों का वर्णन किया था। अब यहाँ इस सूत्र में वेद या लिङ्ग का वर्णन कर रहे हैं। संसार की मनुष्यादि चार गतियों में वेद या लिंग का क्या नियम है, सो कहते हैं।

औदयिक भावों की व्याख्या इस अध्याय के सूत्र ६ में कर आये हैं कि वेद तीन प्रकार के हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इसी को लिंग भी कहते हैं। ये तीनों वेद द्रव्य और भावरूप से दो-दो प्रकार के हैं। (१) **द्रव्यवेद** और (२) **भाववेद**। उसमें द्रव्यवेद का अर्थ चिह्न अर्थात् आकार विशेष है और भाववेद का अर्थ विषय की अभिलाषा विशेष जिसे इच्छा कहते हैं।

(१) जिस चिह्न से पुरुष की पहचान होती है, उसे पुरुषवेद कहते हैं। यह द्रव्यवेद है। स्त्री के संसर्ग-सुख की अभिलाषा को भाव पुरुषवेद कहते हैं।

(२) स्त्री की पहचान का जो साधन है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। यह द्रव्य स्त्रीवेद है। पुरुष-प्रत्ययी संसर्ग-सुख की अभिलाषा, वह भाव स्त्रीवेद कहलाती है।

(३) जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हों या दोनों से विपरीत चिह्न हों, उसे द्रव्य नपुंसकवेद कहते हैं तथा स्त्री, पुरुष दोनों के संसर्ग-सुख की अभिलाषा हो, उसे भाव नपुंसकवेद कहते हैं।

द्रव्यवेद पौद्गलिक आकृतिरूप है, जो नामकर्म के उदय का फल है और जो भाववेद है वह एक प्रकार के मनोविकार रूप मोहनीयकर्म के उदय का फल है। द्रव्यवेद और भाववेद में साध्य-साधन का अथवा पोष्य-पोषक का सम्बन्ध है।

विशेष—यहाँ पर वेद-लिंग का कथन भाववेद की दृष्टि से है। क्योंकि यहाँ सम्मूर्छिम जीवों के नपुंसकवेद होता है, ऐसा कहने में आया है। जो द्रव्यवेद की अपेक्षा से यह कथन हो तो नहीं घट सकता है, क्योंकि सम्मूर्छिम असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पुरुषवेद तथा स्त्रीवेद ये दोनों द्रव्यवेद होते हैं॥ (अ. २, सू. ५०)

सूत्रम्—

न देवाः ॥ २-५१ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

चतुर्निकाया अपि देवाः नपुंसकाः नैव भवन्ति। स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति। अर्थात् देवगत्यां नपुंसकवेदकोदयः नैव भवति। यत् तस्य पूर्वजन्मनि बन्धः नैव भवति। तेषां च शुभगतिनामापेक्षे स्त्री-पुरुषवेदनीये पूर्वबद्धनिकाचिते। उदयप्राप्ते द्वे एव भवतः नेतराणि। पारिशेष्यात् गम्यते जराय्वण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति-स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति। अर्थात्-जरायुजाण्डजपोतजानां स्त्रीपुरुषनपुंसकेषु वेद ॥ २-५१ ॥

❋ **सूत्रार्थः**—चारों ही निकायों के देव नपुंसक नहीं होते हैं। वे स्त्रीवेदी या

पुरुषवेदी ही होते हैं। गर्भज जीवों में तीनों (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) वेद होते हैं ॥ २-५१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

भवनपत्यादिक चारों ही निकाय के देव नपुंसक नहीं होते हैं। वे स्त्रीवेदी अथवा पुरुषवेदी ही होते हैं। क्योंकि, उनके शुभ गतिनामकर्म, शुभगोत्र, शुभआयुष्य तथा शुभवेदनीयकर्म के उदय की अपेक्षा से स्त्रीवेद और पुरुषवेद का ही उदय हुआ करता है; जिसका पूर्वजन्म में ही निकाचित बन्ध हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि देवगति में नपुंसकवेद का उदय होता नहीं है। कारण कि, उसका पूर्वजन्म में बन्ध हुआ नहीं है तथा उसके उदय के योग्य सहकारी कारण भी अपेक्षित नहीं हैं। इस तरह जब नरकगति वाले, सम्मूर्छन जन्म वाले तथा देवगति वाले जीव-प्राणियों के वेद-लिङ्ग का नियम पूर्व में कह दिया है, तब इनसे जो शेष रहे उन जीवों के कौन-कौनसा वेद-लिङ्ग होता है यह कथन अर्थादापन्न हो जाता है। अर्थात्—जरायुज, अण्डज और पोतज इन शेष जीव-प्राणियों के स्त्रीलिङ्ग, पुरुषलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग ये तीनों ही प्रकार के वेद (लिङ्ग) पाये जाते हैं।

विभाग—नारक और सम्मूर्छिम जीवों के नपुंसकवेद होता है। लेकिन देवों के नपुंसकवेद होता नहीं है, किन्तु स्त्रीवेद और पुरुषवेद होते हैं। शेष गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच जीवों के तीनों वेद होते हैं। अर्थात् कोई स्त्री, कोई पुरुष और कोई नपुंसकवेदी होता है।

विकार की तरमता—प्रस्तुत इन तीनों वेदों के विकार की स्थायी रूप से तुलना की जाय तो पुरुषवेद का स्थायी रूप विकार सबसे कम न्यून समयवर्त्ती होता है तथा पुरुषवेद से स्त्रीवेद का स्थायी रूप विकार अधिक-विशेष समय वाला होता है एवं इससे भी नपुंसकवेद का स्थायी रूप विकार अधिक समय वाला होता है। इसलिए यह बात उपमान से इस तरह समझी जा सकती है।

❀ पुरुषवेद का स्थायी रूप विकार प्रज्वलित तृण-घास की अग्नि के समान है। वह शरीर की रचना विशेष से शीघ्र-जल्दी प्रगट होता है तथा शीघ्र-जल्दी ही शान्त भी हो जाता है।

❀ स्त्रीवेद का स्थायी रूप विकार अंगारे के समान है। वह पुरुषवेद के समान शीघ्रता पूर्वक जल्दी शान्त नहीं होता है और जल्दी प्रकट भी नहीं होता है।

❀ नपुंसकवेद का भी स्थायी रूप विकार सन्तप्त-तपी हुई ईंट के समान है। वह बहुत समय के बाद शान्त होता है तथा प्रकट भी बहुत समय के बाद अर्थात् बहुत देर में होता है।

इसका कारण यही है कि—स्त्री में कोमलत्व अर्थात् कोमल भाव मुख्य है। जिसे कठोर-तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पुरुष में कठोरत्व अर्थात् कठोरभाव मुख्य है जिसे कोमलतत्त्व की अपेक्षा रहती है तथा नपुंसक में कोमलत्व और कठोरत्व इन दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रहती है। (अ. २, सू. ५१)

आयुषः भेदस्तथा तस्य स्वामी

सूत्रम्—

औपपातिक–चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ २-५२ ॥

❋ सुबोधिका टीका ❋

अत्र शङ्क्यते ? चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिः आयुष्यः वा अकाल-मृत्युः अपि भवति, अत्र किं प्रतिपाद्यते ? उच्यते एव–आयूंषि द्विविधानि अपवर्त्तनीयानि, अनपवर्त्तनीयानि च । अनपवर्त्तनीयानि पुनर्द्विधानि, सोपक्रमाणि, निरुपक्रमाणि च । अपवर्त्तनीयानि तु नियतं सोपक्रमाणीति ।

उपपातजन्मनां चरमशरीरिणां उत्तमपुरुषाणां असंख्यातवर्षायुषां आयूंषि अनपवर्त्तनीयानि । औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तम - पुरुषाः असङ्ख्येयवर्षायुष इत्येते अनपवर्त्त्यायुषो भवन्ति । तत्रापि औपपातिका नारकदेवाश्च । चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये । ये तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति । उत्तमपुरुषाः श्रीतीर्थङ्कर-चक्रवर्त्यर्ध-चक्रवर्त्तिनः । असङ्ख्येयवर्षायुषः मनुष्याः तिर्यग्योनिजाः एव भवन्ति । सदेवकुरूत्तर-कुरुषु सान्तरद्वीपकास्वकर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायामित्यसङ्ख्येय-वर्षायुषो मनुष्या भवन्ति । अत्रैव च बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजाः असङ्ख्येय-वर्षायुषः भवन्ति । औपपातिकाश्च असङ्ख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमाः । चरमदेहाः सोपक्रमाः निरुपक्रमाश्चेति । एभ्यश्चौपपातिक-चरमदेहासङ्ख्येयवर्षायुर्भ्यः शेषाः मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमाः निरुपक्रमाश्चापवर्त्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति ।

तत्र येऽपवर्त्त्यायुषः तेषां विषशस्त्र-कण्टकाग्नि-उदकाह्यशिताजीर्णाशनि-प्रपातोद्बन्धनश्वापदवज्रनिर्घातादिभिः क्षुत्-पिपासा-शीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैः आयुः अपवर्त्त्यते । अपवर्त्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगः भवति । उपक्रमोऽपवर्त्तन-निमित्तम् । एतदायु-अपवर्त्तनस्वरूपं विवक्तम् । केचनात्र सत्यार्थाभिज्ञास्त्रयदोषाः प्रस्तूयन्ते । ते चाद्यः कृतनाशः, अकृतागमः, निष्फलता च । तमपि अत्र निराक्रियते कृतनाशादि-पूर्वोक्तास्त्रयदोषा ये च कर्मविषये प्रस्तुताः अयोग्याः । एवञ्च चतुर्थदोषः आयुकर्मजात्यन्तरानुबन्धि इत्यपि अयोग्यः ।

अत्राह–यद्यपवर्तते कर्म तस्मात् कृतनाशः प्रसज्यते, यस्मान्न वेद्यते । अथास्त्याyुष्कं कर्म म्रियते च, तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते । येन सत्यायुष्के म्रियते च तत-श्चायुष्कस्य कर्मण आफल्यं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति चायुष्कं कर्म न जात्यन्तरानुबन्धि तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति ।

कथ्यतेऽत्र–कृतनाशाकृतागमनिष्फलतादित्रयदोषाश्चये कमविषये व्यवहृताः नैतद् एवं तु चतुर्थोऽपि दोषरायुष्यकर्म जात्यन्तरानुबंन्धि अपि उपह्रियते एतदपि अग्राह्यम्, जैनसिद्धान्ताज्ञा एवापवर्तनं मन्यन्ते । कृतनाशाकृताभ्यागमाफल्यानि कर्मणो न विद्यन्ते । नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुबन्धः । किन्तु यथोक्तै रुपक्रमैरभिहतस्य सर्वसन्दोहेनोदय-प्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते । संहतस्य शुष्कस्यापि तृणसं-हतिदहनवत् । यथा हि-संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेः अवयवशोऽनुक्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य वायुरुप-क्रमाभिहितस्य शीघ्रमेव दाहो भवति ।

यथा च संख्याचार्यः करणलाघवार्थं गुणनभागाहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वद् उपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभावः । यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहति चिरेण शोषमुपयाति । एष एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति । न च संहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहापगमो नापि वितानितेऽकृत्स्न शोषः तद् वद् यथोक्तानिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति ।

न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि । द्वयोः अवस्थायां जलावयवप्रमाणं तुल्यमेव । एतदेवान्तरं यत् एकस्य शोषः अधिककालेन भवति अन्यस्य शोषः क्षिप्रमल्प-कालेनैव जायते । इत्थं प्रकृतौ अपि । अपवर्तनहेतुभिः कर्मफलोपभोगः शीघ्रमेव जायते एतदैवापवर्तनम् ।। २-५२ ।।

❀ **सूत्रार्थ**–औपपातिक यानी उपपात जन्म वाले, चरम शरीरी यानी चरम शरीर को धारण करने वाले, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव) और असंख्यातवर्षजीवी यानी असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच युगलिकों के आयुष्य वाले–ये सब अनपवर्तनीय आयुष्य वाले ही होते हैं। अर्थात्–आयुष्य की सम्पूर्ण स्थिति तक उसका क्रम से परिभोग इन सबको होता है ।। २-५२ ।।

卐 विवेचनामृत 卐

औपपातिक, चरमदेही-चरमशरीरी, उत्तम पुरुष तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों के अनपवर्त्य आयुष्य होता है ।

औपपातिक—उपपात रूप जन्म से उत्पन्न होने वाले जीव अर्थात् देव और नारक ।

चरमदेही-चरमशरीरी—अन्तिम वर्त्तमानभव में ही मोक्ष में जाने वाले जीव ।

उत्तम पुरुष—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव इत्यादि उत्तम पुरुष ।

असंख्यात वर्ष जीवी—असंख्य वर्षायुष वाले जीव अर्थात् ढाई द्वीप के युगलिक मनुष्य-तिर्यंच तथा ढाई द्वीप के बाहर रहे हुए पूर्वकोटि से अधिक आयुष्य वाले तिर्यंच असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले होते हैं। इस प्रकार इन चार प्रकार के जीवों के आयुष्य अनपवर्तनीय कहलाते हैं।

विशेष—अनादिकालीन इस संसार की चार गतियों में संसारवर्ती जीवों-प्राणियों के आयुष्य-स्थिति की कैसी व्यवस्था है ? क्योंकि युद्धादिक विप्लवों में सैकड़ों-हजारों हृष्ट-पुष्ट नौजवानों को मरते हुए देखकर तथा वृद्धावस्था द्वारा जर्जरित देह वाले महा भयंकर आफतों में से बचते हुए उनको भी देखकर हृदय में सन्देह-संशय होता है कि यह क्या अकाल मृत्यु है, जिससे अनेक व्यक्ति एक साथ मृत्यु की शय्या पर सो जाते हैं और कई मरणान्त कष्ट को पाकर भी जीवित रहते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

आयुष्य के दो भेद हैं—(१) एक है **अपवर्तनीय आयुष्य** और (२) दूसरा है **अनपवर्तनीय आयुष्य**। उसमें उपक्रम से जिस आयुष्य की अपवर्तना हो सके वह अपवर्त्य है। उपक्रम यानी अपवर्तना का निमित्त। तथा अपवर्तना यानी आयुष्य स्थिति का ह्रास। अर्थात् जिस आयुष्य की स्थिति का ह्रास हो सकता है वह आयु **अपवर्त्य** या **अपवर्तनीय** कही जाती है। तथा जिस आयुष्यकर्म का बन्ध गाढ़ यानी मजबूत हुआ हो, उस आयुष्यस्थिति का ह्रास नहीं होता है। अर्थात्—जिस आयुष्यस्थिति का ह्रास नहीं होता है, वह आयु **अनपवर्त्य** यानी **अनपवर्तनीय** कही जाती है।

सारांश यह समझना कि जो आयुष्य बन्ध-समय की स्थिति के पूर्ण होने से पूर्व ही शीघ्र-जल्दी भोगी जा सके वह **अपवर्तनीय आयुष्य** है तथा जो आयुष्य बन्ध-समय की स्थिति के पूर्ण होने से पूर्व न भोगी जा सके वह **अनपवर्तनीय आयुष्य** है। अर्थात्—जिस आयुष्य का भोगकाल बन्ध-समय की स्थितिमर्यादा से कम हो वह **अपवर्तनीय** है तथा जिसका भोगकाल बन्धकालीन स्थिति मर्यादा के समान ही हो वह **अनपवर्तनीय** है। उपक्रम से जिस आयुष्य की अपवर्तना हो सके वह अपवर्त्य कही जाती है, ऐसा जो पूर्व में कहा है, उसमें उपक्रम के भी दो भेद हैं। **अभ्यन्तर** और **बाह्य**। उसमें **अध्यवसान अभ्यन्तर उपक्रम** है। अध्यवसान के (१) **राग** (२) **स्नेह** और (३) **भय** ये तीन भेद हैं। बाह्य उपक्रम के छह भेद हैं—

(१) **निमित्त**—विष, शस्त्र, सर्पदंश, अग्नि, बिजली, क्षुधा, तृषा, ठंडो तथा गरमी आदि।

(२) **आहार**—अधिक आहार तथा कुपथ्य आहारादि।

(३) **वेदना**—शिरोवेदना-मस्तकशूल वगैरह।

(४) **पराघात**—गिर जाना इत्यादि।

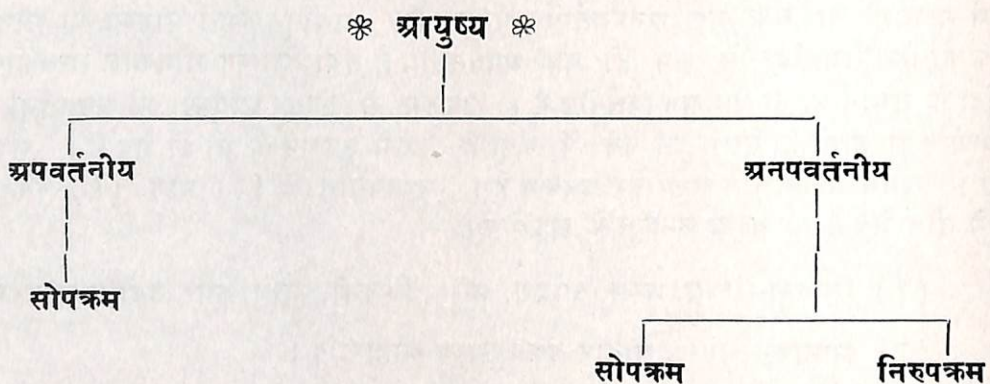
(५) **स्पर्श**—विषसर्प, जहरीले जन्तु तथा विषकन्या आदि का स्पर्श।

(६) **श्वासोश्वास**—दम इत्यादिक कारण से श्वासोश्वास एकदम तेजी से चले अथवा घबराहट आदि से श्वासोश्वास अटक जावे-बन्द पड़ जावे।

उक्त इन अभ्यन्तर और बाह्य—सात उपक्रमों से आयुष्य की स्थिति का ह्रास होने से शीघ्र मृत्यु यानी मरण होता है। इस तरह आयुष्य की अपवर्तना होने का कारण यही है कि आयुष्य के बन्धसमय में आयुष्यकर्म के दलिकों का बन्ध शिथिल होता है। जिस आयुष्यकर्म का बन्ध गाढ़ यानी मजबूत हुआ हो, उस आयुष्यकर्म की स्थिति का ह्रास नहीं हो सकता है। अर्थात्—जिस आयुष्यस्थिति का ह्रास नहीं होता है, वह अनपवर्त्य है। यानी अनपवर्तनीय आयुष्य के दो भेद हैं। (१) **सोपक्रम** और (२) **निरुपक्रम**।

(१) **सोपक्रम**—जिस आयुष्य को विष इत्यादि द्वारा, बाह्य के भय इत्यादि द्वारा अभ्यन्तर उपक्रम प्राप्त हो, उसे **'सोपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य'** कहा जाता है तथा (२) जिस आयुष्य को उपक्रम प्राप्त न हो, उसको **'निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य'** कहते हैं। उपक्रम प्राप्त हो या न हो तो भी अनपवर्तनीय आयुष्य की स्थिति का ह्रास होता ही नहीं। इस द्वितीय अध्याय के अन्तिम बावनवें सूत्र में औपपातिक, चरमशरीरी, उत्तम पुरुष और असंख्य वर्ष की आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य अनपवर्तनीय है, ऐसा कहा है। इन जीवों में औपपातिक और असंख्य वर्ष वाले जीवों का निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य होता है। चरमशरीरी तथा उत्तम पुरुषों का निरुपक्रम और सोपक्रम दोनों प्रकार का अनपवर्तनीय आयुष्य होता है।

उक्त इन चार प्रकार से अन्य जीव भी अपवर्त्य या अनपवर्त्य दोनों प्रकार की आयुष्य वाले होते हैं तो भी अपवर्त्य आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य उपक्रम लगते कम हो जाता है अर्थात् घट जाता है। अपवर्तनीय आयुष्य को उपक्रम लगता है, इससे वह अवश्य कम-न्यून होता है। इसलिए अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम ही होता है।



प्रश्न—नियत कालमर्यादा के पहले ही आयुष्यकर्म अपवर्तित हो जाय अर्थात् न्यून या नष्ट हो जाय तो कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता के दोष प्राप्त होते हैं, जो शास्त्र में इष्ट नहीं हैं, इनका निवारण किस तरह से होगा?

उत्तर—शीघ्र कर्म का भोग होने में उक्त दोष नहीं लगता है, क्योंकि कोई भी कर्म बिना भोगे नष्ट नहीं हो सकता है। उसका प्रदेशोदय या विपाकोदय अवश्य ही भोगना पड़ता है। केवल आयुष्यकर्म को छोड़कर के शेषकर्म दोनों प्रकार से भोगे जाते हैं। किन्तु आयुष्यकर्म का विपाक अनुभव किये बिना कभी भी छूट सकता नहीं। चिरकाल के आयुष्य को शीघ्र ही भोग लेने में कृतनाश तथा निष्फलता दोष प्राप्त नहीं होता एवं शिथिल बन्ध के कर्मानुसार प्राप्त होने वाले मरण से अकृत्यकर्म के आगमन का दोषारोपण भी नहीं होता है। जैसे—घनीभूत शुष्क तृण-घास की राशि में एक ओर से अग्नि की चिनगारी लगा देने से यह एकैक तृण को जलाती हुई चिरकाल में उस घास की गंजी को जलावेगी। यदि उसी के चारों तरफ अग्नि की चिनगारियाँ रख दें और वे पवन के वेग से प्रज्वलित हो जावें तो अल्पकाल में उस समस्त गंजी को जला देंगी। इसी माफिक शीघ्र परिपाक होने वाले आयुष्य को अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं।

इस बात को पुनः विशेष स्पष्ट करने के लिए शास्त्रों में और भी दो दृष्टान्त दिये गये हैं। पहला है गणित क्रिया का और दूसरा है वस्त्र सुखाने का। जैसे—(१) किसी विशिष्ट संख्या का लघुतम छेद निकालना हो तब गणितज्ञ निपुण पुरुष जैसा जल्दी जवाब देगा वैसा अन्य पुरुष जल्दी जवाब नहीं दे सकता। भले दोनों का उत्तर समान है किन्तु क्रिया की भिन्नता के कारण ही कालसमय की भिन्नता होती है। इस तरह गणित क्रिया का दृष्टान्त जानना।

(२) दूसरा वस्त्र सुखाने का दृष्टान्त नीचे प्रमाणे है—किसी एक वस्त्र को दो, चार या अधिक पड़ करके सुखाया जाय तो वह वस्त्र विलम्ब से सूखेगा। किन्तु उसी वस्त्र को एक पड़ करके पवन की जगह धूप में सुखा दिया जाय तो वह एकदम जल्दी सूख जायेगा। उस वस्त्र में जल-पानी का परिमाण और शोषण क्रिया समान होने पर भी वस्त्र के संकोच तथा विस्तार के कारण सूखने में देरी और जल्दी का अन्तर पड़ता है। यह शीघ्रता और विलम्ब केवल क्रिया के आधार पर निर्भर है। ऐसे ही विष, शस्त्रादि निमित्तभूत होने से समान परिमाण युक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयुष्य के भोगने में भी केवल जल्दी और देरी का ही अन्तर पड़ता है। इसलिए 'कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता' की यहाँ प्राप्ति होती नहीं है। अर्थात् कृतादि उक्त दोष नहीं आते ॥ (अ. २, सू. ५२)



卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य द्वितीयाध्यायस्य सारांशः 卐

जीवतत्त्वस्वरूपञ्च, तस्य भावा प्रकीर्तिताः ।
क्षायिकौपशमिकानाञ्च, सर्वे तत्त्वाश्च वर्णिताः ।। १ ।।

पारिणामिक - भावानां, त्रयो भेदाऽपि दर्शिता ।
समासतो द्विविधा जीवा, संसारी च मुक्तकाः ।। २ ।।

समनस्कामनस्कानां, सर्वरूपः प्रदर्शितम् ।
स्थावरेन्द्रियत्रसानां, नियमाप्यनिन्द्रियाम् ।। ३ ।।

ये जीवा स्ववपुस्त्यक्त्वा, धार्यन्ते यां गतिं पराम् ।
व्याहृतं नियमं सर्वं, मोक्षपञ्चमगतेरपि ।। ४ ।।

वक्रागति – भवान्तर – ञ्चाऽनाहारकता कियत् ? ।
गर्भोपपात – रूपाणि, वैक्रियाणि कृतानि च ।। ५ ।।

तैजसे कार्मणे देहे, प्रदेशे का विशेषता ? ।
औदारिकत्रयाणाञ्च, सर्वाः शङ्काः समाधिताः ।। ६ ।।

किं प्रयोज्यं शरीराणां, कार्मणान्तिमवर्णनम् ।
कुत्र वैक्रियदेहत्वं, कञ्चाहारक – लक्षणम् ।। ७ ।।

तेषां किमधिषां लिङ्गं, कस्या गत्यामवाप्यते ।
येषु जीवेषु क्लैव्यं वै, सर्वथा नैव प्राप्यते ।। ८ ।।

तेषां देवविशेषाणां, वर्णनमपि वर्णितम् ।
प्रोक्तं जैनागमे सर्वं, प्रस्तुतमपि सुन्दरम् ।। ९ ।।

चतुर्गतावपि जीवाः, पूर्वायुर्बद्धनं तु वै ।
मुक्त्वा यं च नवं प्राप्येत्, द्वितीये तत् विवर्णितम् ।। १० ।।

इति श्रीशासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-भारतीयभव्य-विभूति–महाप्रभावशालि–अखण्डब्रह्मतेजोमूर्त्ति-श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेकप्राचीन-तीर्थोद्धारक–श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेकनृपप्रतिबोधक–चिरन्तन - युगप्रधानकल्प-वचनसिद्धमहापुरुष-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रातःस्मरणीय-परमोपकारि-परमपूज्याचार्य-महाराजाधिराज **श्रीमद्‌विजयनेमिसूरीश्वराणां** दिव्यपट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न–साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतन-संस्कृतसाहित्यसर्जक – परमशासनप्रभावक–बालब्रह्मचारि–परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद्‌विजयलावण्यसूरीश्वराणां** प्रधानपट्टधर - धर्मप्रभावक - शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न - स्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थकारक-बालब्रह्मचारि-परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद्‌विजयदक्षसूरीश्वराणां**-सुप्रसिद्धपट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-तीर्थप्रभावक - राजस्थानदीपक - मरुधरदेशोद्धारक-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण-बालब्रह्मचारि-**श्रीमद्‌विजयसुशीलसूरिणा श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य द्वितीयोऽध्यायस्योपरि** विरचिता **'सुबोधिका टीका'** एवं तस्य हिन्दीभाषायां **'विवेचनामृतम्'** ।



श्रीतत्त्वार्थाधिगम सूत्र के द्वितीयाध्याय का
❋ हिन्दी पद्यानुवाद ❋

सूत्रम्–

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिकपारिणामिकौ च ।। १ ।।

द्वि-नवा-ऽष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ।। २ ।।

सम्यक्त्व-चारित्रे ।। ३ ।।

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च ।। ४ ।।

ज्ञाना-ज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रि-त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।। ५ ।।

गति - कषाय - लिङ्ग - मिथ्यादर्शना-ऽज्ञाना-ऽसंयता-ऽसिद्धत्व - लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ।। ६ ।।

जीव-भव्याऽभव्यत्वादीनि च ।। ७ ।।

❋ हिन्दीपद्यानुवाद–

जीव के निज तत्त्व रूप जो, भाव पाँचों ही कहे ।
उपशम क्षायिक मिश्र ए, तीनों भाव जीव में रहे ।।
औदयिक और पारिणामिक, जीव-अजीव में भी रहे ।
इस भाँति स्वतत्त्व के इन, पाँच भाव को सद्दहै ।। १ ।।

उपशम के भी भेद दो हैं, नौ भेद क्षायिक भाव के ।
मिश्र के हैं भेद अठारह, इक्कीस औदयिक के ।।
हैं भेद तीन पारिणामिक, मिलत सब त्रेपन होते ।
क्रमशः ये भेद सभी को, अब सूत्रकर्त्ता कहते ।। २ ।।

दो भेद औपशमिक के, सम्यक्त्व और चारित्र हैं ।
नौ भेद क्षायिक भाव के, केवलज्ञान-दर्शन आदि हैं ।।
फिर दान - लाभ - भोगोपभोग, वीर्यान्तराय पाँच ये ।
सम्यक्त्व और चारित्र, क्षायिकभाव ये श्रेष्ठ हैं ।। ३ ।।

मिश्रभाव से चार ज्ञान, अज्ञान तीनों जानिये ।
तीन दर्शन दानादिक, अन्तराय पंचम मानिये ।।
सम्यक्त्व और चारित्र के, दो भेद देशे सर्व से ।
उत्पन्न होते भेद अठारह, इम घाती कर्म से ।। ४ ।।

गति चार, चार कषाय, तीन-लिंग और मिथ्यात्व हैं ।
अज्ञान अविरति असिद्धत्व, एकैक सब अतिमान्य हैं ।।
षड् भेद लेश्या के मिलाकर, इक्कीस का यह योग है ।
उदय होता जीव का तो, अजीव भी तद् युक्त है ।। ५ ।।

अजीव में औदयिक भाव, मात्र पुद्गल स्कन्ध तक ।
पर पुद्गलों के परिणाम तो, बहुशास्त्र में वर्णित ।।
परिणाम है इस हेतु से, त्रय भेद पंचम भाव में ।
जीवत्व और भव्यता, अभव्यत्व तिसरा जीव में ।। ६ ।।

सूत्रम्–

उपयोगो लक्षणम् ।। ८ ।।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।। ९ ।।

✻ हिन्दीपद्यानुवाद–

उपयोग लक्षण जीव का, दो भेद उसके भी हुए ।
साकार और निराकार, साकार के भेद आठ हैं ।।
निराकार के भी चार हैं, वे सब भावाभाव से ।
जिससे बनता भव्य जीव, निराकारी निश्चय से ।। ७ ।।

सूत्रम्–

संसारिणो मुक्ताश्च ।। १० ।।

समनस्काऽमनस्काः ।। ११ ।।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।। १२ ।।

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।। १३ ।।

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।। १४ ।।

✻ हिन्दीपद्यानुवाद–

संसारी और मुक्त ये, दोय भेदे जीव जानिये ।
मनयुक्त मनरहित दो से, जीव संसारी मानिये ।।
त्रस और स्थावर भेद भी, हैं जीव संसारी के ।
पृथ्वी पानी वनस्पति ये, भेद स्थावर जीव के ।। ८ ।।
गतित्रस दो भेद वाला, अग्नि-वायु भेद से ।
करते गति नहिं स्वेच्छया, गति करे पर हेतु से ।।
स्वेच्छया जो गमन करता, जीव त्रस वह मानना ।
द्वीन्द्रियादि जीव सारे, त्रस में ही जानना ।। ९ ।।

सूत्रम्–

पंचेन्द्रियाणि ।। १५ ।।

द्विविधानि ।। १६ ।।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।। १७ ।।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।। १८ ।।

उपयोगः स्पर्शादिषु ।। १९ ।।

स्पर्शन-रसन-गन्ध-चक्षुः-श्रोत्राणि ।। २० ।।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः ।। २१ ।।

श्रुतमनिन्द्रियम् ।। २२ ।।

✻ हिन्दीपद्यानुवाद–

स्पर्शन - रसन - घ्राण - चक्षु, - श्रोत्रइन्द्रिय पाँचवीं ।
ये सभी फिर द्रव्य-भाव, भेद से ही दो-दो कही ।।
निर्वृत्ति और उपकरणरूप, द्रव्य-इन्द्रिय जानिये ।
लब्धि तथा उपयोग भी, भाव-इन्द्रिय मानिये ।। १० ।।
स्पर्श-रस गन्ध-वर्ण-शब्द पाँचों अर्थ ग्राह्य हैं ।
इन्द्रिय द्वारा उपयोग से, वे विषयरूपे मान्य हैं ।।
मन को अनीन्द्रिय जानिये, विषय जिसका श्रुतज्ञान है ।
मन के सभी ये पुद्गल, सर्वत्र वपु में व्याप्त हैं ।। ११ ।।

सूत्रम्–

वाय्वन्तानामेकम् ।। २३ ।।

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।। २४ ।।

संज्ञिनः समनस्काः ।। २५ ।।

✻ हिन्दीपद्यानुवाद–

पृथ्वी-जल-वन-अग्नि-वायु, पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं ।
शंख - कौड़ा - कृमि आदि, ए भी बेइन्द्रिय जीव हैं ।।
कीड़ी आदि तेइन्द्रिय, भ्रमरादि चउरिन्द्रिय हैं ।
तथा पंचेन्द्रिय मनुष्यादि, मन संयुत वह संज्ञी है ।। १२ ।।

सूत्रम्–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।। २६ ।।

अनुश्रेणि गतिः ।। २७ ।।

अविग्रहा जीवस्य ।। २८ ।।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।। २९ ।।

एकसमयोऽविग्रहः ।। ३० ।।

एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।। ३१ ।।

✻ हिन्दीपद्यानुवाद–

विग्रहगति में योग कार्मण, मात्र एक ही मानिये ।
जीव की गति सरल रेखा, अनुसारे ही जानिये ।।
पर मोक्षगति में गमन करते, जीव की ऋजु ही गति ।
वक्र-ऋजुगति है संसारी, जीव की सूत्र सम्मति ।। १३ ।।

विग्रहगति में अन्ततः, तीन वक्र होते जीव के ।
समय मात्र सरल गति से, जीव दूसरा भव ग्रहे ।।
विग्रहगति में एक या दो, समय अणाहारी दशा ।
पर सरलगति से जीव पाता, नैव अणाहारी दशा ।। १४ ।।

सूत्रम्–

सम्मूर्छन-गर्भोपपाता जन्म ।। ३२ ।।

सचित्त-शीत-संवृताः-सेतरा मिश्राश्चैकशः तद्योनयः ।। ३३ ।।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ।। ३४ ।।

नारक–देवानामुपपातः ।। ३५ ।।

शेषाणां संमूर्छनम् ।। ३६ ।।

✱ हिन्दीपद्यानुवाद–

संमूर्छिम गर्भोपपात, इम तीन रीति है जन्म की ।
जन्म लेता जीव जिससे, योनि उद्‌भव है वही ।।
नौ भेद योनि के कहे हैं, सचित्त अचित्त मिश्र है ।
तथा शीत उष्ण मिश्र है, संवृत असंवृत मिश्र है ।। १५ ।।

नौ प्रकार की योनियाँ, यहाँ नाम से कही हैं ।
प्रायः वे सब ही अशुभ, पुद्‌गलों से युक्त मलिन हैं ।।
जरायुज अण्डज पोतज से, जन्म गर्भ से पाते हैं ।
सुर नारकी उपपात से, अन्य संमूर्च्छिम सब है ।। १६ ।।

सूत्रम्–

औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।। ३७ ।।

परं परं सूक्ष्मम् ।। ३८ ।।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।। ३९ ।।

अनन्तगुणे परे ।। ४० ।।

अप्रतिघाते ।। ४१ ।।

अनादिसंबन्धे च ।। ४२ ।।

सर्वस्य ।। ४३ ।।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।। ४४ ।।

निरुपभोगमन्त्यम् ।। ४५ ।।

गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ।। ४६ ।।

वैक्रियमौपपातिकम् ।। ४७ ।।

लब्धिप्रत्ययं च ।। ४८ ।।

शुभं विशुद्धमव्याघातिचाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।। ४९ ।।

✽ हिन्दोपद्यानुवाद–

देह औदारिक और वैक्रिय, आहारक तीसरा कहा ।
जठर में जो रहता तैजस्, आतम साथ कार्मण कहा ।।
उत्तरोत्तर सूक्ष्म पाँचों, तैजस् तक ये तीन हैं ।
प्रदेश से अगणित गुणा, अन्तिम दोय अनन्त हैं ।। १७ ।।
प्रतिघात बिन गमनागमन, सर्वत्र करते दोय ये ।
सम्बन्ध काल अनादि का है, आतम साथ इसीलिए ।।
जीव संसारी सभी दो, शरीर धारे सर्वदा ।
विकल्प से वे चार होते, एक साथ ही एकदा ।। १८ ।।
उपभोग सुख-दुःख का नहीं, कार्मण वपु में सर्वथा ।
उत्पत्ति औदारिक कही, गर्भ और संमूर्छन तथा ।।
उपघात से उत्पन्न होता, देह वैक्रिय लब्धि से ।
शुभ शुद्ध अव्याघाती, तनु चौदह पूर्वी मुनि से ।। १९ ।।

सूत्रम्–

नारक-संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ।। ५० ।।

न देवाः ।। ५१ ।।

✽ हिन्दीपद्यानुवाद–

तनु आकृति से प्रकट होते, लिंग तीन गिने गये ।
पुरुष स्त्री अरु नपुंसक, वेद नाम से माने गये ।।
नपुंसक वेदे जानिये, नारकी संमूर्छिम जीव ।
पुरुष-स्त्री वेद हैं देव को, त्रि वेद युत अन्य जीव ।। २० ।।

सूत्रम्–

औपपातिक-चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।। ५२ ।।

✽ हिन्दीपद्यानुवाद–

संयोग तन के साथ जितना, वह काल आयुष्य है ।
घट जाय तो अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय विलोम है ।।
नारक देव चरमदेही, उत्तम पुरुष जानना ।
असंख्येयवर्षायुष्य वाले, अनपवर्तनीय मानना ।। २१ ।।
तत्त्वार्थ शास्त्राधिगमस्य सूत्रे, जीवात्म तत्त्वाख्य द्वितीय सर्गः ।
पद्यानुवादेऽपि विवेचितोऽया, जायेत पूर्णो प्रतिबोधनाय ।।

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगम सूत्र के द्वितीयाध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद समाप्त ।। 卐

॥ नमो नमः श्रीजैनागमाय ॥

※ श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य जैनागमप्रमाणरूप-आधारस्थानानि ※

卐 द्वितीयोऽध्यायः 卐

(१) मूलसूत्रम्–

औपशमिक - क्षायिकौ - भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ २-१ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) ....भावे पण्णत्ते, तं जहा-ओजतिते उवसमिते खत्तिते खत्तोवसमित्ते पारिणामित्ते (सन्निवाइए)।

[स्थानाङ्ग-स्थान-६, सूत्र ५३७]

(२) छव्विहे (भावे) पण्णत्ते, तं जहा-उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए परिणामिए (संनिवाइए)।

[अनुयोगद्वार-सूत्र १२६/१]

(२) मूलसूत्रम्–

द्वि-नवा-ऽष्टादशैक-विंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २-२ ॥

[अस्य सूत्रस्य आधारस्थानं अग्रिमसूत्रेषु वर्त्तते।]

(३) मूलसूत्रम्–

सम्यक्त्व-चारित्रे ॥ २-३ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं उवसमिए। दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-उवसमे अ उवसम निप्फणे अ।.... उवसम-निप्फणे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा....उवसमिआ सम्मत्तलद्धी उवसमिआ चरित्तलद्धी।

[अनुयोगद्वार-सूत्र १२६/८ .. ११ पर्यन्ताः]

(२) से किं तं उवसमिए? दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-उवसमे अ उवसम-निप्फण्णे अ। से किं तं उवसमे? मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं, से तं उवसमे। से किं तं उवसम निप्फण्णे? अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-उवसंतकोहे जाव उवसंतलोभे उवसंतपेज्जे उवसंतदोसे उवसंतदंसणमोहणिज्जे उवसंत मोहणिज्जे उवसमिआ सम्मत्त-

लद्धी उवसमिआचरितलद्धी उवसंतकसायछउमत्थवियरागे, से तं उवसमनिप्फण्णे ।
से तं उवसमिए । [अनु. षट्भावाधिकार.]

(४) मूलसूत्रम्–

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च ।। २-४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

से किं तं खइए ? दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-खइए अ खयनिप्फण्णे अ । से
किं तं खइए ? अट्ठण्हं कम्मपयडीणं खएणं, से तं खइए । से किं तं खयनिप्फण्णे ?
अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-खीण....णाणावरणे....खीणदंसणावरणे....खीणदाणंतराए
खोणलाभंतराए खोणभोगंतराए खीण उपभोगंतराए खीण विरियंतराए....खीण दंसण-
मोहणिज्जे खीणचरित्त मोहणिज्जे....।

[अनुयोग. सूत्र-१२६/१२....१५ पर्यन्ताः]

(५) मूलसूत्रम्–

ज्ञाना-ज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमा-
संयमाश्च ।। २-५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं खओवसमिए ? दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-खओवसमिए य
खओवसमनिप्फण्णे य । खओवसमनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते....खओवसमिया
मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिया मइअणाणलद्धी-सुअअण्णाणलद्धीविभंगणाणलद्धी,
खओवसमिया चक्खु दंसणलद्धी अचक्खु दंसणलद्धी ओहिदंसणलद्धी ...खओवसमिया
दाणलद्धी एवं लाभलद्धी भोगलद्धी उपभोगलद्धी वीरिअलद्धी....सम्मद्दंसणलद्धी....
खओवसमिआ सामाइअ चरित्तलद्धी....चरित्ताचरित्तलद्धी ।

[अनुयोग. सूत्र-१२६/१०....१३ पर्यन्ताः]

(२) से किं तं खओवसमिए ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-खओवसमिए य
खओवसमनिष्फण्णे य । से किं तं खओवसमं ? चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमेणं,
तं जहा-णाणावरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्स मोहणिज्जस्स अंतरायस्स खओवसमेणं,
से तं खओवसमे । से किं तं खओवसमनिप्फण्णे ? अणेगविहे पन्नत्ते । तं जहा-
खओवसमिआ आभिणिबोहिअ-णाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी

खग्रोवसमिग्रा मइग्रण्णाणलद्धा खग्रोवसमिग्रा सुग्र-ग्रण्णाणलद्धी खग्रोवसमिग्रा विभंगणाणलद्धी खग्रोवसमिग्रा चक्खुदंसणलद्धी ग्रचक्खुदंसणलद्धी ग्रोहिदंसणलद्धी एवं सम्मदंसणलद्धी मिच्छादंसणलद्धी सम्ममिच्छादंसणलद्धी खग्रोवसमिग्रा सामाइय-चरित्तलद्धी एवं छेदोवट्ठावण लद्धी परिहारविसुद्धिग्रलद्धी सुहुम संपरायचरित्तलद्धी एवं चरित्ताचरित्तलद्धी खग्रोवसमिग्र दाणलद्धी एवं लाभ. भोग. उवभोगलद्धी खग्रोवसमिग्र वीरिग्रलद्धी एवं पंडियवीरिग्रलद्धी बालवीरिग्रलद्धी बालपंडिग्रवीरियलद्धी खग्रोवसमिग्रा सो इन्दियलद्धी जाव खग्रोवसमिया फासिंदियलद्धी खग्रोवसमिए ग्रायारंगधरे एवं सुग्रगडंधरे ठाणंगधरे समवागधरे विवाहपण्णत्तिधरे नायाधम्मकहा. उवासगदसा. ग्रंतगडदसा. ग्रनुत्तरोववाइग्रदसा. पण्हावागरणधरे विवागसुग्रधरे खग्रोवसमिए दिट्ठिवायधरे खग्रोवसमिए णवपुव्वी खग्रोवसमिए जाव चउद्दसपुव्वी खग्रोवसमिए वायए, सेतं खग्रोवसमिए गणी खग्रोवसमिए वायए, सेतं खग्रोवसमनिप्फण्णे । से तं खग्रोवसमिए ।

[ग्रनु. षट्भावाधिकारः]

(६) मूलसूत्रम्–

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शना-ऽज्ञाना-ऽसंयता-ऽसिद्धत्व-लेश्याश्चतुश्चतु स्त्रयेकैकै-कैक-षड्भेदाः ॥ २-६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं उदइए ? दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-उदइए ग्र उदयनिप्फण्णे ग्र । से किं तं उदइए ? ग्रट्ठण्णं कम्मपयडीणं उदएणं, से तं उदइए । से किं तं उदयनिप्फन्ने ? दुविहे पणत्ते । तं जहा-जीवोदयनिप्फन्ने ग्र ग्रजीवोदयनिप्फन्ने ग्र । से किं तं जीवोदयनिप्फन्ने ? ग्रणेगविहे पन्नत्ते । तं जहा-णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्सेदेवे, पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई जाव लोहकसाई, इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए, कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठी ग्रविरए ग्रसण्णी ग्रण्णाणी ग्राहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे ग्रसिद्धे, से तं जीवोदयनिप्फन्ने । से किं तं ग्रजीवोदयनिप्फन्ने ? ग्रणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-उरालिग्रं वा सरीरं उरालिग्र-सरीरपग्रोगपरिणामिग्रं वा दव्वं, एवं ग्राहारगं सरीरं तेग्रगं सरीरं कम्मग सरीरं च भाणिग्रव्वं, पग्रोगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे, से तं ग्रजीवोदयनिप्फण्णे । सेतं उदयनिप्फण्णे, से तं उदइए ।

[ग्रनु. षट्भावाधिकारः]

(२) से किं तं उदइए। दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–उदइए अ उदयनिप्फण्णे अ।....से किं तं उदय निप्फण्णे, उदय निप्फण्णे दुविहे-जीवोदय....अजीवोदय। से किं तं जीवोदय निप्फण्णे-अणेगविहे पन्नत्ते, तं जहा णेरइए तिरिक्ख जोणिए मणुस्से देवे,....कोहकसाई जाव-लोहकसाई, इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए, कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठो, अविरए, असण्णी, अण्णाणी, छउमत्थे, सजोगी संसारत्थे, असिद्धे।....

[अनुयोग. सूत्र-१२६/२.. ७ पर्यन्ताः]

(७) मूलसूत्रम्–

जीव-भव्या-भव्यत्वादीनि च।। २-७।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) से किं तं पारिणामिए। दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-साइपारिणामिए अ अणाइपारिणामिए अ। से किं तं अणाइ पारिणामिए।....जीवत्थिकाए.... भवसिद्धिआ अभवसिद्धिआ, से तं अणाइपारिणामिए।

[अनुयोग. सूत्र १२६/२०....२३ पर्यन्ताः]

(२) से किं तं पारिणामिए? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-साइपारिणामिए अ अणाइपारिणामिए अ। से किं तं साइपारिणामिए? अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा–

जुएणसुरा जुएणगुलो, जुएणतंदुला चेव।
अब्भा य अब्भरुक्खा, संझा गंधव्वणगरा य।। २४।।

उक्कावाया दिसादाहा गज्जियं विज्जूणिग्घाया जूवया जक्खादित्ता धूमिआ महिआ रयुग्घाया चंदोवरागा सूरोवरागा चंदपरिवेसा सूरपरिवेसा पडिचंदा पडिसूरा इन्दधणू उदगमच्छाकविहसिया अमोहावासा वासधरा गामा णगरा घरा पव्वता पायाला भवणा निरया रयणप्पहा सक्करप्पहा वालुअप्पहा पंकप्पहा धूमप्पहा तमप्पहा तमतमप्पहा सोहम्मे जाव अच्चुए गेवेज्जे अणुत्तरे ईसिप्पभाए परमाणुपोग्गले दुपएसिए जाव अणंतपयेसिए, से तं साहिपरिणामिए। से किं तं अणाइपरिणामिए? धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमये लोए अलोए भवसिद्धिआ अभवसिद्धिआ, से तं अणाइ परिणामिए। से तं परिणामिए।

[अनु. षट्भावाधिकार.]

(८) मूलसूत्रम्–

उपयोगो लक्षणम् ।। २-८ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) **उवओगलक्खण जीवे ।**

[भग. श. २ उ. १० सू. १२०/२]

(२) **जीवो उवओगलक्खणो ।**

[उत्तरा. अ. २८ गाथा-१०]

(९) सूत्रम्–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।। २-९ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) **कतिविहे णं भंते ? उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तं जहा–सागारोवओगे, अणागारोवओगेय ।। १ ।। सागारोवओगे णं भंते ? कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । अणागारोवओगेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउविहे पण्णत्ते ।**

[प्रज्ञा. सूत्र पद-२९/१-२-३]

(१०) सूत्रम्–

संसारिणो मुक्ताश्च ।। २-१० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) **दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा–सिद्धा चेव असिद्धा चेव ।**

[स्था. स्थान-२ उ. ४ सू. १०१/२]

(२) **संसारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव ।**

[स्था. स्थान-२ उ. १ सू. ५७/८]

(११) सूत्रम्–

समनस्काऽमनस्काः ।। २-११ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा–सन्नी चेव असन्नी चेव । एवं पंचेंदिया सव्वे विगलिंदिय वज्जा जाव वाणमंतरा वेमाणिया ।

[स्था. स्थान-२ उ. १ सूत्र ७९/९]

(१२) सूत्रम्—
संसारिणस्त्रस-स्थावराः ।। २-१२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—
(१) संसारसमावन्नगा तसे चेव थावरा चेव । [स्था. स्थान-२, उ. १ सू. ५७/१]

(२) दुविहा संसार - समावण्णगा जीवा पन्नत्ता....तं जहा-तसा चेव थावरा चेव । [जीवा. प्र. १ सू. ९]

(१३) सूत्रम्—
पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।। २-१३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—
से किं तं थावरा । थावरा तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइया । [जीवा. प्र. १ सू. १०]

(१४) सूत्रम्—
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।। २-१४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—
से किं तं तसा । तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-तेउक्काइया वाउक्काइया ओराला ।....से किं ओराला तसा पाणा । चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया । [जीवा. प्र. १ सू. २२ एवं २७]

(१५) सूत्रम्—
पञ्चेन्द्रियाणि ।। २-१५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—
कति णं भंते इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचेंदिया पण्णत्ता । [प्रज्ञा. १५ उ. सू. १९१/३]

(१६) सूत्रम्—
द्विविधानि ।। २-१६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

कइविहा णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ! गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-दव्विंदिया य भाविंदियाय ।

[प्रज्ञा. प. १५ उ. सू. २०१/१]

(१७) सूत्रम्–

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।। २-१७ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) कइविहे णं भंते ! इन्दिय-णिवत्तणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इन्दिय णिवत्तणा पण्णत्ता ।

(२) कइविहे णं भंते ! इंदिय उवचये पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदिय उवचए पण्णत्ते ।

[प्रज्ञा. प. १५ उ. २ सू. १९९/३]

(१८) सूत्रम्–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।। २-१८ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) कतिविहाणं भंते ! इन्दियलद्धी पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इन्दियलद्धीपण्णत्ता ।

(२) कतिविहाणं भंते ! इन्दिय उवओगद्धा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इन्दिय उवओगद्धा पण्णत्ता ।

[प्रज्ञा. प. १५ उ. २ सू. १९९/४]

(१९) सूत्रम्–

उपयोगः स्पर्शादिषु ।। २-१९ ।।

(२०) सूत्रम्–

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ।। २-२० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

सोइन्दिए चक्खिदिए घाणिंदिए जिब्भिदिए फासिंदिए ।

[प्रज्ञा. १५ उ. १ सू. २/१]

(२१) सूत्रम्—

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः ।। २-२१ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

पंच इन्दियत्था पण्णत्ता, तं जहा-सोइन्दियत्थे जाव फासिंदियत्थे ।
[स्था. स्थान-५ उ. ३ सू. ४४३/१]

(२२) सूत्रम्—

श्रुतमनिन्द्रियम् ।। २-२२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

सुणेइत्ति सुग्रं । [नन्दि. सू १५/३]

(२३) सूत्रम्—

वाय्वन्तानामेकम् ।। २-२३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

एगिंदिय संसारसमावण्ण जोव पण्णवणा पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवी-काइया ग्राउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया ।
[प्रज्ञा. प. १ सू. १०]

(२४) सूत्रम्—

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।। २-२४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

किमिया....पिपीलिया....भमरा....मणुस्स....इत्यादि ।
[प्रज्ञा. प. १ सूत्र २७/१....सू....२८/१....सू. २६/१....सू. ३०]

(२५) सूत्रम्—

संज्ञिनः समनस्काः ।। २-२५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) जस्स णं ग्रत्थि ईहा ग्रवोहो मग्गणा गवेसगा चिंता वीमंसा से णं सण्णीत्ति लब्भइ ।
[नंदि. सू. २५/२]

(२) जस्स णं अत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसगा चिंता वीमंसा से णं असन्नीति लब्भइ।

[नन्दिसूत्र-४०]

(२६) सूत्रम्–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २-२६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

कम्मासरीरकायप्पओगे।

[प्रज्ञा. प. १६ सू. २०३/१]

(२७) सूत्रम्–

अनुश्रेणि गतिः ॥ २-२७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) परमाणु पोग्गलाणं....गोयमा ! अणुसेढीं गती पवत्तती नो विसेढीं गती पवतत्ती....नेरइयाणं....गोयमा ! अणुसेढीं गती पवत्तती।

[भग. श. २५ उ. ३. सू. ७३०]

(२) परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं अणुसेढीं गती पवत्तति विसेढिंगती पवत्तति ? गोयमा ! अणुसेढीं गती पवत्तति नो विसेढि गती पवत्तति ? दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं अणुसेढीं गती पवत्तति विसेढीं गती पवत्तति विसेढीं गती पवत्तति एवं चेव, एवं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं। नेरइयाणं भंते ! किं अणुसेढीं गती पवत्तति एवं विसेढीं गती पवत्तति एवं चेव, एवं जाव वेमाणियाणं।

[व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक २५ उ. ३ सू. ७३०]

(२८) सूत्रम्–

अविग्रहा जीवस्य ॥ २-२८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

उज्जु सेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कंसमएणं अविग्गहेणं गंता सागरोव उत्ते सिज्झिहिइ।

[औप. सिद्धाधिकारे सू. ४३/१]

(२९) सूत्रम्–

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २-२९ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) णेरइयाणं उक्कोसेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति एगिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं । [स्था. ३ उ. ४ सू. २२५]

(२) कइसमएण्णं विग्गहेणं उववज्जंति । गोयमा ! एगसमइएण वा दिसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमएण वा विग्गहेणं उववज्जन्ति । [भग. श. ३४ उ. १ सू. ८५१]

(३०) सूत्रम्–

एकसमयोऽविग्रहः ।। २-३० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

एगसमइयो विग्गहो नत्थि । [भग. श. ३४ सू. ८५१/२२]

(३१) सूत्रम्–

एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।। २-३१ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) अणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–छउमत्थ अणाहारए, केवली अणाहारए....गोयमा । अजहण्णमनुकोसेणं तिण्णि समया । [प्रज्ञा. प. १८ द्वा. १४ सू. २४५/४ एवं ६]

(२) जीवे णं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमे समए सिय आहारए सिय अणाहारए सिय अणाहारए बितए समए सिय आहारए सिय अणाहारए ततिए समए सिय आहारए सिय अणाहारए चउत्थे समए नियमा अहारए एवं दंडओ, जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समए सेसा ततिए समये । [व्याख्याप्रज्ञप्ति श. ७ उ. १ सूत्र २६०]

(३२) सूत्रम्–

संमूर्छन-गर्भोपपाता जन्म ।। २-३२ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) गब्भवक्कन्तिया । [उत्त. अ. ३६ गा. १७१ एवं प्रज्ञा. ५.६ सू. १५१/६]

(२) अंडया पोतया जराउया....समुच्छिया....उववाइया ।

[दश. अ. ४ सू. १]

(३) से बेमि संति मे तसापाणा । तं जहा-अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया एस संसारेत्ति पवुच्चई ।

[आचाराङ्ग सू. अ. १ उ. ६ सू. ४८]

(३३) सूत्रम्–

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशः तद्योनयः ।। २-३३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

कइविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा–सीया जोणी, उसिणा जोणी, सीओसिणा जोणी । तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा–सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी, तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा–संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी ।

[प्रज्ञा. प. ६ सू. १४६ एवं १५१/१ एवं १५१/२]

[स्था. ३ सू. १४०/१ एवं ३ एवं ५]

(३४) सूत्रम्–

जरायवण्डपोतजानां गर्भः ।। २-३४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) अंडया पोतया जराउया ।

[दश. अ. ४/१]

(२) गब्भवक्कंतियाय ।

[प्रज्ञा. प. १ सू. ३७/१]

(३५) सूत्रम्–

नारक-देवानामुपपातः ।। २-३५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

दोण्हं उववाए पण्णत्ते, देवाणं चेव नेरइयाणं चेव ।

[स्था. स्थान २ उ. ३ सू. ८५/१]

(३६) सूत्रम्–

शेषाणां सम्मूर्छनम् ।। २-३६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

संमूच्छिमाय........।

[प्रज्ञा. प. १ सू. ३३/६ एवं ३६/६]
[सूत्रकृताङ्ग श्रुत. २, अ. ३]

(३७) सूत्रम्—

औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।। २-३७ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

कति णं भंते ! सरीरया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा-ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए ।

[प्रज्ञा. प. २१ सू. २]

(३८) सूत्रम्—

परं परं सूक्ष्मम् ।। २-३८ ।।

(३९) सूत्रम्—

प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।। २-३९ ।।

(४०) सूत्रम्—

अनन्तगुणे परे ।। २-४० ।।

❀ तस्याधारस्थानम्—

(३८-३९-४० इति सूत्रत्रयाणां संयुक्तपाठः लिख्यतेऽत्र)

गोयमा ! सव्वत्थो वा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा तेयाकम्मगसरीरा दोवितुल्ला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, पदेसट्ठाए सव्वत्थो वा आहारगसरीरा पदेसट्ठाए वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठाए असंखेज्जगुणा ओरालिय सरीरा, पदेसट्ठाए असंखेज्जगुणा तेयग सरीरा पदेसट्ठाए अणंतगुणा कम्मगसरीरा पदेसट्ठाए अणंतगुणा इत्यादि ।

[प्रज्ञा. प. २१ सू. २७७]

(४१) सूत्रम्—

अप्रतीघाते ।। २-४१ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

अप्पडिहयगई ।

[प्रश्न. अ. १० सू. १०]

(४२) सूत्रम्–

अनादिसम्बन्धे च ।। २-४२ ।।

(४३) सूत्रम्–

सर्वस्य ।। २-४३ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) तेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ? कालओ कालचिरं होइ ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ।

[भग. श. ८ उ. ९ सू. ३५०/५]

(२) कम्मासरीप्पयोगबंधे....अणाइए अपज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ।

[भग. श. ८ उ. ९ सू. ३५१/१८]

(३) तेयगसरीरी दुविहे–अणादीए वा अपज्जवसिए अणादीए वा पज्जवसिए एवं कम्मसरीरीवि इत्यादि ।

[जीवाभिगमसूत्र-सर्वजीवाभिगम प्रतिपत्ति ९ अ. ४ सू. २६४]

(४४) सूत्रम्–

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः ।। २-४४ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं ? गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं, जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि । एवं कम्मसरीरे वि ।

जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं, जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं ? गोयमा ! जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि, जस्स पुण आहारगशरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं णत्थि। तेयाकम्माइं जहा ओरालिएणं सम्मं तहेव, आहारगसरीरेण वि सम्मं तेयाकम्माइं तहेव उच्चारियव्वा। जस्स णं भंते ! तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमा अत्थि। [प्रज्ञा. प. २१ सू. २७६/४....]

(४५) सूत्रम्–

निरुपभोगमन्त्यम् ।। २-४५ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) विग्गहगइ समावन्नगाणं नेरइयाणं दो सरीरा पण्णत्ता; तं जहा-तेयए चेव कम्मए चेव। निरंतर जाव वेमाणियाणं। [स्था. स्थानउद्दे. १ सू. ७५]

(२) जीवे णं भंते गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ असरीरी वक्कमइ ? गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ सिय असरीरी वक्कमइ। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! ओरालिय वेउव्विय आहारयाई पडुच्च असरीरी वक्कमइ। तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ। [भग. श. १ उ. ७ सू. ६१/२]

(४६) सूत्रम्–

गर्भ-सम्मूर्छनजमाद्यम् ।। २-४६ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

उरालिअ सरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-समुच्छिम....गब्भ वक्कंतिय। [प्रज्ञा. प. २१ सू. २६७/२१]

(४७) सूत्रम्–

वैक्रियमौपपातिकम् ।। २-४७ ।।

❀ तस्याधारस्थानम्–

णेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-अब्भंतरगे चेव बाहिरगे चेव, अब्भंतरए कम्मए बाहिरए विउव्विए, एवं देवाणं। [स्था. स्थान २, उद्दे. १ सू. ७५]

(४८) सूत्रम्–

लब्धिप्रत्ययञ्च ॥ २-४८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

वेउव्वियलद्धिए ।

[औप. सू. ४०/३]

(४९) सूत्रम्–

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥ २-४९ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

आहारग सरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते... पमत्त संजय सम्मदिट्ठि....समचउरंस संठाण संठिए पण्णत्ते ।

[प्रज्ञा. प. २१ सू. २७३/१ एवं ९ एवं ११]

[सम. प्रकीर्णक समवाय १६४-१६५-१६६ शरीरपद]

(५०) सूत्रम्–

नारक सम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ २-५० ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

तिविहा नपुंसगा पण्णत्ता, तं जहा-णेरतिय नपुंसगा, तिरिक्खजोणियनपुंसगा मणुस्स जोणिय नपुंसगा ।

[स्था. स्थान ३ उ. १ सू. १३०/७]

(५१) सूत्रम्–

न देवाः ॥ २-५१ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

असुरकुमारा....इत्थीवेया पुरिसवेया णोनपुंसकवेया....जहा असुरकुमारा तहा वाणमंतरा जोइसिय वेमाणियावि ।

[सम. वेदाधिकारे सू. १५६/३ एवं ४]

(५२) सूत्रम्–

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ २-५२ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्–

(१) दो अहाउयं पालेंति देवाण चेव णेरइयाणं चेव ।

[स्था. २ उ. ३ सू. ८५/२३]

(२) देवा नेरइयाविय असंखवासाउया य तिरमणुआ ।
उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवकमा ॥

[स्था. २ उ. ३ सू. ८५/२३]

॥ इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य द्वितीयाध्याये संगृहीते जैनागमप्रमाणरूप-आधारस्थानानि समाप्तम् ॥



परिशिष्ट—२

द्वितीयाध्यायस्य
❋ सूत्रानुक्रमणिका ❋

।। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य द्वितीयाऽध्याये सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ।।

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रे
श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरयोः सूत्रपाठ-भेदः
卐 द्वितीयोऽध्यायः 卐

❀ श्रीश्वेताम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❀		❀ श्रीदिगम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❀	
卐 सूत्राणि 卐		卐 सूत्राणि 卐	
सूत्र सं.		सूत्र सं.	
५.	ज्ञानाज्ञानादर्शनादिलब्धयश्चतुस्त्रि-त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमा-संयमश्च ।	५.	ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धय - श्चतुस्त्रित्रि-पञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमा-संयमाश्च ।
६.	गतिकषायलिङ्ग-मिथ्यादर्शनाऽज्ञाना-ऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्रये-कैकैकैकषड्भेदाः ।	६.	गतिकषायलिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञाना - संयतासिद्ध - लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्ये - कैकैकैकषड्भेदाः ।
७.	जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ।	७.	जीवभव्याभव्यत्वानि च ।
१३.	पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।	१३.	पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ।
१४.	तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।	१४.	द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।
१९.	उपयोगः स्पर्शादिषु ।		❀ [अत्र सूत्रं नास्ति]
२१.	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ।	२०.	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ।
२३.	वाय्वन्तानामेकम् ।	२२.	वनस्पत्यन्तानामेकम् ।
३०.	एकसमयोऽविग्रहः ।	२९.	एकसमयाऽविग्रहा ।
३१.	एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।	३०.	एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।
३२.	सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म ।	३१.	सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ।
३४.	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ।	३३.	जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।
३५.	नारकदेवानामुपपातः ।	३४.	देवनारकाणामुपपादः ।
३७.	औदारिकवैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।	३६.	औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारक - तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।

❀ श्रीश्वेताम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❀

卐 **सूत्राणि** 卐

सूत्र सं.

४१. अप्रतिघाते ।

४४. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ।

४७. वैक्रियमौपपातिकम् ।

❀ अत्र सूत्रं नास्ति ।

४९. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।

❀ अत्र सूत्रं नास्ति ।

५२. औपपातिक - चरमदेहोत्तम - पुरुषाऽसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।

❀ श्रीदिगम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❀

卐 **सूत्राणि** 卐

सूत्र सं.

४०. अप्रतिघाते ।

४३. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽ-चतुर्भ्यः ।

४६. औपपादिकं वैक्रियिकम् ।

४८. तैजसमपि ।

४९. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।

५२. शेषास्त्रिवेदाः ।

५३. औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसङ्ख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।



पुरुषादानीय-महाप्रभाविक श्रीपार्श्वनाथजिनेश्वरस्य अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्

कर्त्ता—शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण-**पूज्याचार्य श्रीमद् विजय सुशीलसूरिः ।**

(अनुष्टुब् छन्दः)

श्री - शंखेश्वरपार्श्वेशं१, जिनेश्वरं स्मराम्यहम् ।
ख्यातं **जीराउलापार्श्वं२,** सदा भक्त्या भजाम्यहम् ॥१॥

जिनेशं स्तम्भनं३ पार्श्वं, ध्यायामि हृदये सदा ।
अवन्तीं४ पार्श्वनाथञ्च, वन्देऽहं सर्वदा मुदा ॥२॥

प्रभुं पंचासरापार्श्वं५, प्रतिदिनं प्रणौम्यहम् ।
भटेवा६ पार्श्वनाथञ्च, भक्त्या नित्यं भजाम्यहम् ॥३॥

भीडभंजन७ - पार्श्वेशं, स्तौमि श्री - दुःखभंजकम् ।
भेरवा८-भांयरा-१०-भाभान्११, पार्श्वनाथान् सदा स्तुमः ॥४॥

भीलडीयाभिधं१२ पार्श्वं, प्रणौमि भक्तिभावतः ।
स्तौमि चिन्तामणिं पार्श्वं१३, तथा विजयचिन्तामणिम् ॥५॥

सोमचिन्तामणिं पार्श्वं१५, जिनेश्वरं प्रणौम्यहम् ।
अन्तरीक्षं१६ प्रभुं पार्श्वं, परोकोलं१७ च नौम्यहम् ॥६॥

श्रीनासीरोडिया१८ पार्श्वं, कापलीं१९ च प्रणौम्यहम् ।
नाकोडा २० पार्श्वनाथं वै, नगीनाञ्च २१ नमाम्यहम् ॥७॥

श्रीक्षिप्रार्श्वनाथं२२ वै, प्रणौमि पोसीनां २३ प्रभुम् ।
तथा प्रसमिया पार्श्वं २४, सुभक्त्या प्रणमाम्यहम् ॥८॥

सुरजमण्डनं २५ पार्श्वं, स्तौमि श्रीजगवल्लभम् २६ ।
नौमि नागेन्द्रनाथं २७ च, पार्श्वं श्रीनवपल्लवम्२८ ॥९॥

सेरीसा पार्श्वनाथं २९ वै, स्तौमि सुरसराभिधम् ३० ।
स्वयम्भूपार्श्वनाथं ३१ च, वन्देऽहं सुखसागरम् ३२ ॥१०॥

फलवृद्धि-३३ फलोधिं वै, पार्श्वनाथं प्रणौम्यहम् ।
तथा कापरडापार्श्वं ३४, स्तुवेऽहं चवलेश्वरम् ३५ ॥११॥

करेडा - पार्श्वनाथं ३६ वै, वन्दे श्रीकुर्कटेश्वरम् ३७ ।
कलीकुण्डं ३८ प्रभु पार्श्वं, कुलपाकं ३९ च नौम्यहम् ॥१२॥

मनमोहन ४० पार्श्वेशं, श्री-मनरञ्जनं ४१ स्तुवे ।
तथा महेमदावादीं ४२, पार्श्वनाथं सदा स्तुवे ॥१३॥

शंखलपार्श्वनाथं ४३ वै, मक्षीपार्श्वं ४४ स्मराम्यहम् ।
अलवराख्य - पार्श्वेशं ४५, स्तुवे हलधराभिधम् ४६ ॥१४॥

श्रीअलौकिक - पार्श्वेशं ४७, स्तुवे कोकां ४८ जिनेश्वरम् ।
अहिछत्राभिधं ४९ पार्श्वं, नौमि केसरियां ५० जिनम् ॥१५॥

श्री - महादेव - पार्श्वेशं ५१, नौमि श्रीनवलां ५२ जिनम् ।
तथा श्रीमहुरीयाख्यं ५३, पार्श्वनाथं प्रणौम्यहम् ॥१६॥

श्री - घोघापार्श्वनाथं ५४ वै, श्रीधींगडमलं ५५ स्तुवे ।
तथा घृतकलोलञ्च ५६, स्तुवेऽहं तीवरीं ५७ जिनम् ॥१७॥

स्तौमि आसगुला-पार्श्वं ५८, श्री - गुणगरिसाभिधम् ५९ ।
वन्देऽहं बम्भणां ६० पार्श्वं, तथा श्रीलोढणं ६१ जिनम् ॥१८॥

श्रीगौडीपार्श्वनाथं ६२ वै, गेबीपार्श्वं ६३ प्रणौम्यहम् ।
स्तुवे सकबलेचां ६४, श्री-मगसीयां ६५ स्मराम्यहम् ॥१९॥

श्री - सहस्रफणा - पार्श्वं ६६, तारसल्लाभिधं ६७ स्तुवे ।
पार्श्वं तरणताराख्यं ६८, स्तुवेऽहं दोलतीं ६९ जिनम् ॥२०॥

वन्देऽहं गाडरीयाख्यं ७०, दादापार्श्वं ७१ जिनेश्वरम् ।
तथा गोटींगजीपार्श्वं ७२, साचापार्श्वं ७३ स्मराम्यहम् ।।२१।।

श्री - हमीरपुरापार्श्वं ७४, स्तुवे श्रीलोद्रवां ७५ प्रभुम् ।
कंसारीयाभिधं ७६ स्तौमि, कालीपार्श्वं ७७ प्रणौम्यहम् ।।२२।।

उनावलाभिधं पार्श्वं ७८, स्तुवे श्रीकंकणं ७९ जिनम् ।
नौमि कल्याणपार्श्वेशं ८०, वन्दे श्रीजयवर्द्धनम् ८१ ।।२३।।

माणिक - पार्श्वनाथं, श्री-कुणगेरं ८३ प्रणौम्यहम् ।
वरकाणाभिधं ८४ पार्श्वं, नौमि नवलखां ८५ जिनम् ।।२४।।

नमामि नवसारीं ८६ वै, चोरवाडीं ८७ जिनं तथा ।
स्मरामि जोरयाडीं ८८वै, पार्श्वेशं खीबड़ीं ८९ पुनः ।।२५।।

शामला पार्श्वनाथं ९० वै, स्तौमि श्रीसोरठां ९१ जिनम् ।
तथा श्री-चंचुपार्श्वेशं ९२, नौमि चल्लाभिधं ९३ जिनम् ।।२६।।

वन्दे गांगाणियापार्श्वं ९४, डोकरियाभिधं ९५ जिनम् ।
दुधीयां ९६ रावणां ९७ पार्श्वं, नारिंगश्च ९८ नमाम्यहम् ।।२७।।

नौमि उद्दामणीं ९९ पार्श्वं, प्रणौमि टांकलां १०० जिनम् ।
अजाहराभिधं १०१ पार्श्वं, भजेऽहं भक्ति - भावतः ।।२८।।

अमीझराख्य १०२ पार्श्वेशं, स्तुवेऽहं मुंजपं १०३ जिनम् ।
अरजीयाभिधं १०४ पार्श्वं, वन्देऽहं सर्वदा पुनः ।।२९।।

पार्श्वं नागेश्वरं १०५ देवं, वन्देऽहं विज्जुलं १०६ तथा ।
स्तौमि श्रीमगशीयाख्यं १०७, पार्श्वं कलीयुगां १०८ प्रभुम् ।।३०।।



卐 प्रशस्तिः 卐

श्री - विक्रमे वरे वर्षे, ऋषिवेदनभाक्षिके ।
माघे शुक्ले सुपञ्चम्यां, तिथौ च सोमवासरे ॥३१॥

प्रख्याते भारते देशे, राजस्थाने हि प्रान्तके ।
मरुधरे प्रदेशे वै, करमावासके पुरे ॥३२॥

रम्ये शिखरसंयुक्ते, श्रीपार्श्वजिनमन्दिरे ।
श्रीअञ्जनशलाकायाः, प्रतिष्ठायाः महोत्सवे ॥३३॥

पूज्यानां गुरुदेवानां, सूरीशानां महीतले ।
नेमि - लावण्य - दक्षानां, सुशीलसूरिणा मया ॥३४॥

श्रीरतनचन्द्रपुत्रस्य, करमावासवासिनः ।
मुमुक्षुश्रीजयेशस्य, प्रेरणायाः सुभक्तितः ॥३५॥

पार्श्वनाथजिनेन्द्रस्या,-ऽष्टोत्तरशतनामकम् ।
स्तोत्रमिदं कृतं भक्ति-रूपं मङ्गलकारकम् ॥३६॥

नित्यं पठति यः कश्चित्, सः शान्तिसुखमाप्नुते ।
प्रसीदती परां भक्ति, लभते मोदते भुवि ॥३७॥



卐 तीर्थाधिपतिश्रीनाकोड़ापार्श्वनाथाय नमः 卐

卐 अधिष्ठायकश्रीभैरवदेवाय नमः 卐

जिनशासनसम्राट् **परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय-नेमि-लावण्य-दक्ष सूरीश्वरजी महाराज साहब** के यशस्वी पट्टधर शास्त्रविशारद, साहित्य-रत्न, कविभूषण, जैनधर्मदिवाकर, मरुधरदेशोद्धारक, तीर्थप्रभावक, राजस्थानदीपक, शासनरत्न

परम पूज्य आचार्य भगवन्त

श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब

के संवत् २०५० के नाकोड़ा तीर्थ पर पावन चातुर्मास काल में

७७ वें जन्मदिवस के अवसर पर

❋ सादर अभिनन्दन व अलंकरण-समर्पण ❋

गुर्जर प्रदेश से मरुधरा को धर्मआभा से आलोकित करने वाले रत्नदीप !

गुजरात के भटेवा पार्श्वनाथ जिनप्रासाद युक्त **चाणस्मां** नगरी में **श्री चतुर भाई व चंचल बहन** के पावन प्रांगण में **गोदड़ भाई** नामक एक पद्मबीज अंकुरित हुआ, जो विकसित होकर जिनशासन को अपनी सौरभ से समस्त राष्ट्र में सुरभित करने लगा। सम्यक्चारित्र का पर्याय सुशील, पृथ्वी के समान क्षमाशील, चन्द्र के समान सौम्य, आकाश के समान दिव्य नक्षत्रों से अलंकृत हो संयम-पालन में वज्रसम दृढ़ जिनशासन-स्तम्भ बन सरस्वती-पुत्र व प्राणिमित्र के रूप में सुशोभित हुआ। मात्र पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में वैराग्य-दीप से आलोकित महात्मा हम आपका सादर वन्दन करते हैं।

साहित्य-साधना में सरस्वती के अनन्य उपासक गुरुदेव !

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी व गुजराती पर समान अधिकार रखते हुए आपकी लेखनी जैनदर्शन, संस्कृत के व्याकरण, काव्य, छन्द, षट्दर्शन जैसे गूढ़ विषयों की गद्य, पद्य, टीका व वृत्ति इत्यादि में अवतरित हुई। आपने हिन्दी व गुजराती के महान् स्तोत्रों को सामान्य व्यक्तियों के उपयोगार्थ

पद्यानुवाद व सरलार्थ में प्रस्तुत किया। जैनदर्शन के गूढ़ विषयों को जन-कल्याणार्थ हिन्दी व गुजराती में प्रस्तुत किया। सैकड़ों ग्रन्थों की रचना व सम्पादन आपकी साहित्य-साधना की अमूल्य देन है। उसी मणिमाला के एक मनके **"तत्त्वार्थ सूत्र"** ग्रन्थ का इस तीर्थस्थल पर विमोचन करवा कर आपने हमें अनुगृहीत किया है। ज्ञानगंगा के भगीरथ ! हम आपके उपकार से उपकृत हुए आपका भाव भरा अभिवादन करते हैं।

चतुर्विध संघ के आदर्श नायक !

भगवान महावीर की जिनशासन-परम्परा का चतुर्विध संघ जाग्रत तीर्थस्वरूप है और उसमें स्वधर्मी स्नेह व भक्ति की वृद्धि–धर्मभावना की उत्तरोत्तर वृद्धि व समृद्धि की द्योतक है। इसी पावन उद्देश्य की पूर्ति में अशान्ति, कलह, वैमनस्य का निस्तारण संघनायक आचार्यों का मंगलमय कर्त्तव्य है और इस शुभ कार्य में आपके योगदान का अनेक तीर्थों, नगरों व ग्रामों के श्रीसंघ पर ऐसा महान् उपकार है जिससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते। आपकी निश्रा में आयोजित छ'री पालित पैदल-संघों की लम्बी मालिका, उपधान तपों के विशाल आयोजन, धर्मप्रचार का बहुआयामी परिभ्रमण व स्थान-स्थान पर धर्मस्थलों की निर्माण-प्रेरणा आदि कार्य सभी जिनशासन के सांस्कृतिक विस्तार एवं कल्याण का हेतु बने हैं। हे महान् आचार्य ! हम आपका शत-शत अभिनन्दन करते हुए अपने आपको धन्य अनुभव कर रहे हैं।

महावीर परम्परा के महान् तपोमूर्त्ति !

जैनदर्शन में तप कर्मों की निर्जरा का सर्वोच्च साधन माना गया है। गुरुदेव का सम्पूर्ण जीवन उत्कृष्ट तप-साधना में लीन रहा है। पैंतालीस आगमों के योगोद्वहन, बीस स्थानक तप, नवपदजी की आराधना, वर्द्धमान तप की ओलियों की विशाल आराधना, सिद्धगिरि की तपयुक्त यात्राएँ, सूरिमंत्र की साधना, अनेकानेक स्तोत्रों की आराधना, प्रतिदिन सहस्र श्लोक स्वाध्याय के साथ दैनिक प्रत्याख्यानों व पर्वतिथि की विशेष तपस्याओं की आपकी नियमित आराधना चलती है। आपके तप-प्रभाव, विशुद्ध चारित्र व मंगल प्रवचनों से जिनशासन आलोकित हो रहा है। हे महान् तपसिद्धि-सम्पन्न आचार्यप्रवर ! हम आपको सादर नमन करते हैं।

प्रतिष्ठा-पारंगत युगशिरोमणि !

"जिनपडिमा जिनसारीखी" पूर्वाचार्यों का कथन है कि परम तारक जिनेश्वर भगवन्तों की मूर्ति साक्षात् श्रो जिनेश्वरदेव के सदृश है। वन्दनीय गुरुदेव ! आपकी निश्रा व सान्निध्य में अब तक १११ प्रतिष्ठाओं व अंजन-शलाकाओं के भव्य महोत्सव प्रमुख तीर्थ-स्थलों व नगरों में सम्पन्न होना जिनशासन की अभूतपूर्व सेवा है जिससे श्रीसंघ उपकृत है, आभारी है। वह आज इस **नाकोड़ा तीर्थ** पर चतुर्विध संघ की उपस्थिति में जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ की विश्व की अग्रणी संस्था **श्री आनन्दजी कल्याणजी** के अध्यक्ष **श्रेष्ठिवर्य परमश्रावक श्री श्रेणिक भाई कस्तूर भाई** को उपस्थिति में **श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर के श्रीसंघ** की ओर से **'प्रतिष्ठा शिरोमणि'** के अलंकरण का श्रद्धापुष्प सर्मपित करते हुए अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहा है।

हे परम कृपालु आचार्य भगवन्त ! हमारा यह भावना पुष्प स्वीकार कर हमें अनुगृहीत करावें। आपके ७७ वें जन्म-दिवस पर तीर्थ के ट्रस्ट मंडल की ओर से कोटि-कोटि वन्दन।

ललित कोठारी
(संभागीय आयुक्त, जोधपुर)
अध्यक्ष
गुणानुवाद सभा



पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
व ट्रस्ट मण्डल के सदस्यगण

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर, जिला—बाड़मेर

संवत् २०५० द्वि. भाद्रपद शुक्ला १२, सोमवार दिनाङ्क २७ सितम्बर, १९९३

卐 ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः 卐

।। चउविसंपि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयन्तु ।।

भारत भूषण.... राजस्थान शणगार.... गोडवाड़ गौरव....

श्री अष्टापद जैन तीर्थ

सुशील विहार रानी स्टेशन (राज.)

सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने ढंग का प्रथम प्रयास

अभिनव तीर्थ निर्माण योजना

- श्री अष्टापदजी तीर्थ जिनमन्दिर का नव-निर्माण
- चमत्कारिक अधिष्ठायक देवताओं का रमणीय मन्दिर
- उपकारी गुरुदेवों का सुन्दर गुरु मन्दिर
- जीवन समाधि-आत्म शांतिकारक ध्यान मन्दिर
- साहित्य से समृद्ध भव्य ज्ञान मन्दिर
- आराधना धाम - श्रावक - श्राविका उपाश्रय - प्रवचन हॉल
- यात्रिकगण सुविधा-भक्ति योग्य धर्मशाला-आयम्बिलशाला-भोजनशाला
- जैन पेढ़ी - प्याऊ आदि उपयोगी निर्माण
- भावी योजना - शान्तिधाम - वृद्धाश्रम

❀ संचालक ❀

श्री जैन संघ, रानी

श्री शान्तिनाथ-सुपार्श्वनाथ जी

जैन श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक देवस्थान पेढ़ी

मु. पो. रानी स्टेशन–३०६ ११५ जि. पाली (राज.)

श्री अष्टापद तीर्थ का निर्माण **श्री रानी स्टेशन** पर श्री राणकपुर-गोडवाड़ पंचतीर्थी की मुख्य सड़क पर सुकड़ी नदी के किनारे पर उत्तर दिशा में होने जा रहा है।

श्री वरकाणा रोड पर स्थित इस भूमि की भौगोलिक स्थिति आराधना-साधना योग्य बहुत ही सुन्दर है।

विलुप्त **श्री अष्टापद तीर्थ** को मूर्त्त रूप देने के लिए समस्त भारत के गौरव रूप श्री गोडवाड़ पंचतीर्थी यात्रा के रोड पर यह भव्य निर्माण होने जा रहा है।

शास्त्रों में उपलब्ध वर्णन के आधार पर **२४ तीर्थंकरों** की वर्ण एवं आकार के अनुरूप प्रतिमाएं इस **अभिनव तीर्थ** का मुख्य आकर्षण होगा।

हमें पूर्ण विश्वास है कि आप इस तीर्थ की वन्दना कर जहाँ मंत्र-मुग्ध हो जायेंगे, वहीं **श्री अष्टापद तीर्थ वन्दना** का पुण्य लाभ भी संचित कर पायेंगे।

पुण्यशाली महानुभावों से सादर निवेदन है कि—इस महान् आयोजन में उदार हृदय से तन-मन-धन से सहयोग प्रदान कर पुण्यानुबन्धी पुण्योपार्जन का लाभ अर्जित करें।



श्री नाकोड़ा जी महातीर्थ पर

सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित हिन्दी मासिक पत्र

सुशील - सन्देश

(श्री दीक्षा महोत्सव स्मारिका)

विशेषांक

विमोचन समारोह





श्री युत ललित जी कोठारी (संभागीय आयुक्त, जोधपुर) द्वारा सुशील-सन्देश विशेषांक का विमोचन



परम पूज्य श्री सुशील गुरूदेव श्री को प्रतिष्ठा शिरोमणी अलंकरण युक्त अभिनंदन पत्र समर्पण करते हुए श्री पारसमल जी भंसाली (अध्यक्ष श्री नाकोड़ा तीर्थ)

श्रीसुशील-साहित्य प्रकाशन समिति





- उद्देश्य -

सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार



णमो णाणस्स





